वैदिकविज्ञानसूर्य की चतुर्थ-
किरण

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्य भूमिका

द्वितीयखण्ड

२-'क' विभाग

भाष्यकार:—

वेदवीथीपथिक—

मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाज (गौड)

श्रीवैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशनफण्डकलकत्ताद्वाराप्रकाशित

एवं

श्रीगौरीलाल पाठक द्वारा सम्पादित

मुद्रकः—

श्रीबालचन्द्रइलेक्ट्रिकप्रेस किशनपोलबाज़ार जयपुर, सिटी. (राजपूताना)

प्रथमसंस्करण १०००	वि०सम्वत १९९७	मूल्य सजिल्द ४) डाकव्यय पृथक्

सम्पादकीयवक्तव्य

श्रीः

सम्पादकीय —

प्रिय पाठकगण !

वि० सं० १९९६ के गत कार्त्तिक मास में बहिरङ्गपरीक्षात्मक "गीताविज्ञानभाष्य-भूमिका प्रथमखण्ड" लगभग ५०० पृष्ठों में प्रकाशित हुआ था । उसी भाष्यभूमिका का अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड का "क" विभाग लेकर पुनः हम अपने गीताप्रेमी पाठकों की सेवा में उपस्थित होने जारहे है । गत ५-६ महीनों से श्रीशास्त्रीजी अधिकांश में बाहर रहे, इसीलिए प्रस्तुत खण्ट के प्रकाशन में अधिक विलम्ब हुआ । प्रथमखण्ड की भाति इस खण्ड के प्रकाशन का श्रेय भी "वैदिकविज्ञानप्रकाशनफंड कलकत्ता" को ही है । एतदर्थ कृतज्ञता प्रकाश करना ही पर्य्याप्त है ।

पाठकों को यह जानकर हर्प होगा कि, आगे से प्रकाशनादि कार्य के लिए 'कलकत्ता' ही केन्द्र रहेगा । गत माघ मास में होने वाली कलकत्ते की यात्रा में शास्त्रीजी को वहां के सुप्रसिद्ध जूटव्यवसायी, सर्वश्री माननीय बन्सीधरजी जालान (श्रीसूरजमल नागरमल) महोदय का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है । उसी सहयोग के बल पर निकट भविष्य में ही वहां एक स्वतन्त्र आश्रम भी स्थापित होने जारहा है, जहां कि वर्त्तमान परीक्षाप्रणाली तथा शिक्षाप्रणाली से कोई सम्बन्ध न रखते हुए विशुद्ध प्राच्यप्रणाली से आर्षदृष्टि से वेद तथा वेदाङ्गों के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था रहेगी ।

विश्वविदित, वेदावतार, स्व० श्रीमधुसूदनजी महाराज के चरणों में बैठ कर श्रीशास्त्रीजी ने जिस वेद-विज्ञान का अध्ययन किया है, उसे सर्वसाधारण के लिए उपयोगी बनाने-के लिए शास्त्रीजी ने स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप से हिन्दीभाषा में लिपिबद्ध किया है, और यह हिन्दी-साहित्य अबतक लगभग ५०-सहस्र पृष्ठ तक जा पहुंचा है, यह भी पाठकों-को पूर्वप्रकाशित "परिचयपत्रिका" आदि से विदित ही है ।

इस प्रभूत साहित्य में बम्बई, हैदराबाद, कलकत्ते आदि से प्राप्त आर्थिक सहयोग से अब-

तक लगभग ५ सहस्र पृष्ठ ही प्रकाशित हो पाए हैं । यह भी निर्विवाद है कि, कोई भी मौलिक साहित्य आर्थिकदृष्टि से कभी प्रचार में नहीं आसकता । ऐसे साहित्य के प्रचार का भार तो एकमात्र उदार धनिकों के सात्विक दान पर ही निर्भर है । अपने इसी पवित्र आयोजन को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए, एवं यथासम्भव इसे स्थायीरूप देने के लिए शास्त्रीजी निकटभविष्य में ही कलकत्ते को प्रधान आवास बनाने जारहे हैं । गीता का अगला अंश, एव शेष साहित्य कलकत्ते से ही प्रकाशित होगा, जिसका कि पूरा विवरण यथा समय प्रकाशित कर-दिया जायगा ।

चूकि अब भावी कार्य्य का केन्द्र कलकत्ता रहेगा, ऐसी दशा में प्रेस का यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, आरम्भ से अब तक इसे प्रकाशन कार्य्य में जिन जिन से जो आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, एवं प्राप्त अर्थ का जो उपयोग हुआ है, उस का भी पूरा विवरण प्रकाशित कर दिया जाय । एवं उस के द्वारा प्रेस अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति प्राप्त करले । उसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए– 'स० १९९० से सं० १९९७ तक के आय-व्यय का विवरण" नामक एक स्वतन्त्र ट्रेक्ट शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है । अभी बम्बईकमेटी का थोड़ा काम शेष है । बम्बई कमेटी से जो ६२२१।-) का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ था, उस में से लगभग ३५००) का प्रकाशन हो चुका है । चूंकि इस द्रव्य से कमेटी के तत्वावधान में हीं प्रकाशनोपयोगी सामान खरीदा गया था, इसी लिए प्रकाशन में विलम्ब हुआ । जितने का सामान मिला था, उतनी लागत के ग्रन्थ छाप कर ही बम्बई से प्रेस उऋण होगा । और सम्भवतः इस वर्ष के भीतर भीतर प्रेस ऐसा करने में समर्थ हो जायगा । बम्बई की कमेटी के लिए–"उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका" का प्रकाशन प्रक्रान्त है । आषाढी पूर्णिमा तक इस का ५०० पृष्ठात्मक प्रथमखण्ड सम्पन्न होजायगा । एवं दूसरे खण्ड के प्रकाशन से सम्भवतः बम्बई का हिसाब साफ होजायगा । इधर ५-६ मास से शास्त्रीजी बाहर रहे, इसी लिए बम्बई के कार्य्य में विलम्ब हुआ । आशा है, बम्बई की समिति परिस्थितिवश होने वाले

विलम्ब पर विशेष ध्यान न देगी । बम्बई समिति को यह सूचित करना भी उचित है कि उस के लिए जितना प्रकाशन अपेक्षित है, वह स्थानीय "श्रीबालचन्द्र इ० प्रेस" से ही होगा ।

यह तो हुई प्रासङ्गिक चर्चा । अब प्रकाशन के सम्बन्ध में भी दो अक्षर निवेदन कर दिए जाते है । प्रस्तुत भूमिकाखण्ड मे "आत्मतत्त्व" की मीमांसा हुई है । दार्शनिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मस्वरूप का विचार करते हुए आत्मसम्बन्धी सभी प्रश्नों के समाधान करने की चेष्टा की गई है । शास्त्रीजी के अनुपस्थित रहने से प्रकाशन में भूलें रहजाना जहा स्वाभाविक है, वहा कृपालु पाठको से क्षमा मिलजाना भी स्वाभाविक ही है। अपनी इन्हीं स्वाभाविक भूलों के लिए पाठकों की स्वाभाविक क्षमा की कामना करते हुए सक्षिप्त वक्तव्य समाप्त किया जाता है ।

गङ्गादशमी
वि० स० १९९७
जयपुरराजधानी

विनम्रः—
सम्पादकः—
श्रीगौरीलाल पाठकः

प्रस्तावना

श्रीः

प्रस्तावना।
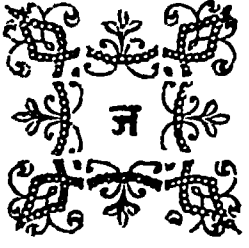
गदीश्वर के अनुग्रह से अन्तरङ्ग परीक्षात्मक 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड का 'क' विभाग गीताप्रेमी पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए इसलिए शान्ति मिल रही है कि अब आगे का प्रकाशन कार्य्य अतिशयरूप से सुव्यवस्थित रहेगा। अबतक जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उन के सम्पादन, कागज, छपाई आदि सभी में हम जैसा चाहिए, वैसा आयोजन नहीं कर सके हैं। अनुभव का अभाव, हिन्दीभाषा के तात्त्विक ज्ञान से अपरिचय, अर्थ की असुविधा से योग्य सहयोगियों का अभाव, एकाकी रहते हुए नवीन ग्रन्थ लिखना, प्रकाशित होने वाले ग्रन्थो की प्रेस कापी तय्यार करना, इत्यादि कई एक कारण हीं प्रकाशनत्रुटि के मुख्य प्रवर्त्तक रहे हैं।

भविष्य के लिए हमें सर्वश्री माननीय बन्सीधरजी जालान [सूरजमल नागरमल, कलकत्ता] का सहयोग प्राप्त हुआ है। यदि ईश्वरानुकम्पा से यह सहयोग स्थाय रहा तो, हम आगे के कार्य्य मे पाठकों को सन्तुष्ट रखने का यथासम्भव पूर्ण प्रयास करेंगे। गत ६ महीनों से यत्रतत्र अनुधावन करते हुए जल्दी में जैसा कुछ बन पड़ा है, प्रकाशित कर दिया गया है। प्रस्तुत भूमिकाखण्ड 'वैदिकविज्ञान प्रकाशन समिति कलकत्ता' की ओर से हुआ है। प्रत्युपकार में सिवाय कृतज्ञता प्रकाश के हमारे पास और क्या बच जाता है, जिसे कि हम सधन्यवाद समिति को अर्पण करें। समिति के सदस्यों के सहयोग का ही यह फल है कि, भविष्य के लिए यह कार्य्य कलकत्ते को ही अपना केन्द्र बनाने जारहा है।

व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया गया। अब प्रस्तुत भूमिकाखण्ड के सम्बन्ध में भी हम दो शब्द कहना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते है। भूमिका प्रथमखण्ड के सम्पादकीय वक्तव्य में यह स्पष्ट किया गया था कि, गीताभूमिका क्रमश: **बहिरङ्गदृष्टि, अन्तरङ्गदृष्टि, सर्वान्तरतमदृष्टि** इस क्रम से तीन खण्डों में प्रकाशित होगी। प्रतिज्ञानुसार बहिरङ्गदृष्टि प्रधान प्रथमखण्ड लगभग ५०० पृष्ठों में प्रकाशित हुआ। आगे के अन्तरङ्गदृष्टि-

प्रधान द्वितीयखण्ड के लिए यह प्रतिज्ञा हुई थी कि, दूसरा खण्ड लगभग ७०० पृष्ठों में प्रकाशित होगा, एवं इस में **आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा कर्म्मयोगपरीक्षा** इन चार प्रधान विषयो का समावेश रहेगा। परन्तु विषय की जटिलता से द्वितीयखण्ड का कलेवर ७०० के स्थान में लगभग १२०० पृष्ठ का होगया। इसी जटिलता से प्रकृत दूसरे खण्ड के क. ख, रूप से क्रमशः ४५०, ६५० पृष्ठो के दो विभाग करने पड़े।

प्रथम क. विभाग में प्रधानरूप से **"आत्मपरीक्षा"** हुई है। दार्शनिक, एवं वैज्ञानिकदृष्टि से आत्मस्वरूप का विशद निरूपण हुआ है। हमारा विश्वास है कि, आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में जैसा स्पष्टीकरण इस ग्रन्थ में हुआ है समष्टिरूप से अन्य किसी एक ही ग्रन्थ में उतना स्पष्टीकरण मिल सकना सम्भव नहीं। हम अपने पाठको से अनुरोध करेंगे कि, वे कृपया एक बार आद्योपान्त "विषयसूची" देखने का कष्ट करे उसी से उन्हे अनुमान हो जायगा कि, हमारे उक्त कथन में कहा तक तथ्य है।

कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले आगे के द्वितीयखण्ड के ख. प्रकाशन में क्रमशः— **ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा ज्ञानयोगपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा** इन तीन विषयों का समावेश रहेगा, और पृष्ठसंख्या होगी लगभग ६५०। इस प्रकार क–ख के क्रमिक दो प्रकाशनों में अन्तरङ्गपरीक्षात्मक दूसरा खण्ड सम्पन्न होगा।

अनन्तर सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड का कार्य्य आरम्भ होगा। इस के सम्बन्ध में भी कुछ स्पष्टीकरण करदेना अनावश्यक न होगा। यद्यपि प्रथमखण्ड की प्रस्तावना में तृतीयखण्ड के केवल ५०० पृष्ठो का ही सङ्केत हुआ था। परन्तु विगतवर्ष में उस के कलेवर में भी पर्याप्त वृद्धि होगई है। इस भूमिका तृतीयखण्ड में क्रमशः **भक्तियोगपरीक्षा बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा** नामक तीन विषयों का समावेश रहेगा। पहिले तीनों के सम्मिलित कुल ५०० पृष्ठ थे। परन्तु परिवर्द्धितरूप में केवल भक्तियोगपरीक्षा के ही १ सहस्र पृष्ठ होगये हैं, एवं ५०० पृष्ठों में आगे के दोनों विषय। इस प्रकार तीसरे खण्ड की पृष्ठसंख्या लगभग १५०० (पन्द्रहसौ) होगई है। इसी लिये इस खण्ड के भी क–ख–ग रूप से तीन विभाग करदिए गए हैं। क–ख, नामक दो प्रकाशनों में भक्तियोग का वैज्ञानिक निरूपण प्रकाशित होगा, एवं ग नामक तृतीय प्रकाशन में आगे के दोनो विषय कहेंगे। इस प्रकार तीनखण्ड, एवं ६ जिल्दों मे सम्पन्न होने वाली गीताविज्ञानभाष्यभूमिका सम्भवतः २०५० पृष्ठों में सम्पन्न होगी, जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है—

२०५० पृष्ठों में सम्पन्न होने वाली "गीताविज्ञानभाष्य भूमिका" की

संक्षिप्त विषयसूची ।

भूमिका-प्रथमखण्ड समाप्त

१

आत्मपरीक्षायां-दार्शनिक-आत्मपरीक्षा समाप्ता

आत्मपरीक्षायां-वैज्ञानिक-आत्मपरीक्षा समाप्ता

समाप्ता चेयमात्मपरीक्षा।

भूमिका द्वितीयखण्ड का "क" विभाग समाप्त

२—क

२—(ख)—अन्तरङ्गपरीक्षात्मक गी० वि० भूमिका द्वितीयखण्ड का 'ख' विभाग—

६०० पृष्ठ (अप्रकाशित)

समाप्ता चेयं ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा

घ—संस्कारव्यवस्था और संस्कारप्रधान-कर्म्म—

—:o:—

(१)—संस्कार शब्द रहस्य।

(२)—संस्कारों की सर्वव्यापकता।

(३)—संस्कारों से संस्कार का उदय।

(४)—भारतीय श्रौत-स्मार्त्त ४२ संस्कार।

(५)—ब्राह्मसंस्कारविज्ञान।

(६)—दैवसंस्कारविज्ञान।

—घ—

ङ—कर्म्मतन्त्र का वर्गीकरण—

—:o:—

(१)—कर्म्मनिर्णयमीमांसा।

(२)—संस्कारनिबन्धनषट्कर्म्म।

(३)—उदर्कनिबन्धनषट्कर्म्म।

(४—आत्मनिबन्धनषट्कर्म्म।

(५)—गीतानिबन्धनषट्कर्म्म।

(६)—शास्त्रनिबन्धनषट्कर्म्म।

(७—लोक-वेदनिबन्धनषट्कर्म्म।

(८)—निष्ठानिबन्धनषट्कर्म्म।

— —

समाप्ता चेयं कर्म्मयोगपरीक्षा

—○:※:○—

१[ख]-अन्तरङ्गपरीक्षात्मक गी०वि०भूमिका—द्वितीयखण्ड का "ख" विभाग समाप्त

—२—

३-(क)-सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक गी०वि० भूमिका-तृतीयखण्ड का "क" विभाग

७०० पृष्ठ (अप्रकाशित)

(क)-भक्तियोगपरीक्षा—

१.—मूलप्रस्तावना—

अ-मोहमार्ग कर्म्मयोग ('कवयोऽप्यत्र मोहिताः')।

आ-क्लिष्टमार्ग-ज्ञानयोग ("क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्")।

इ—राजमार्ग-भक्तियोग('राजविद्या राजगुह्यम्')।

ई— योगत्रयी का प्रकरणविभाग।

—१—

२—योगत्रयी का मौलिक विचार—

अ—मौलिक तत्वान्वेषण की उपयोगिता।

आ-मूलप्रकृति का स्वरूप परिचय।

इ—पुरुषतत्त्व के तीन विवर्त्त।

ई—योगत्रयी के व्यापक लक्षण।

उ—प्रकृतितत्त्व के विविधरूप।

ऊ—योगमाया का विस्तार।

ऋ—योगमाया का भूत-भौतिकसर्ग।

ॠ—योगमाया के तीन योग।

—२—

३—योगत्रयी और भारतीय महर्षि—

अ—प्राकृतिक योगत्रयी और भारतीय योगत्रयी।

आ-उपासना एवं भक्ति का तारतम्य।

इ—देवयुगकालीन उपासनामार्ग।

ई—वेदयुगकालीन उपासनामार्ग।

उ—पुराणयुगकालीन उपासनामार्ग।

ऊ—दर्शनयुगकालीन उपासनामार्ग।

ऋ—वर्त्तमानयुगकालीन उपासनामार्ग।

ॠ—हमारा भक्तिमार्ग और प्रतिमापूजन।

—३—

३—(क)-सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक गी० भू० तृतीयखण्ड का "क" विभाग समाप्त

—क—

३—(ख)—सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक गी० भू० तृतीयखण्ड का 'ख' विभाग

४०० पृष्ठ (अप्रकाशित)।

(ख)—भक्तियोगपरीक्षा—

१—उपासना का स्वरूपनिर्वचन—

अ—उपासना के विविधलक्षण।

आ-सत्यवती उपासना

इ—अङ्गवती उपासना।

ई—अन्यवती उपासना।

उ—प्रतीकवती उपासना।

ऊ—प्रतिरूप-प्रतिमोपासना।

ऋ—भावमयी प्रतिमोपासना।

ॠ—निदानोपासना।

ऌ—मूर्त्तिनिर्म्माण रहस्य।

ॡ—गीता का संशोधित भक्तियोग।

३—(ख)—सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक गी० भूमिका तृतीयखण्ड का "ख" विभाग समाप्त

—ख—

—:o:—

३—(ग)—सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक गी॰भूमिका तृतीयखण्ड का "ग" विभाग

५०० पृष्ठ (अप्रकाशित)

१—बुद्धियोगपरीक्षा—

अ—बुद्धियोग का स्वरूप निर्वचन ।
आ—बुद्धियोग के आविर्भावक ।
इ—बुद्धियोग की प्रसूति ।
ई—बुद्धियोग का विस्तार ।
उ—बुद्धियोग का आविर्भाव, तिरोभाव ।
ऊ—धर्म्मलक्षण बुद्धियोग (कर्म्मयोग) ।
ऋ—ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोग (भक्तियोग) ।
ॠ—ज्ञानलक्षण बुद्धियोग (ज्ञानयोग) ।
ऌ—वैराग्यलक्षण बुद्धियोग (बुद्धियोग) ।
ॡ—गीतासिद्धान्तविमर्श (समन्वय) ।

—समाप्ताचेयं बुद्धियोग परीक्षा—

—१—

२—गीतासारपरीक्षा—

अ—मनु और मानव ।
आ—मनुष्य और मनुष्यता ।
इ—मनुष्यता और व्यक्तित्त्व ।
ई—व्यक्तित्त्व और समाज
उ—समाज और राष्ट्र
ऊ—राष्ट्र और साम्राज्य
ऋ—साम्राज और विश्व
ॠ—विश्व और शान्ति
ऌ—शान्ति और क्रान्ति
ॡ—व्यावहारिकजीवन में गीतामार्ग का अनुसरण

—समाप्ता चेयं गीतासारपरीक्षा—

—२—

३—(ग)—सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक गी॰भू॰ तृतीयखण्ड का "ग" विभाग समाप्त

—ग—

इति—वहिरङ्ग-अन्तरङ्ग-सर्वान्तरतमपरीक्षात्मकत्रिखण्डात्मकभागं षडात्मकः—

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका निबन्ध समाप्तः

संकलन—

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका

१← { १–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका, बहिरङ्गपरीक्षात्मक १ खण्ड ५०० पृष्ठ (प्रकाशित)

२← { २–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका अन्तरङ्गपरीक्षात्मक २ खण्ड 'क' ४५० पृष्ठ (,,)
२–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका अन्तरङ्गपरीक्षात्मक २ खण्ड 'ख' ६०० पृष्ठ (अप्रकाशित)

३← { ३–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक ३ खण्ड 'क' ७०० पृष्ठ (,,)
३–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक ३ खण्ड 'ख' ४०० पृष्ठ (,,)
३–गीताविज्ञानभाष्यभूमिका सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक ३ खण्ड 'ग' ५०० पृष्ठ (,,)
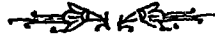
उक्त ३१५० पृष्ठो में से अभीतक केवल ९५० पृष्ठ प्रकाशित हुए है। अनन्तर क्रमश भूमिका के शेषखण्ड प्रकाशित होंगे। भूमिकाप्रकाशनान्तर 'श्रीकृष्ण और गीताचार्य' नामक, लगभग १५०० पृष्ठात्मक एवं भागत्रयात्मक आचार्यखण्ड प्रकाशित होगा। सर्वान्त में २४ खण्डो में गीतामूलभाष्य प्रकाशित किया जायगा। सर्वथा नवीन दृष्टि से, नहीं नहीं अतिप्राचीन दृष्टि से, वैज्ञानिक दृष्टि से, दूसरे शब्दो में विशुद्ध वैदिकदृष्टि से सम्पन्न होनेवाला यह गीता-साहित्य निश्चयेन भारतीय साहित्यभाण्डार की एक बहुत बड़ी कमी पूरी करने वाला सिद्ध होगा। इस विशाल गीतासाहित्य का अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड का "क" विभाग पाठको की सेवा में प्रस्तुत किया जाता है। आशा है, परपारदर्शी विद्वानों के अनुरञ्जन के साथ साथ प्रस्तुतकृति सर्वसाधारण के लिए भी उपयोगिनी सिद्धहोगी। अन्त में सम्पादन सम्बन्धी त्रुटियों के लिए अपनी ओर से भी क्षमा प्रार्थना करते हुए यह संक्षिप्त वक्तव्य समाप्त किया जाता है:—

विधेय:—
मोतीलालशर्म्मा गौड़:
जयपुरीय:

विषय सूची

श्रीः

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-द्वितीयखण्ड, "क" विभाग की

संक्षिप्त-विषयसूची

※ वैज्ञानिकदृष्टि से आत्मपरीक्षा १८८ पृष्ठ से ३४१ पृष्ठ पर्य्यन्त

—<o>—

॥ श्रीः ॥

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका–द्वितीयखण्ड, "क" विभाग की

विस्तृत-विषयसूची

* आत्मपरीक्षा—

(१ पृष्ठ से ३४१ पृष्ठ पर्य्यन्त)

* विषयप्रवेश—

(१ पृष्ठ से १२ पृष्ठ पर्य्यन्त)

इति * विषयोपक्रमः

—:०:—

—ङ—

———०———

च—वैशेषिकतन्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा—

(७३ पृष्ठ से ८३ पृष्ठ पर्य्यन्त)

——०——

विषय	पृष्ठसंख्या

—च—

छ—प्राधानिकतन्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा—

(८४ पृष्ठ से १०० पृष्ठ पर्यन्त)

—छ—

—०—

ज—शारीरकतन्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा—

(१०१ पृष्ठ से ११० पृष्ठ पर्यन्त)

—०—

विषय	पृष्ठसंख्या
९—मूलकारण और अणुपरमाणु	१०१
१०—जड़ परमाणु	,,
११—"सोऽकामयत"	,,
१२—नियन्ता की इच्छा	,,
१३—सांख्यतन्त्र की प्रकृति	,,
१४—प्रकृति का इच्छापारतन्त्र्य	,,
१५—आपत्तिरहित सांख्यसिद्धान्त	१०२
१६—परमाणुवाद से समतुलन	,,
१७—प्राकृतेच्छा	,,
१८—शारीरक का असन्तोष	,,
१९—शारीरक का आत्मा	,,
२०—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"	,,
२१—पुरुष और सर्वता	,,
२२—लोकत्रयालम्बन सर्वेश्वर	,,
२३—परमात्मतत्त्व	१०३
२४—पुरुषोत्तम की प्रसिद्धि	,,
२५- कर्त्ता-धर्त्ता भर्त्ता ब्रह्म	,,
२६—ऐतदात्म्यविश्व	,,
२७—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"	,,
२८—द्वैतनिराकरण	,,
२९—प्रविविक्त ब्रह्म	१०४
३०—प्रविष्टब्रह्म	,,
३१—सृष्टब्रह्म	,,
३२—ऊर्णनाभि	१०४
३३—अंशांशीभाव	,,
३४—विश्वजिज्ञासा और सांख्य	,,
३५—गुणत्रयाभिमान	,,
३६—सांख्य की विवशता	,,
३७—सांख्य का वदतो व्याघात	,,
३८—ब्रह्म का अक्षयभण्डार	१०५
३९—"तस्यैव मात्रामुपादाय"	,,
४०—भौतिकवर्ग (१)	,,
४१—क्रियातत्त्व (२)	,,
४२—मानसज्ञान (३)	,,
४३—बौद्धज्ञान (४)	१०६
४४—आनन्द (५)	,,
४५—सांख्य की निरुत्तरता	,,
४६—सांख्य के लिए अर्गला	,,
४७—अव्ययानुगामी शारीरक	,,
४८—तैत्तिरीय उपनिषत्	,,
४९—"आनन्दमयोऽभ्यासात्"	,,
५०—सृष्टि मुक्ति और अव्यय	,,
५१—समता-विषमता	,,
५२—पञ्चकोषात्मक अव्यय	१०७
५३—सृष्टिप्रवर्त्तक ब्रह्म	,,
५४—मुक्तिप्रवर्त्तकब्रह्म	,,

—ज—

—०—

भ—गीतातन्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा—

(१११ पृष्ठ से १२१ पृष्ठ पर्य्यन्त)

—म्म—

व—समष्टिरूप से आत्मपरीक्षा—

(१२२ पृष्ठ से १३१ पृष्ठ पर्य्यन्त)

८—दार्शनिक आत्मपरीक्षा का समन्वय

(१३२ पृष्ठ से १७४ पृष्ठ पर्य्यन्त)

—ट—

———o———

ठ—षड्दर्शनवाद का मौलिक रहस्य

(१७५ पृष्ठ से १८७ पृष्ठ पर्य्यन्त)

———o———

—ठ—

इति-आत्मनः दर्शनपरीक्षा समाप्ता

*वैज्ञानिकदृष्टि से आत्मपरीक्षा १८८ पृ० से ३४१ पृ० पर्य्यन्त

क–विषयप्रवेश १८८ पृ० से १९२ पृ० पर्य्यन्त।

ख–निर्गुण–आत्मनिरुक्तिः
१९३ पृ० से २२५ पृ० पर्य्यन्त

ग—इति सगुण-अमृतात्मनिरुक्तिः

———o———

घ—अधियज्ञात्मनिरुक्तिः—

(२८० पृ० से ३११ पृ० पर्य्यन्त)

——:o:——

च—इति—जीवात्मव्यूहनिरुक्तिः

इति—गीता-विज्ञानभाष्य-भूमिका द्वितीयखण्ड "क" विभाग की

विषयसूची समाप्त

विषयसंग्रह—

* * * * * * * *

आत्मपरीक्षा

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति।

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः॥

भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः।

प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥१॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः॥

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥२॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥३॥

——०——

विषयप्रवेश

* श्रीः *

* विषयप्रवेश-

ताशास्त्र की बहिरङ्गपरीक्षा समाप्त हुई। अब क्रमप्राप्त अन्तरङ्गपरीक्षा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। यद्यपि पूर्वखण्ड में भी प्रसङ्गवश यत्र तत्र अन्तरङ्ग विषयात्मक आत्मा, ब्रह्म-कर्म्म, कर्म्म, ज्ञान, भक्ति, बुद्धियोगादि विषयों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया है। परन्तु केवल वह संक्षिप्त रूपरेखा गीताहृदय का स्पर्श करने में अधिकांशतः असमर्थ ही है। सब से पहिले हमें यह निर्णय करना पड़ेगा कि गीता का अन्तरङ्ग विषय क्या है? एवं अन्तरङ्ग विषय के आधार पर प्रतिष्ठित सर्वान्तरम विषय क्या है? इन दोनों प्रश्नो के क्रमिक समाधान के लिए ही बहिरङ्गपरीक्षा के अतिरिक्त **अन्तरङ्गपरीक्षा**, एवं **सर्वान्तरमपरीक्षा** ये दो विषय क्रमशः (दो खण्डों में) उपस्थित किए जाते हैं।

यों तो गीताशास्त्र ने प्रधानरूप से "**बुद्धियोग**" को ही अपना लक्ष्य बनाता है। परन्तु इस प्रधान लक्ष्य की सिद्धि के साथ साथ इसने आत्मा, ब्रह्म-कर्म्म (ज्ञानक्रिया), कर्म्मयोग ज्ञानयोग, भक्तियोग इन विषयों का भी पूर्णरूप से स्पष्टीकरण किया है। इस दृष्टि से गीता के निरूपणीय विषय भी **आत्मा, ब्रह्मकर्म्म, कर्म्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, बुद्धियोग** इन ६ भागों में विभक्त होजाते हैं। इन ६ ओं के सम्यक् परिज्ञान से ही हम गीतासारपरिज्ञान के अधिकारी बन सकते हैं।

मानवसमाज के अन्तर्जगत् के कल्याण के लिए प्रवृत्त गीताशास्त्र का मुख्य धरातल है-"**अविनाशी, अनुच्छित्तिधर्म्मा, ज्ञानकर्म्ममूर्त्ति आत्मा**"। सब से पहिले इसी का स्वरूप विजिज्ञास्य है। जब आत्मकल्याण का एकमात्र उपाय ज्ञानलक्षण ब्रह्म का, एवं क्रियालक्षण कर्म्म का अनुष्ठान ही है तो आत्मस्वरूप परिज्ञान के अन्तर ही साधनभूत ब्रह्म-कर्म्मविवर्त्त का परिज्ञान आवश्यक हो जाता है। ब्रह्म (ज्ञान) साधन का विकास आगे जाकर ज्ञानयोगरूप

से होता है, कर्म्मसाधन का विकास कर्म्मयोगरूप से होता है, उभयसाधन का विकास भक्तियोगरूप से होता है। इसी भक्तियोग द्वारा सर्वान्त साधनरूप बुद्धियोग रहस्य का ज्ञान होता है, और इसी रहस्यज्ञान के आधार पर गीतासार प्रस्फुटित होता है।

ब्रह्म-कर्म्मोभयवादी भगवान् की दृष्टि में उभयलक्षण (अव्ययब्रह्म, अव्ययकर्म्मलक्षण) बुद्धियोग ही गुप्तरहस्य है, और यही गीता का सर्वान्तरतम रहस्य भी है। परन्तु भक्तियोग में भी अव्ययब्रह्म, क्षरकर्म्मरूप कर्म्म, इन ब्रह्म-कर्म्म दोनों का समन्वय है, अतएव इसका भी सर्वान्तरतम कोटि में ही अन्तर्भाव माना जा सकता है कर्म्मप्रधान (क्षरकर्म्म) कर्म्मयोग, ब्रह्म—(अव्यक्त-ज्ञान)-प्रधान ज्ञानयोग दोनों ऐकान्तिक समत्व से अंशतः वञ्चित हैं। अतएव इन दोनो को हम सर्वान्तरतम न कह कर अन्तरङ्गविषय ही कहेंगे। इस प्रकार कर्म्मयोग, ज्ञानयोग ये दो विषय तो अन्तरङ्ग बन जाते हैं, एवं भक्तियोग और बुद्धियोग ये दो विषय सर्वान्तरतमकोटि में रह जाते हैं। चारो के अन्त में गीतासार प्रतिष्ठित है। उपक्रम में आत्मा एवं आत्मा के ब्रह्म कर्म्म ये दो विवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। इन के परिज्ञान पर ही अन्तरङ्ग विषयद्वयी का परिज्ञान सम्भव है, एव सर्वान्तरतमद्वयी के परिज्ञान पर ही गीतासार परिज्ञान सम्भव है।

उक्त क्रम को एक वैज्ञानिक क्रम मानते हुए ही हमनें "आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्म-परीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, इन चार विषयो के समुच्चय को स्वतन्त्र मानते हुए इसे अन्तरङ्गपरीक्षाखण्ड माना है। एवं भक्तियोगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा, गीता-सारपरीक्षा इन तीनों की समष्टि को 'सर्वान्तरतमपरीक्षाखण्ड" नाम से व्यवहृत किया है। इन्हीं दोनों खण्डों में से क्रमप्राप्त अन्तरङ्गपरीक्षाखण्ड आरम्भ होता है, और उसी का प्रथम प्रकरणस्थानीय आत्मपरीक्षाप्रकरण विषयप्रवेशरूप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

सशरीर आत्मकल्याण के लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। शरीर से सम्बन्ध रखने वाला कल्याण अभ्युदय कहलाता है, एवं आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला कल्याण निःश्रेयस नाम से प्रसिद्ध है। शरीर का अभ्युदय ही आत्मनिःश्रेयस की मूलप्रतिष्ठा है। यदि शरीर

अस्वस्थ है, परतन्त्र है तो धर्म्म साधन नहीं हो सकता। एवं बिना धर्म्म के आत्मा कभी नि:श्रेयस का भागी नहीं बन सकता। अतएव–'शरीरमाद्यं खलु धर्म्मसाधनम्" इत्यादि रूप से शरीर को ही मुख्य धर्म्मसाधन माना गया है। शरीर पाञ्चभौतिक है। पृथिव्यादि आकाशान्त पाचो महाभूतो से (पञ्चीकृत महाभूतो से) ही शरीर का निर्म्माण हुआ है। इधर विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उस उपादान को लेकर ही अपनी स्वरूपसत्ता प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होती है। "अन्न का पुतला अन्न से ही चलता फिरता है" यह लोकोक्ति भी इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रही है। ऐसी दशा में पाञ्चभौतिक शरीर की प्रतिष्ठा के लिए भौतिक विश्व का परिग्रहण आवश्यक हो जाता है। बिना भौतिक सम्पत्ति के शरीर का अभ्युदय असम्भव है, एवं बिना स्वस्थशरीर के आत्मा का कल्याण असम्भव है।

अपनी बुद्धि को विषयासक्ति से हटा कर प्रत्यगात्मा में लगा लेना ही बुद्धियोग है। इसी बुद्धियोग से प्रत्यगात्मा की सत्-चित् आनन्द शक्तियों का हमारे कर्म्मात्मा पर अनुग्रह होता है। इस अनुग्रह से अनुग्रहीत कर्म्मात्मा बलवान बनता हुआ, इसी भौतिक शरीर में रहता हुआ विषयासक्तिजनित कर्म्मबन्धन, किंवा कर्म्मलेप से मुक्त होता हुआ जीवन्मुक्त बन जाता है। यही इस की परामुक्तिलक्षणा विदेहमुक्ति है। इसी मुक्ति को नि:श्रेयस कहा जाता है। यह नि:श्रेयसभाव एकमात्र बुद्धियोग पर निर्भर है। बुद्धि की प्रतिष्ठा हृदयस्थ प्रज्ञान मन है। बुद्धितत्त्व आध्यात्मिक सूर्य्य है, प्रज्ञान मन आध्यात्मिक चन्द्रमा है। जिस प्रकार सूर्य्य ज्योतिरूप से चन्द्रमा पर प्रतिबिम्बित हो रहा है, ठीक इसी तरह इस आध्यात्मिक चन्द्रमा मन) पर वह आध्यात्मिक सूर्य्य (बुद्धि) प्रतिबिम्बरूप से प्रतिष्ठित है। मन ही बुद्धि का आधार है। इस बुद्धि को स्वस्वरूप मे सुरक्षित रखने के लिए तत्प्रतिष्ठारूप, सत्वगुणोपेत, अतएव चित्त नाम से प्रसिद्ध मन को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखना परम आवश्यक है।

जीस प्रकार स्थिर जलपात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य्य स्थिर, एवं कम्पित जलपात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य्य अस्थिर बना रहता है, एवमेव जलपात्र स्थानीय स्थिर मन में बुद्धि स्थिर रहती है, पूर्णरूप से विकसित रहती है। एवं मन के चञ्चल बन जाने से तत्प्रतिष्ठिता बुद्धि भी चञ्चल

बन जाती है, अशान्त बन जाती है। बुद्धि की स्थिरता मनस्थैर्य पर ही निर्भर है। चित्त का स्थिर रहना ही उस की स्वस्थता है। यही चित्तस्वास्थ्य बुद्धिसंस्फुरण का कारण है जैसा कि "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति" इत्यादि वृद्धव्यवहार से स्पष्ट है। अब हमें देखना यह है कि यह चित्त, किंवा मन स्थिर कैसे रहता है, किंवा कैसे रह सकता है?

"अन्नमयं हि सौम्य मनः" इस छान्दोग्य सिद्धान्त के अनुसार अन्न से ही मन बनता है। अन्न शब्द से यहां ओषधि अभिप्रेत है। "ओषध्यः फलपाकान्ताः" इस कोश सिद्धान्त के अनुसार फल आजाने पर जिन के मूल नष्ट हो जाते हैं उन्हें ओषधि कहा जाता है : जौ, गेहूं, चांवल, उर्द, मूंग, आदि सुप्रसिद्ध अन्न ही ओषधि है। इन में प्रधानरूप से चन्द्रमा का रस रहता है। चान्द्ररस ही ओषधियों की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव चन्द्रमा को—"ओषधीनां पतिः" कहा गया है चान्द्ररस श्रद्धा नाम से प्रसिद्ध है। इस श्रद्धाद्रव्य की दिव्य आदित्याग्नि में आहुति होती है, इस से वही श्रद्धातत्त्व सोमरूप में परिणत हो जाता है, सोम श्रद्धा का ही रूपान्तर है सोमद्रव्य की पर्जन्याग्नि में आहुति होती है। इस से वह सोमतत्त्व वर्षारूप में (पानी रूप में) परिणत हो जाता है, पानी सोम का ही रूपान्तर है। इस वर्षाद्रव्य (अप्द्रव्य) की पार्थिव अग्नि में आहुति होती है, इस से उक्त लक्षण ओषधिएं उत्पन्न होती हैं, ओषधि पानी का ही रूपान्तर है। इस ओषधिरूप अन्न की आध्यात्मिक वैश्वानर अग्नि में आहुति होती है। इस से रस–असृक्–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा इन रूपों में परिणत होता हुआ वही अन्न अन्त में शुक्ररूप में परिणत हो जाता है, शुक्र ओषधिरूप अन्न का ही रूपान्तर है। शुक्र में पार्थिव स्थूल धातु भी है, आन्तरिक्ष्य सूक्ष्मधातु भी है, एवं दिव्य चान्द्रधातु भी है। चन्द्रमा से चल कर जो श्रद्धामय सोम अन्न बनता है, उस में मध्य का आन्तरिक्ष्य वायु, एवं पृथिवी का मृत् भाग दोनों और प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अन्न, किंवा अन्नरूप शुक्र में चान्द्र श्रद्धामय सोम, आन्तरिक्ष्य वायु, पार्थिवमृद्भाग इन तीन पदार्थों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

स्वाभाविक, एवं धारावाहिक विशकलन प्रक्रिया से जब शुक्र से पार्थिव स्थूल धातु

निकल जाता है तो उस समय आन्तरिक्ष्य वायु, एवं दिव्य सोम यह धातु शेष रहजाते हैं। इसी को "ओज" कहा जाता है। शुक्र की अवस्थान्तर ही ओज है। जब आन्तरिक्ष्य वायु भी निकल जाता है तो सुसूक्ष्म श्रद्धामय सोमरस रह जाता है। इसी आध्यात्मिक विशुद्ध सोमतत्त्व का नाम "मन" है। यह वीध्र है, अतएव इस पर बुद्धि प्रतिबिम्बित होजाती है। इस प्रकार वही चान्द्रसोम उक्त परम्परा के अनुसार अन्न द्वारा शरीर में प्रवेश कर मन बना हुआ है। अन्न ही मन बना हुआ है, अन्न ही मन का उपादान कारण है।

जब अन्न मन का उपादान है तो यह मान लेना पड़ता है कि इस अन्नाहुति से ही मन की स्वरूपरक्षा होती है। अन्न भौतिक संपत्ति है। बिना इसके मन की प्रतिष्ठा नहीं, बिना मन के बुद्धि का विकास नहीं। जब तक हम अन्न खाते रहते हैं, तभी तक मन स्वस्थ रहता है, तभी तक हमारी बुद्धि जाग्रत रहती है। कुछ दिन भोजन न करने से किस प्रकार हम संज्ञ-शून्य बन जाते हैं, यह सर्वानुभूत विषय है। बुद्धि की स्थिरता में ही बुद्धियोग है, बुद्धियोग से ही प्रत्यगात्मा का कर्म्मात्मा पर अनुग्रह है, एवं इसी अनुग्रह मे निःश्रेयसलक्षण आत्मकल्याण है। -

आत्मकल्याण के लिए हमें बुद्धि का प्रत्यगात्मा के साथ योग करना पड़ेगा, इसके लिए मन को स्थिर रखना पड़ेगा, मन की रक्षा के लिए इन्द्रियों के द्वारा अन्नभोग करना पड़ेगा, इस के लिए पाञ्चभौतिक शरीर को सबल बनाना पड़ेगा, एवं इसके लिए भौतिक सम्पत्ति का आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रकार उस आत्ममुक्ति के लिए हमें प्रत्येक दशा में विश्वभुक्ति का अनुयायी बनना पड़ेगा। बिना इस अभ्युदय के निःश्रेयस प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।

बात बड़ी अच्छी लग रही है। परन्तु कहने में उक्त वाक्यधारा जितनी सुन्दर है, व्यवहार में वह उतनी ही कठिन है। बुद्धियोगसम्पत्ति के लिए मन को स्थिर रखना आवश्यक है, यह तो निर्विवाद है परन्तु इस स्थिरता का अन्वेषण जब हम अन्नसम्पत्ति, किंवा भौतिक वैभव में करने लगते हैं तो सहसा हमें रुक जाना पड़ता है। सांसारिक अन्न पान मन को स्थिर नहीं बनाते अपितु चञ्चल बनाते हैं। इन्द्रियों का क्रीतदास मन भौतिक विषय में आस-

क होकर स्वरूपरक्षा के स्थान में अपना स्वरूप विगाड़ लेता है। एक बार सांसारिक वैभव के साथ अनुराग होना चाहिए, फिर कल्याण नहीं है। स्त्री–पुत्र-कलत्र–अन्न–वस्त्र–गृह–वाहन अनुचर–द्रव्य–आदि एक एक सामग्री भी मन को चञ्चल बनाने में पर्याप्त है मन सोममय है। सोम स्निग्ध है, चिकना है। यह जिस विषय में चला जाता है, अपने इसी स्नेहगुण के कारण वहां बद्ध होजाता है। साथ ही में नवीनता का अनुगमन करना भी मन का स्वाभाविक धर्म्म है। चिरकाल तक मन किसी एक विषय में प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। कामलोलुप, वासना का अनुचर, बर्हिमुख मन इधर उधर अनधावन करता हुआ चञ्चल बना रहता है। इस प्रकार जो अन्नसम्पत्ति इस की रक्षा करने वाली है, वही इस के लिए घातक बन जाती है। इसी विषयासक्ति से मन की स्थिरता मारी जाती है। मन की अस्थिरता से बुद्धि अस्थिर बन जाती है ऐसी अस्थिर बुद्धि कभी प्रत्यगात्मा के साथ योग नहीं कर सकती।

मन को यदि विषयों से एकदम रोक लिया जाता है, इन्द्रियों का द्वार बन्द कर अन्न का आगमन सर्वथा रोक दिया जाता है तो अन्नमय मन जीवित नहीं रह सकता। यदि अन्न लाने के लिए इसे छुट्टी दे दी जाती है तो यह कामना की कृपासे अधिक चञ्चल बन जाता है। रोकते हैं तो मन का स्वरूपविनाश, नहीं रोकते हैं तो अधिक चाञ्चल्य। बड़ी जटिल समस्या है। ऐसी दशा में क्या किया जाय ? यदि कोई ऐसा उपाय निकल आवे, जिस से मन अपनी स्वरूपरक्षा के लिऐ अन्नसंपत्ति के साथ योग करता हुआ भी उस में आसक्त न बने, तो अवश्य ही उक्त जटिल समस्या हल हो सकती है। इस के लिए सब से पहिला, एवं मुख्य उपाय है आहारशुद्धि। अन्नसम्पत्ति सात्त्विक-राजस-तामस भेद से तीन भागो में विभक्त है। चन्द्रमा का श्रद्धा भाग एकरूप, किंवा नीरूप है। परन्तु त्रिविध अन्न के संसर्गसे वह श्रद्धातत्त्व भी सात्विकीश्रद्धा, राजसीश्रद्धा, तामसीश्रद्धा, भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाता है। तामसी श्रद्धा जड़ता पैदा करती है, राजसीश्रद्धा चाञ्चल्य उत्पन्न करती है, एवं सात्विकी श्रद्धा स्थिरता की जननी है। यदि हम तामस अन्न खांयगे तो हमारी मानसी श्रद्धा में तमोगुण का संचार होगा। फलत. बुद्धि में जड़ता पैदा होजायगी, कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक जाता रहेगा। यदि राजस

अन्न खायेंगे तो रजोगुण के प्रभाव से चञ्चलता का उदय होगा। यदि सात्विक अन्न खायेंगे तो मन में स्थिरतालक्षण सात्त्विक भावों का उदय होगा। इस प्रकार सात्विक अन्नाहार ही हमारा उपकारक बनेगा। बिना इस आहारशुद्धि के कभी हम मनको स्थिर नहीं कर सकते। इसीलिए भारतीयधर्म्माचार्य्यों नें आहारशुद्धि को मुख्य स्थान दिया है।

आहारशुद्धि के लिए बल मिलता है—आचरणशुद्धि से। यदि हम दुराचारी हैं तो कभी हमारा मन सात्त्विक अन्न की ओर आकर्षित नहीं हो सकता। अगम्यागमन, अप्रासकाल में शयन, नीचसंगति आदि सदाचरण के शत्रु हैं। पहिले आचारशुद्धि अपेक्षित है। इस के लिए ब्रह्मचर्य्य, सत्यभाषण, अहिंसा, सर्वभूतहितरति, दया, कारुण्य आदि भावों का अनुगमन आवश्यक है। इस के लिए ईश्वरचिन्तन, संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, पञ्चमहायज्ञ, वेदाध्ययन आदि का अनुगमन आवश्यक है। इन सब से ऊपर निष्कामभाव का साम्राज्य अपेक्षित है। निष्कामभाव से व्यवहार, आचार, आहार की शुद्धि में प्रवृत्त रहने वाले व्यक्ति के मन पर कभी अन्नसंसक्ति आक्रमण नहीं कर सकती वह जीवनयात्रा के लिए, दूसरे शब्दों में मन की स्वरूपरक्षा के लिए इन सांसारिक विषयों में प्रवृत्त अवश्य रहेगा, परन्तु वे इसे बंधन में न डाल सकेंगे, रहता हुआ भी वह निर्लेप रहेगा। रहेगा इस लिए तो शरीर का अभ्युदय होगा। निर्लेप रहेगा, इस लिए मन चञ्चल न होगा, बुद्धियोगनिष्ठ मूलक निःश्रेयभाव प्राप्त हो जायगा।

ठीक इस के विपरीत जो मन्दबुद्धि आत्मकल्याणोपयोगिनी उक्त आहारशुद्धि-आचरणशुद्धि आदि की उपेक्षा कर उत्पथ गमन करेगा, वह अभ्युदय से वञ्चित होता हुआ प्रत्यवाय का भागी बनेगा। सांसारिक सम्पत्ति के साथ उत्थान के दो पहलू है। उन दोनों के लिए संस्कृत साहित्य में अभ्युदय, एवं उन्नति यह दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अभ्युदय का प्रतिद्वन्द्वी प्रत्यवाय शब्द है, एवं उन्नति का प्रतिद्वन्द्वी अवनति शब्द है। भारतीय विद्वान् यद्यपि अभ्युदय—उन्नति का, एवं प्रत्यवाय अवनति का परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध मानते हैं, परन्तु विज्ञान

परिभाषा के अनुसार यह पर्य्याय सम्बन्ध नितान्त अशुद्ध है। स्वयं शब्द ही इस अशुद्धि का समर्थन कर रहे है।

जो कर्म्म, किंवा जो वैभव हमारे आत्मा (कर्म्मात्मा) को सामने, ऊपर की ओर ले जाते हैं, वे सब कर्म्म अभ्युदय के प्रवर्त्तक बनते हुए अभ्युदय हैं। अभि का अर्थ सामने है, उद् का अर्थ ऊपर है, अय का अर्थ गमन है। शास्त्रीय सभी कर्म, एवं शास्त्रसिद्ध आहारादि इसी अभ्युदय के कारण बनते हैं। परन्तु जो शास्त्रविरुद्ध कर्म्म, एवं आहारादि का अनुगमन करते हैं, उन का आत्मा प्रतीची दिशा में नीचे की ओर जाता है। अभि का अर्थ सामने था, प्रति का अर्थ है—उलटा, अव का अर्थ है नीचे, अय का अर्थ है गमन। यही प्रत्यवाय है। अभ्युदय में उत्थान है, प्रत्यवाय में पतन है। यह दोनों शब्द शास्त्रीय उत्थान—पतन के सूचक हैं।

जो मनुष्य शास्त्ररहस्य को नहीं समझते, जिन की दृष्टि में आत्मा का कोई महत्व नहीं है, जिन का एकमात्र-"खाना पीना मौज़ उड़ाना" यही सिद्धान्त है, जिन का लक्ष्य एकमात्र भौतिक वैभव ही है, उन्नति—अवनति शब्द इन्हीं के साथ सम्बन्ध रखते हैं। अधर्म्म मार्ग से यह यथाजात लौकिक मनुष्य पर्य्याप्तमात्रा में धन संचय करते हैं, संचित अर्थ के आधार पर वासनाओं को उत्तेजित करने वाले नवीन नवीन आविष्कार करते हैं शरीरसुख के लिए प्रचुरमात्रा में भौतिक सामग्रिएं एकट्ठी करते हैं। इन सब लौकिक जड़ पदार्थों का विकास ही उन्नति है। ऊपर अवश्य चढ़ते हैं पूर्ण समृद्ध बनते हैं, लौकिक सुख की चरम सीमा पर पहुंचते हैं, परन्तु इस उत्थान के गर्भ में पतन बैठा हुआ है अवश्य ही इन का किसी दिन पतन होता है। इसी भाव को सूचित करने लिए इस उत्थान को —"उन्नति" शब्द से व्यवहृत किया है। उन्नति के "उद्-नति,, ये दो विभाग हैं। उद् का अर्थ उत्थान है समृद्धि है। नति का अर्थ नमन है, पतन है, समृद्धि का विनाश है। "ऊपर चढ़कर गिरना" उन्नति शब्द का यही अर्थ है। ऐसी उन्नति आर्यऋषियों की दृष्टि में महापतन है। यह उन्नति अधर्म्ममूला है। यह सिद्ध विषय है कि अधर्म्म मार्ग से लौकिक वैभवों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करने वाला व्यक्ति एकबार

खूब ही समृद्ध बनता है, बड़े बड़े वैभव प्राप्त करता है। परन्तु आगे जाकर इस का समूल विनाश होजाता है इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते है—

अधर्मेणैधते पूर्वं ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलं च विनश्यति ॥

जिन की बुद्धि में आसुरभाव पूर्णरूप से विकसित है, वे ही ऐसे उन्नति के अनुगामी बनते है। जिनकी बुद्धि तमोगुण से अभिभूत रहती है, वे दाने दाने के लिए तरसते रहते हैं। न इन्हें शास्त्र का परिज्ञान है, न लौकिक बुद्धि का ही विकास है। ऐसे सामान्य मनुष्य लौकिक वैभवो से भी वञ्चित रहते हैं। ऐसे ही व्यक्तियो के लिए अवनति शब्द प्रयुक्त हुआ है। उत् का प्रतिद्वन्द्वी "अव" है, नति समान है। यह ऊपर चढ़कर नहीं गिरे हैं, किन्तु पहिले से ही गिरे हुए हैं। पुण्यात्मा का अभ्युदय होता है, दुरात्मा का प्रत्यवाय होता है। अधर्म्मी-पापात्मा की उन्नति होती है, धर्म्माधर्म्मशून्य मूढ मनुष्य अवनत दशा में रहते हैं। सचमुच आर्य-जाति का यह दुर्भाग्य है कि आज वह शास्त्रसिद्ध, किंवा धर्म्मसिद्ध अभ्युदय मार्ग भी उपेक्षा कर पतनगर्भिता उन्नति की ओर अग्रेसर होरही है। आज सर्वत्र उन्नति उन्नति का ही घण्टाघोष सुनाई पड़ रहा है। पश्चिमी देशों की उन्नति ही इस दुर्भावना का मूलकारण है। परन्तु हम उन आर्यसन्तानों को सावधान कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि जिसे वे उन्नति कह रहे, एवं समझ रहे हैं, वह उत् नति है, ऊपर जाकर गिरा देने वाली है। इससे तो हमारी यह अवनति (गरीबी) ही अच्छी है। इसमें हमारे हाथ पैर तो सुरक्षित हैं, स्वरूप हानि तो नही है। यदि उन्नति का अनुगमन किया तो ऊपर से गिरना पड़ेगा। उस समय हम अपना स्वरूप ही खो बैठेंगे।

प्रकृत में इस प्रपञ्च से हमें यही बतलाना है कि हमारा कल्याण आत्मसंस्था, एवं विश्वसंस्था भेद से दो भागों में विभक्त है। विश्वकल्याण का शरीर से सम्बन्ध है, आत्मकल्याण का कर्म्मात्मा से सम्बन्ध है, दोनो में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आत्मकल्याण पुरुषार्थ कर्म्म है, शरीरकल्याण क्रत्वर्थ कर्म्म है। विना क्रत्वर्थ के पुरुषार्थ की प्राप्ति असंभव है। यदि शरीर-

कल्याणरूप कृतवर्थ स्वयं ही पुरुषार्थ बन जाता है, तब तो उन्नति है एवं पूर्वकथनानुसार यह उन्नति सर्वनाश है। यदि यह कृतवर्थ पुरुषार्थ न बन कर कृतवर्थ ही रहता है, दूसरे शब्दों में हमारा विश्ववैभव यदि आत्मानुगामी है तो अभ्युदय है। यह अभ्युदय अवश्य ही कालान्तर में निःश्रेयसभाव का कारण बन जाता है। निःश्रेयसभावमूलक इसी विश्वकर्म्म को हमारे शास्त्रों नें "विज्ञान" (विशेषज्ञान) कहा है। जिस विज्ञान में, जिस विश्वकर्म्म में, जिन भौतिक आविष्कारों में आत्मभावना का अभाव है, वह वज्ञान विरुद्धज्ञान बनता हुआ अज्ञान है, नाशक यन्त्र है इसी को आर्यमहर्षियों नें क्षणिक विज्ञान कहा है। इस में स्थिरता का एकान्ततः अभाव है। आज फोनोग्राफ, कल रेडियो, परसों और कुछ। कहीं भी तो शान्तिमूला प्रतिष्ठा नहीं है। ऐसे क्षणिक विज्ञानवादी ही आर्षदृष्टि से नास्तिक कहलाए हैं। परन्तु जिस विश्व-विज्ञान के मूल में नित्यलक्षण ज्ञानमूर्त्ति आत्मा प्रतिष्ठित रहता है, वह विज्ञान विश्वविज्ञान बनता हुआ भी इस आत्मनित्यता के अनुग्रह से नित्यविज्ञान बन जाता है। ज्ञानसहकृत यह नित्य-विज्ञान ही ब्रह्म का मौलिक स्वरूप है, जैसा कि-"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"-"नित्यं विज्ञान-मानन्दं ब्रह्म" इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों से स्पष्ट है।

आत्मकल्याण मुख्य पुरुषार्थ, शरीर का अभ्युदय साधक। आत्मा का निःश्रेयसभाव ज्ञानप्रधान, शरीर का अभ्युदय विज्ञानप्रधान, दोनो ही आत्यावश्यक। इसी दृष्टि से हम ज्ञान-मय विज्ञानात्मक शास्त्र को पूर्णशास्त्र कहने के लिए तय्यार हैं। गीता से अतिरिक्त मुख्य पुरुषार्थ की मीमांसा करने वाले जितनें भी आस्तिकदर्शन हैं उन सब में ज्ञानदृष्टि से ही इस पुरुषार्थ का प्रतिपादन हुआ है। ज्ञाननिरूपण के सम्बन्ध से ही वे आत्मशास्त्र दर्शनशास्त्र नाम से संबोधित हुए हैं। दूसरे शब्दों में उनमें ज्ञानमूलक निःश्रेयसभाव की ही प्रधानता है, विज्ञानमूलक अभ्युदयभाव का वहां प्रायः अभाव ही है। इसी लिए दर्शन को हम अकृत्स्न (अधूरा) शास्त्र कहने के लिए तय्यार हैं।

इधर हमारे गीताशास्त्र ने ज्ञान के साथ साथ विज्ञान का भी विशद निरूपण किया है, आत्मा के साथ विश्व का भी विश्लेषण किया है, निःश्रेयस के साथ अभ्युदय का भी उपाय बत-

लाती है, आत्मसम्पत्ति के साथ साथ विश्वसम्पत्ति की आवश्यकता का भी अनुभव कराया है। इस प्रकार विज्ञानप्रतिपादनाभावरूपा जिस कमी ने दर्शन को अकृत्स्न बना रक्खा था, गीताशास्त्रने उस कमी को भलीभांति पूर्ण किया है। चूंके गीता में आत्मा का भी विशद निरूपण है, ज्ञान का पूर्ण विजृम्भण है, इसलिए तो गीता शास्त्र को हम दर्शनशास्त्र कहसकते हैं। साथ ही में इस में विश्व का, विज्ञान का भी विशद निरूपण है, इसलिए हम इसे विज्ञानशास्त्र भी कहसकते हैं। अपूर्ण दर्शनशास्त्र की अपेक्षा गीताशास्त्र की यही कृत्स्नता है, यही पूर्णता है, यही अपूर्वता है, यही विलक्षणता है, जिस का कि भूमिका प्रथमखण्ड में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

अब यह सिद्ध हो चुका है कि एक ही आत्मा के ज्ञान-विज्ञान भेद से दो विवर्त्त हैं। निरुपाधिक वही आत्मा ज्ञानमूर्त्ति है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह श्रुति इसी निरुपाधिक आत्मा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। वही आत्मा परिग्रह (विश्व) को साथ लेकर सोपाधिक वन गया है। यही इसका वैज्ञानिक स्वरूप है। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह श्रुति इसी रूप का दिग्दर्शन करा रही है। ज्ञानमय आत्मा दर्शनशास्त्र का विषय है, विज्ञानमय आत्मा विज्ञानशास्त्र का विषय है। इन दो आत्मविवर्त्तों के कारण यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शास्त्रों ने दोनों में से किस आत्मा के कल्याण का आदेश किया है ? इस के अतिरिक्त यह भी प्रश्न कम महत्त्व नहीं रखता कि आत्मा के साथ कल्याणोपदेश का क्या सम्बन्ध ? आत्मा की नित्यता, एवं आनन्दरूपता नित्यसिद्ध है। जब आत्मा नित्य आनन्दमय है तो उस के साथ क्लेश का क्या सम्बन्ध। जब क्लेश का सम्बन्ध नहीं तो आत्मशास्त्रों का उपदेश व्यर्थ। हां इस दशा में शास्त्रों को केवल शरीरपरक माना जा सकता है। शरीर के साथ ही सुख—दुःखादि द्वन्द्वभावों का सम्बन्ध है। रोगादि का आक्रमण भी शरीर पर ही होता है।

फिर आत्मा स्वयं एक जटिल समस्या है। कभी आत्मा को व्यापक वतलाया जाता है, कभी आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न वतलाया जा रहा है, कहीं आत्मा का परलोक में गमन

बतलाया जा रहा हैं, तो कहीं एक शरीरपरित्याग के अनन्तर ही उसे दूसरे शरीर के साथ युक्त माना जा रहा है। कभी कहा जाता है, आत्मा का परिज्ञान शास्त्र से नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा शब्दातीत है। कभी शास्त्र को आत्मज्ञान का साधक माना जाता है। कभी आत्मा को धर्म्माधर्म्म-पापपुण्य-कृताकृत से पृथक् बतलाया जा रहा है; कहीं उसी को सब कुछ माना जा रहा है। कहीं आत्मा को पाप-पुण्य से पृथक् बतलाया जा रहा है तो कहीं इसे पुण्यात्मा-पापात्मा की उपाधि से विभूषित किया जा रहा है। कहां तक गिनावें। जब आत्मप्रतिपादक शास्त्रों की ओर हमारा ध्यान जाता है तो परस्पर में सर्वथा विरोध रखनें वाले शास्त्रीय वचनों से सन्देहनिवृत्ति के स्थान में हम अधिक सन्देह में पड़ जाते हैं। इसी सन्देह को दूर करने के लिए सर्वप्रथम आत्मपरीक्षा आवश्यक हो जाती है।

यों तो आत्मा के अनेक विवर्त हैं, परन्तु प्रधानरूप से इस के पूर्वोक्त निरुपाधिक सोपाधिक भेद से दो ही विवर्त हैं। अतः यहां प्रधानरूप से इन दोनो का ही संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जायगा। विज्ञानात्मप्रतिपादक, अतएव कृत्स्नतालक्षण गीताशास्त्र को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, पहिले ज्ञानात्मप्रतिपादक, अतएव अकृत्स्नतालक्षण दर्शनशास्त्र का ही विचार कीजिए। पहिले हमें यह देखना है कि आत्मस्वरूप का भारतीय दार्शनिकों नें, किंवा दर्शन-शास्त्रों नें कैसा, क्या विवेचन किया है? तदर्थ ही आगे का दार्शनिक प्रकरण आरम्भ होता है। आशा है, सर्वथा नवीनदृष्टि से किया गया यह दार्शनिक विवेचन पाठकों के विशेष अनुरञ्जन की सामग्री होगी। एवं इसी सामग्री के आधार पर दर्शनप्रेमी पाठक परस्पर में विरुद्धार्थ का प्रतिपादन करने वाले दर्शनों का समन्वय कर सकेंगे।

इति-विषयप्रवेशः

१–दार्शनिकदृष्टि से आत्मपरीक्षा

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

———o———

क–भारतीयषड्दर्शनवाद (६)–

ख–भारतीयद्वादशदर्शनवाद (१२)–

ग–भारतीयअष्टादशदर्शनवाद (१८)–

घ–भारतीयषट्त्रिंशद्दर्शनवाद (३६)–

—— ० ——

* श्री *

क–भा० षड्दर्शनवाद—

ख–भा० द्वादशदर्शन०–

ग–भा० अष्टादशदर्शन०–

घ–भा० षट्त्रिंशद्दर्शन०–

दर्शन की संख्या के सम्बन्ध में अनेक सम्प्रादएं प्रचलित हैं। उन में दो तीन सम्प्रदायों का दिग्दर्शन करा देना ही पर्य्याप्त होगा। कुछ भारतीय विद्वानों की दृष्टि में दर्शनशास्त्र-आस्तिक-नास्तिक भेद से दो भागों में विभक्त है। दोनो में से प्रत्येक शास्त्र आचार्य्य भेद से ६—६-अवान्तर भागों में विभक्त है। १–लौकायतिक, २–वैभाषिक, ३–सौत्रान्तिक, ४–क्षणिकविज्ञानिक, ५–माध्यमिक, ६–स्याद्वादिक यह ६ नास्तिकदर्शन हैं। एवं १–न्याय, २–वैशेषिक, ३–सांख्य, ४–योग, ५–पूर्वमीमांसा, ६–उत्तरमीमांसा, यह ६ आस्तिकदर्शन हैं। संभूय इस विद्वत्सम्प्रदाय की दृष्टि में १२ दर्शनशास्त्र हैं। इन में नास्तिकषड्दर्शन लौकिक हैं, एवं आस्तिकषड्दर्शन वैदिक हैं। यह ६ ओं वेदसिद्ध ईश्वर की सत्ता मानते हुए आगे वढ़े हैं, एवं वे ईश्वर की उपेक्षा कर नास्तिवाद को आगे कर दर्शनमीमांसा में प्रवृत्त हुए हैं।

—•—*—

एक दूसरी सम्प्रदाय दर्शनसम्प्रदाय मे ६ दर्शनो का समावेश और मानती है। उसका कहना है कि लोक–वेद के अतिरिक्त एक आगमशास्त्र और बच जाता है। लोकतन्त्र जहां कर्म्मप्रधान है, एवं वेदतन्त्र जहां ज्ञानप्रधान है, वहां आगमतन्त्र भक्तिप्रधान है। विश्वविवर्त्त की विचारमीमांसा का नाम ही तो दर्शन है। इधर विश्वविवर्त्त कर्म्म–ज्ञान–भक्ति भेद से तीन भागों में विभक्त है। कर्म्म का निरूपक शास्त्र जैसे नास्तिकदर्शन माना गया है, ज्ञान का

निरूपक दर्शन जैसे आस्तिक दर्शन माना गया है, तथैव भक्तिप्रतिपादक शास्त्र को भी साम्प्रदायिकदर्शन शब्द से सम्बोधित किया जासता है। भक्ति का देवता से सम्बन्ध है, एवं उपासना देवता की ही होती है। उपास्य देवता सूर्य, शक्ति, विष्णु, शिव, गणपति भेद से पांच भागो में विभक्त है।

उक्त पांचो देवताओं की उपासना के समष्टि व्यष्टि रूप से दो प्रकार हैं। पांचों की एक साथ भी उपासना की जासकती है, एवं पांचों में से प्रत्येक को प्रधान मानते हुए पांचों की पृथक् पृथक् रूप से भी उपासना की जाती है उत्तर भारत में पञ्चदेवतात्मिका समष्टि उपासना का ही विशेष प्रचार है, एवं दक्षिणभारत में व्यष्टि उपासना विशेषरूप से प्रचलित है। ५ व्यष्टि उपासनाएं, १ समष्टि उपासना, इस प्रकार भक्तितन्त्र उपासना भेद से ६ भागों में विभक्त होजाता है। इन ६ ओं भक्तितन्त्रों का मूल आगमशास्त्र है, अतएव इन भक्तिदर्शनों को हम, आगमिक कहने के लिए तय्यार हैं। यह ६ ओ दर्शन क्रमशः -सौरदर्शन, २-शाक्तदर्शन, ३-शैवदर्शन, ४-वैष्णवदर्शन, ५-गाणपत्यदर्शन, ६-स्मार्त्तदर्शन (पञ्चदेवतावादात्मकदर्शन) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार आगमिक ६ भक्तिदर्शन, नैगमिक ६-ज्ञानदर्शन, एवं लौकिक ६ कर्म्मदर्शन के भेद से दर्शन १८ भागों विभक्त हो जाते हैं। इन में नैगमिक एवं आगमिक भेद भिन्न १२ दर्शन आस्तिकदर्शन हैं, एवं ६ लौकिक दर्शन नास्तिकदर्शन हैं। यही दर्शनसम्बन्ध में दूसरी दृष्टि है।

———※———

कुछ एक विद्वान ३६ दर्शन मानते हैं। इनका कहना है कि दर्शन कुल ६ हैं, एवं प्रत्येक के अवान्तर ६-६ विभाग हैं। इस प्रकार संभूय ६ के ३६ दर्शन होजाते हैं। इन ३६ में ६ दर्शन नास्तिक हैं, एवं ३० दर्शन आस्तिक हैं। पहिला नास्तिकदर्शन है, दूसरा प्राकृतिकदर्शन है, तीसरा प्रपत्तिदर्शन है, चौथा उपासनादर्शन है, पांचवां सम्प्रदायदर्शन है, एवं ६ ठा तर्कदर्शन है। पहिले नास्तिकदर्शन को ही लीजिए। वस्तुतः नास्तिकदर्शन

के चार्वाक. बौद्ध, एवं जैन, भेद से तीन हीं विभाग हैं। बृहस्पति चार्वाकदर्शन के प्रवर्तक हैं, गोतमबुद्ध बौद्धदर्शन के, एव जिनाचार्य जैनदर्शन के प्रवर्त्तक हैं। चार्वाकदर्शन ही लौकायतिक नाम से, जैनदर्शन ही आर्हत नाम से प्रसिद्ध है। तीसरे बौद्धदर्शन के आगे जाकर शिष्यसम्प्रदायभेद से अवान्तर चार विभाग हो गए हैं। वे ही माध्यमिक, यौगाचर, सौत्रान्तिक, वैभापिक नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, एवं अन्त का जैनदर्शन हीं स्याद्वाद नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस प्रकार बौद्धदर्शन के अवान्तर चार विभागों के कारण नास्तिकदर्शन के ६ विभाग होगए हैं। इन सबका निरूपण तो तत्तन्नास्तिकदर्शनों में हीं देखना चाहिए। यहां प्रकरणसगति के लिए संक्षेप से इन का विवरण उद्धृत कर दिया जाता है। सब से पहिले चार्वाकदर्शन नाम से प्रसिद्ध लौकायतिक दर्शन ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है।

१–लौकायतिकदर्शन (चार्वाकदर्शन)

इस दर्शन के मूलप्रवर्त्तक बृहस्पति हैं। आगे जाकर बृहस्पति की सम्प्रदाय में एक बड़ा उद्भट विद्वान् हुआ है। बृस्पति के मूल मत को तूलरूप देने का श्रेय इसी व्यक्ति को प्राप्त है। यह व्यक्ति था सुप्रसिद्ध चार्वाक। यह कट्टर अनीश्वरवादी था, घोर नास्तिक था। अनीश्वरवादमूलक बार्हस्पत्य मत इसी के द्वारा एक बार सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त होगया था। अतएव तत्समय में चार्वाक "नास्तिकशिरोमणि" कहलाया, एवं इसी लिए आगे जाकर बृहस्पतिदर्शन चार्वाकदर्शन नाम से प्रसिद्ध होगया।

इस दर्शन के अनुसार आकाश नाम का कोई तत्त्व नहीं है। पृथिवी, जल, तेज, वायु प्रत्यक्षदृष्ट यह चार भूत हीं तत्त्व हैं। प्रत्यक्षप्रमाण ही इन का मुख्य प्रमाण है। आकाश नाम के तत्त्व की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं है, अतएव वह इस मत में स्थान न पासका। उक्त चारों तत्त्वों के समन्वय से जब शरीर नाम की एक संस्था बन जाती है तो उस में संयोग के कारण अपने आप क्रियाविशेष का उदय हो जाता है। उसी का नाम चैतन्य, किंवा आत्मा है। न तो नशा मादक द्रव्य में है, एवं न शरीर में है। किन्तु मादक द्रव्य का जब शरीर के साथ सम्बन्ध हो जाता है तो दोनों के संयोग से तात्कालिक मद नाम की शक्ति

उत्पन्न हो जाती है। ठीक यही परिस्थिति चेतना के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। चारों भूत सर्वथा जड़ हैं। इन में, या इन से पृथक् चेतना, किंवा आत्मा नाम की कोई नित्य वस्तु नहीं है। जब इन चारों का देहरूप से एक स्थान पर समन्वय होता है तो चारों के संयोग से मदशक्तिवत् तात्कालिक चैतन्य का उदय हो जाता है मदसंस्काररूप सम्बन्ध हटने से जिस प्रकार मद (नशा) नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार चारो भूतो के पृथक् होते ही चेतना नष्ट हो जाती है। भूतों के साथ साथ इस का भी विनाश हो जाता है। इस प्रकार मद-शक्तिसम चैतन्ययुक्त शरीर ही आत्मा है। शरीर से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई नित्य पदार्थ नहीं है। आत्मा का अनुमान लगाना निरी मूर्खता है। अनुमान प्रमाण है, इस में कोई प्रमाण नहीं है। अनुमान प्रमाण में जब कोई प्रमाण नहीं, तो अनुमान प्रमाण अप्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण ही तो अनुमान प्रमाण का साधक बनता है। जब भौतिक शरीर से अतिरिक्त आत्मा का आज तक किसी ने भी प्रत्यक्ष न किया तो, उस के सम्बन्ध में प्रत्यक्षानुबन्धी प्रमाण का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वस्तुतस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त और कोई प्रमाण है ही नहीं। प्रमाण तो एकमात्र प्रत्यक्ष (चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी प्रत्यक्ष) ही है।

पारलौकिक स्वर्गसुख नाम का कोई पदार्थ नहीं है। जो वेदादि शास्त्र पारलौकिक नाम के कल्पित सुख का विधान करते है, वे सब शास्त्र धूर्तों का वृथा प्रलाप है। किसने स्वर्ग को आखों से देखा? किसने लौट कर स्वर्गसुख का बखान किया? यह सब स्वार्थियों की स्वार्थलिलामात्र है। भोजन—स्त्री—वित्तादि ऐहलौकिक प्रत्यक्षानुभूत सुख ही स्वर्गसुख है, शरीरपीड़ा—जरा—आदि प्रत्यक्षानुभूत दुःख ही नरक है एवं शरीरनाश का ही नाम मोक्ष है। सव्यवस्थासौकर्य्य के लिए जनता अपनी ओर से जिसे व्यवस्थापक बना देती है, वही प्रजा-तन्त्राध्यक्ष राजा है। राजा ही ईश्वर है, एवं इसके अतिरिक्त अच्छेबुरे कर्मों का फल देने वाला ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नही है। अदृष्ट नाम का कोई पदार्थ नहीं है इसी मत के उपोद्बलक निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ १॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
प्रज्ञापौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥ २ ॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥ ३ ॥
मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पना ॥ ४ ॥
यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥ ५ ॥

—१—

२—चतुर्विधबौद्धदर्शन—

बौद्धदर्शन ने प्रत्यक्ष के साथ २ अनुमान को भी प्रमाण माना है। इन की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व क्षणिक है दुःखरूप है, स्वलक्षण है, शून्य है। अर्थक्रियाकारित्व ही इन की दृष्टि में सत्, किंवा सत्ता पदार्थ है। क्रियामय विश्व का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। क्षणिक क्रिया का स्वरूप अनुपलब्ध है। जब क्रिया का कोई स्वरूप ही नहीं तो हम कह सकते हैं कि यह क्रियामय विश्व केवल शून्य ही है। शून्यभाव का तृप्तिलक्षण सुख से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव इस शून्य विश्व को सर्वथा दुःखरूप ही कहने के लिए तय्यार हैं। क्रियामय विश्व की तुलना भी किसी के साथ नहीं की जा सकती। कारण स्पष्ट है। पटपदार्थ की किसी पदार्थ के साथ तुलना नहीं की जासकती। प्रतिक्षण परिवर्तनशीला क्रिया किसी अन्य क्रिया से कभी मेल नहीं खासकती। अमुक क्रिया, अथवा पदार्थ, अमुक क्रिया, अथवा अमुक पदार्थ जैसा है, यह तुलना करने का अवसर तो तभी आसकता है, कि जब कि एक ही क्षण में अनेक क्रियाओं को प्रतिष्ठित रहने का अवसर मिले। परन्तु क्षणिक क्रिया की यह प्रतिष्ठा असम्भव है। इसी आधार पर क्रियामय विश्व को हम स्वलक्षण (अपना लक्षण आप ही, अपने

जैसा आप ही) कहने के लिए तय्यार हैं। इसी आधार पर बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में निम्न लिखित सिद्धान्त प्रसिद्ध है—

"सर्वं क्षणिकं क्षणिकं, अतएव सर्वं शून्यं शून्यं,
अतएव सर्वं दुःखं दुःखं, अतएव सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्" ।

इस मत के जो पञ्चस्कंधादि और और सिद्धान्त हैं उन का स्पष्टीकरण उन्हीं के ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। यहां उक्त मत से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक श्लोकमात्र उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त होगा—

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभङ्गुरम् ॥
आर्य्यसत्त्वाख्यया तत्त्वचतुष्टयमिदं क्रमात् ॥१॥
दुःखमायतनं चैव ततः समुदयो मतः ॥
मार्गश्चेत्यस्य च व्याख्या क्रमेण श्रूयतामियम् ॥२॥
दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्त्तिताः ॥
विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कारो, रूपमेव च ॥३॥
पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् ॥
धर्म्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि हि ॥४॥
रागादीनां गणो योऽसौ समुदेति नृणां हृदि ॥
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात् समुदयः पुनः ॥५॥
क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा ॥
स मार्ग इति विज्ञेयः स च मोक्षोऽभिधीयते ॥६॥
प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणद्वितयं मतम् ॥
चतुःप्रस्थानिका बौद्धाः ख्याता वैभाषिकादयः ॥७॥

अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते ॥
सौत्रान्तिकन प्रत्यक्षग्राह्यार्थो न बहिर्म्मतः ॥८॥
आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारेण सम्मता ॥
केवलां संविदं स्वस्थां मन्यन्ते मध्यमाः पुनः ॥९॥
रागादिज्ञानसन्तानवासनोच्छेदसम्भवा ॥
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्त्तिता ॥१०॥
कृत्तिः, कमण्डलु, मौण्ड्यं, चीरं, पूर्वाह्णभोजनम् ॥
सङ्घो रक्ताम्बरत्वं च शिश्रिये बौद्धभिक्षुभिः ॥११॥
(विवेकविलास) ।

———२———

३–स्याद्वाददर्शन (६)

इस दर्शन में आत्मनित्यता का आंशिकरूप से समावेश हुआ है। इन्होंनें शरीर की अपेक्षा आत्मा को स्थायी माना है। इसी स्थायीभाव के कारण इन्होंनें कर्म्मफल का जन्मान्तर से सम्बन्ध माना है। इन के मत में जीव–अजीव नाम के दो तत्त्व हैं। जीव बोधस्वरूप है, अजीव अबोधरूप है, जैसा कि निम्न लिखित जैन सिद्धान्त से स्पष्ट है—

चिदचिद्-द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ॥
उपादेयमुपादेयं हेयं हेय च सर्वतः ॥१॥
हेयं तु कर्तृरागादि तत्कार्यमविवेकिनः ॥
उपादेयं परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥२॥

इन के मतानुसार सम्पूर्ण विश्व की वास्तविक स्थिति से परिचय रखने वाले, रागादि दोषों पर विजय प्राप्त करने वाले, त्रैलोक्यपूजित अर्हन् हीं परमेश्वर, किंवा ईश्वर हैं। इसी लिए स्याद्वादानुयायी आर्हत नाम से प्रसिद्ध हैं।

जीव-आकाश-धर्म्म-अधर्म्म-पुद्गल भेद से पांच तत्त्व भी इसी मत के समर्थक हैं। इन पांचों को वे अस्तिकाय शब्द से सम्बोधित करते हैं। यह शब्द "तत्त्व" का पर्य्याय है। इस दृष्टि से ५ तत्त्व हो जाते हैं। इन में पहिला जीवतत्त्व संसारीजीव, मुक्तजीव भेद से दो प्रकार का है। कर्म्मसन्तानवश एक भव (लोक) से दूसरे भव में आते जाते रहने वाले जीव संसारी हैं। इन संसारी जीवों के भी समनस्क संसारीजीव, अमनस्क संसारीजीव ये दो विभाग हैं। इन में भी अमनस्कजीव के त्रसजीव, स्थावरजीव भेद से दो विभाग हैं। दो इन्द्रियों वाले शङ्ख-गण्डादि अमनस्कजीव त्रसजीव कहलाते हैं, पृथिवी--जल--तेज--वायु--वनस्पति ये पांच स्थावरजीव हैं, एवं भवान्तरसम्बन्ध से विमुक्त जीव मुक्तजीव हैं।

आकाश-धर्म्म-अधर्म्म यह तीन अस्तिकाय (तत्त्व) अजीव के ही विवर्त्त हैं। स्पर्श-रस-वर्णयुक्त पदार्थ पुद्गल हैं। यह पुद्गल भी अणुपुद्गल--संघपुद्गल भेद से दो प्रकार का है।

कितने हीं स्याद्वादियों के मतानुसार जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन सब तत्त्वों का स्पष्टीकरण तो जैनदर्शन में ही देखना चाहिए। इस सम्बन्ध में केवल निम्न लिखित सूत्र पर ही दृष्टि डाल लेना पर्य्याप्त है, एवं इस से स्याद्वाददर्शन का मूल लक्ष्य अवगत हो जाता है।

* "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः"

—३—

यह है षड्विध नास्तिकदर्शनमत का संक्षिप्त निदर्शन। इस की उपादयेता, अनु-पादेयता के सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा। अब क्रमप्राप्त प्राकृतिकदर्शन नाम के

* उक्त ६ ओं नास्तिकदर्शनों में मध्य के चार नास्तिक दर्शन (बौद्धदर्शन) "वैनाशिक" इस एक नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

दूसरे आस्तिक षड्दर्शन का विचार कीजिए। इन के सम्बन्ध में केवल नाममात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं। प्राकृतिकदर्शन क्रमशः १-सांख्यप्रवचन, २-शैव, ३-पाशुपत, ४-कारुक, ५-कापालिक, ६-वैशेषिक इन नामों से प्रसिद्ध है। इन में मध्य के (शैवादि-कारुकान्त) चारों दर्शन "माहेश्वरदर्शन" इस एक नाम से भी व्यहृत हुए हैं। तीसरा आस्तिक षड्दर्शन प्रपत्तिदर्शन है। इस के प्रवर्त्तक प्रपन्नाचार्य्य नाम से प्रसिद्ध हैं। यह दर्शन क्रमशः-१-निर्विशेषाद्वैत, २-विशिष्टाद्वैत, ३-द्वैत, ४-शुद्धाद्वैत, ५-द्वैताद्वैत, ६-चैतन्याद्वैत इन ६ भागों में विभक्त है। इन में मध्य के (विशिष्टाद्वैतादि-द्वैताद्वैतान्त) चार दर्शन "भागवतदर्शन" नाम से भी प्रसिद्ध हैं। चौथा भक्तिदर्शन है। इस के अनुयायी उपासक कहलाते हैं। इस के ६ विभाग—१-सौर, २-शाक्त, ३-शैव, ४-वैष्णव, ५-गाणपत्य, ६-स्मार्त्त इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन में मध्य के (शाक्तादि-वैष्णवान्त) चार दर्शन "प्रपन्नदर्शन" इस एक नाम से भी प्रसिद्ध हैं। पाचवां सम्प्रदायदर्शन है। इस के ६ विभाग १--ऊर्ध्वाम्नाय, २--पूर्वाम्नाय ३-दक्षिणाम्नाय, ४-पश्चिमाम्नाय, ५-उत्तराम्नाय, ६-अधराम्नाय नामों से प्रसिद्ध हैं। इन में मध्य के (पूर्वाम्नायादि-उत्तराम्नायान्त) चार दर्शन "दैशिकदर्शन" नाम से भी व्यहृत हो सकते हैं। ६ ठा तर्कदर्शन है। इस के अवान्तर विभाग—१-शब्द, २-मीमांसा, ३-न्याय, ४-अलङ्कार, ५--पुराण, ६--इतिहास इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन ६ओं को हम दर्शन न कह कर दर्शनाभास (कल्पित दर्शन, किंवा दर्शन की प्रतिच्छाया) ही कहेंगे। इन में मध्य के (मीमांसादि-पुराणान्त) चारों "तार्किक" नाम से भी पुकारे जाते हैं। इस प्रकार सब मिल कर ६ के ३६ दर्शन हो जाते हैं, जैसा कि आगे के परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है। A

A. यदि इन सब के विषयों का दिग्दर्शन कराया जायगा तो विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो जायगा। अभी हमे दर्शन का वैज्ञानिक दृष्टि से समन्वय करना है। अतः यहां इन के नाममात्र उद्धृत कर दिए गए हैं। इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को "भारतीयदर्शन और उन का समन्वय" नाम का स्वतन्त्र ग्रन्थ ही देखना चाहिए।

प्रथममतपरिलेखः —— (द्वादशदर्शनानि)-२२ पृष्ठ

१–लोकायतिक-(चार्वाक)–दर्शनम्	१–न्यायदर्शनम्
२–वैभाषिकदर्शनम्	२–वैशेषिकदर्शनम्
३–क्षणिकवैज्ञानिकदर्शनम्	३–सांख्यदर्शनम्
४–सौत्रान्तिकदर्शनम्	४–योगदर्शनम्
५–माध्यमिकदर्शनम्	५–वेदान्तदर्शनम्
६–स्याद्वादिकदर्शनम्	६–मीमांसादर्शनम्
नास्तिकदर्शनानि षड्विधानि अनीश्वरतन्त्राणि लोकतन्त्राणि वा	आस्तिकदर्शनानि षड्विधानि ईश्वरतन्त्राणि आत्मतन्त्राणि वा

२–द्वितीयमतपरिलेखः– (अष्टादशदर्शनानि)

१—लौकायतिकम्	१—न्यायः	१—सौरम्
२—वैभाषिकम्	२—वैशेषिकम्	२—शाक्तम्
३—सौत्रान्तिकम्	३—सांख्यम्	३—शैवम्
४—क्षणिकवैज्ञानिकम्	४—योगः	४—वैष्णवम्
५—माध्यमिकम्	५—वेदान्तः	५—गाणपत्यम्
६—स्याद्वादिकम्	६—मीमांसा	६—स्मार्त्तम्
इति नास्तिकानि षड्दर्शनानि कर्मतन्त्राणि १	इति नैगमिकानि षड्दर्शनानि ज्ञानतन्त्राणि २	इत्यागमिकानि षड्दर्शनानि भक्तितन्त्राणि ३
कर्मयोगे ६	ज्ञानयोगे ६	भक्तियोगे ६

३—तृतीयमतपरिलेखः—(षट्त्रिंशद्दर्शनानि)—२३ पृष्ठ

१—लौकायतिकाः	१—सांख्यप्रवचनाः	१—निर्विशेषाद्वैतम्	१—सौराः	१—ऊर्ध्वाम्नायः	१—शाब्दिकाः
२—माध्यमिकाः	२—शैवाः	२—विशिष्टाद्वैतम्	२—शाक्ताः	२—पूर्वाम्नायः	२ मीमांसकाः
३—वैज्ञानिकाः	३—पाशुपताः	३—द्वैतम्	३—शैवाः	३—दक्षिणाम्नायः	३—नैय्यायिकाः
४—सौत्रान्तिकाः	४—कारुकाः	४—शुद्धाद्वैतम्	४—वैष्णवाः	४—पश्चिमाम्नायः	४—आलङ्कारिकाः
५—वैभाषिकाः	५—कापालिकाः	५—द्वैताद्वैतम	५—गाणपत्याः	५—उत्तराम्नायः	५—पौराणिकाः
६—स्याद्वादिकाः	६—वैशेषिकाः	६—चैतन्याद्वैतम्	६—स्मार्त्ताः	६—अधराम्नायः	६—ऐतिहासिकाः
इति षट्-नास्तिकाः ६	इति षट्-प्राकृतिकाः ६	इति षट् प्रपन्नाचार्याः ६	इति षट्-उपासकाः ६	इति षट्-साम्प्रदायिकाः ६	इति षट्-तार्किकाः ६

इति—अष्टादशदर्शनानि—अन्यानि १८	३६	इति—अष्टादशदर्शनानि—अन्यानि १८

३—प्रकारान्तरेण तृतीयमतपरिलेखः—(षट्त्रिंशद्दर्शनानि)—२७ पृष्ठ

अनीश्वराः	केवलेश्वराः नैगमिकाः	प्रकृतिमदीश्वराः नैगमिकाः	विभूतिमदीश्वराः नैगमागमिकाः	आम्नायपराः शुद्धागमिकाः	ऐकदेशिकाः	भारतीयदर्शनवादः
१-लौकायतिकाः (१)	१-सांख्यप्रवचनाः (१)	१-निर्विशेषाद्वैतवादः (१) (शं०)	१-सौराः (१)	१-उर्ध्वाम्नायः (१)	१-शाब्दिकाः (१)	षड्दर्शनान्यन्ये भा०
२-माध्यमिकाः (१)	२-शैवाः (१)	२-विशिष्टाद्वैतवादः (१) (रा०)	२-शाक्ताः (१)	२ पूर्वाम्नायः (१	२-मीमांसकाः (१	षड्दर्शनान्यन्ये
३-वैज्ञानिकाः (२)	३-नकुलीशपाशुपताः २	३-द्वैतवादः (२) (मा०)	३-शैवाः (२)	३-दक्षिणाम्नायः (२)	३-नैय्यायिकाः (२(	षड्दर्शनान्यन्ये
४-सौत्रान्तिकाः (३)	४-कारुकसिद्धान्तिनः ३	४-शुद्धाद्वैतवादः (३) (वा०)	४-वैष्णवाः (३)	४-पश्चिमाम्नायः (३)	४-आलङ्कारिकाः ३	षड्दर्शनान्यन्य
५ वैभाषिकाः (४)	५-कापालिकाः (४)	५-द्वैताद्वैतवादः (४) (नि०)	५-गाणपत्या (४)	५-उत्तराम्नायः (४)	५-पौराणिकाः ४)	षड्दर्शनान्यन्य
६-स्याद्वादिकाः (१)	६-वैशेषिकाः (१)	६-चैतन्यवादः (१)	६-स्मार्त्ताः (१)	६-अधराम्नायः १)	६-ऐतिहासिकाः १)	षड्दर्शनान्यन्ये
इति-षट्नास्तिकाः ६	इति षट्खतन्त्रेश्वराः ६	इति-षट्प्रकृतितन्त्रेश्वराः ६	इति-षट्विभूतितन्त्रेश्वराः ६	इति-षट्साम्प्रदायिकाः ६	इति-षट्दार्शनिकाभासाः ६	षट्त्रिंशद्दर्शनानि
१ एषां मध्यमाः— चत्वारः— वैनाशिकाः	२ एषां मध्यमाः— चत्वारः— माहेश्वराः	३ एषां मध्यमाः— चत्वारः— भागवताः	१ एषां मध्यमाः— चत्वारः— प्रपन्नाः	२ एषां मध्यमाः— चत्वारः— दैशिकाः	३ एषां मध्यमाः— चत्वारः— तार्किकाः	स एष सर्वदर्शनसंग्रहः

१—अवान्तर ६ भागो से युक्त उक्त ६ ओं दर्शनों का स्पष्टीकरण कुछ पङ्क्तियो में हीं समाप्त होजाता है। "वेदशास्त्र किसी दृष्टि से प्रमाण नही है, युक्ति द्वारा ही सब व्यवहारों का समन्वय हो जाता है" यह नास्तिक नाम के प्रथमदर्शनषट्क का निष्कर्ष है।

२—"ईश्वर विश्वनिर्म्माण में किसी अन्यसाधन की अपेक्षा नही रखता। वह स्वतन्त्र ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छामात्र से विश्वनिर्म्माण में प्रभु है" महेश्वर लोगो का यही निष्कर्ष है। अतएव वे स्वतन्त्रेश्वर (वादी) कहे जासकते हैं।

३—"ईश्वर स्वयं विश्वनिर्म्माण नही करता, अपितु वह प्रकृति द्वारा ही विश्वरचना मे प्रवृत्त होता है। आप्तकाम ईश्वर के लिए विश्वनिर्म्माणार्थ प्रयास मानना ईश्वर की ईश्वरता में, किंवा ईश्वर की महिमा में ठेस लगाना है" भागवत लोगो का यही सिद्धान्त है। अतएव वे प्रकृतितन्त्रेश्वर (वादी) कहला सकते हैं। स्वतन्त्रेश्वर, एवं प्रकृतितन्त्रेश्वर दोनों हीं स्वसिद्धान्त की पुष्टि के लिए वेदप्रमाण को आगे रखते हैं। अतः हम इन दानों दर्शनषट्को को "नैगमिक" (वेदानुयायी) कह सकते हैं।

४—"सूर्य्य, दुर्गा, शिव, विष्णु, गणपति आदि देवता व्यापक ईश्वर की विभूतिए हैं। अपनी इन्हीं विभूतियों के द्वारा ईश्वर विश्वनिर्म्माण में समर्थ हुआ है। ईश्वर के साथ यदि कोई साक्षात् सम्बन्ध करना चाहे तो, यह उसकी भूल है। इस के लिए उसे ईश्वरविभूतिरूप देवता का ही आश्रय लेना पड़ेगा। देवता की उपासना करनी पड़ेगी। इन देवताओं की अनन्योपासना करने से ही सब कुछ सिद्ध है" प्रपन्नाचार्यों का यही सिद्धान्त है देवता की अनन्योपासना ही प्रपत्ति कहलाती है इसी प्रपत्ति के सम्बन्ध से इन उपासकों को प्रपन्न कहा जाता है। यह लोग वेदशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए, उपासना के सम्बन्ध में आगमशास्त्रोक्त उपायों से काम लेते हैं। अतएव हम इन्हे "नैगमागमिक" नाम से सम्बोधित कर सकते है। ईश्वरविभूति की, दूसरे शब्दों में विभूति (देवता) द्वारा ईश्वर की उपासना करने के कारण ही इन्हें "विभूतितन्त्रेश्वर" कहा जासकता है।

स्वतन्त्रेश्वर साक्षात् रूप से प्रकृतितन्त्रेश्वर प्रकृति के द्वारा, एवं विभूतितन्त्रेश्वर विभूति (देवता) के द्वारा उस ईश्वर की ही उपासना करते हैं। ईश्वरोपासना ही इन का मुख्य उद्देश्य है, अतएव इन तीनों को ही हम "उपासक" कहने के लिए तय्यार हैं।

५—"ईश्वरविभूतिरूप सूर्य्य-शक्ति-शिव-विष्णु-गणपति आदि देवताओं को लक्ष्य बना कर तत्तत् सिद्धिएं प्राप्त करना, एवं उन सिद्धियों से लोक कल्याण करना ही पुरुष का परम पुरुषार्थ है" दैशिक लोगों का यही सिद्धान्त है। आगमाम्नायपरक विशुद्ध आगमिक इन लोगों का कहना है कि 'ईश्वर स्वतन्त्ररूप से सृष्टिनिर्म्माण करता हो, प्रकृति के द्वारा विश्वरचना में समर्थ होता हो, अथवा प्रकृत्यवयवरूप, स्वविभूतिलक्षण सूर्य्य–शिव–गणपति-आदि देवताओं के द्वारा विश्वनिर्म्माण में समर्थ होता हो, इन सब प्रपञ्चों में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, और न इन प्रपञ्चों से हम संसार का कोई कल्याण ही कर सकते।

केवलेश्वरवादी विशुद्ध नैगमिक (केवल वेदनिष्ठ) स्वतन्त्रेश्वरानुगामी माहेश्वरलोग, प्रकृतिमदीश्वरवादी नैगमिक (वेदनिष्ठ) प्रकृतितन्त्रेश्वरानुगामी भागवतलोग, एवं विभूतिमदीश्वरवादी नैगमागमिक (वेदपुराणनिष्ठ) विभूतितन्त्रेश्वरानुगामी प्रपन्नलोग क्रमशः ईश्वर–प्रकृति-देवता (अवतार) की उपासना करते हुए सम्भव है अपने आत्मा का कल्याण करलें। परन्तु इन तीनों ही उपासनामार्गों से संसार को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। अतएव स्वार्थसाधक, केवल व्यक्तिकल्याणपरक तीनो ही मार्ग श्रेयः पन्था नहीं माने जा सकते।

प्रकृतियुक्त पुरुष (ईश्वर) ने अपनी देवविभूतियो को तत्तत् सिद्धिएं प्रदान कर उन्हीं के द्वारा संसार का सञ्चालन कर रक्खा है। न ईश्वर सृष्टिनिर्माण करता, न ईश्वर की प्रकृति ही स्वतन्त्र रूप से कुछ कर सकती, एवं न प्रकृति के अवयवरूप सूर्य–शक्ति–शिवादि देवता ही स्वतन्त्ररूप से कुछ कर सकते। इन्हें जो सिद्धिएं (शक्तिविशेष) प्राप्त हुई हैं, उन्हीं शक्तिरूपा सिद्धियों से ये विश्वनिर्माण में एवं विश्वरक्षा में समर्थ होते हैं। केवल शक्तिमान् की उपासना का कोई फल नहीं। हमें शक्तिमान् की उपासना न कर उसकी शक्तियों की, सिद्धियों की उपासना करनी चाहिए। शक्तिलक्षणा सिद्ध्युपासना ही हमारा परम पुरुषार्थ है।

सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–पवन आदि तत्तद्देवताविभूतियों ने इसी सिद्धि के बलपर विश्व में अपना साम्राज्य प्रतिष्ठित कर रक्खा है। हमारा भी यही कर्तव्य होना चाहिए कि इन प्राणदेवताओं का का स्वरूप पहिचानें, इन की सिद्धियो का परिज्ञान प्राप्त करें, उस ज्ञान के आधार पर प्राणदेवताओं को लक्ष्य बनाते हुए तत्तत् सिद्धिंए प्राप्त करें, एवं उन सिद्धियो के द्वारा देवविभूतियों की तरह लोककल्याण करते हुए अपना कल्याण करें।

कहना न होगा कि आगमशास्त्र का उक्त सिद्धान्त लोककल्याणमूलक सिद्धिभाव को अपने गर्भ में रखता हुआ तत्कालीन मानव समाज को इतर तीनो मार्गों की अपेक्षा विशेषरूप से रुचिकर प्रतीत हुआ। यही कारण था कि कुछ समय के लिए महेश्वर-भागवत-प्रपन्न तीनों उपासकों का स्थान इन दैशिक आगमिकों ने छीन लिया। आगमोक्त सम्प्रदाय के विस्तार का आगे जाकर तो ऐसा दुरुपयोग हुआ कि, जिससे वेदनिष्ठा एक प्रकार से लुप्त ही होगई।

६—छठा विभाग तार्किकषड्दर्शन का है। पूर्व के तृतीय परिलेख में हमने इसे दर्शनाभास कहा है। सचमुच यह एकदेशी दर्शन है। कारण इस का यही है कि सृष्टिविद्याप्रतिपादकशास्त्र ही दर्शन शब्द का अवच्छेदक है। जो शास्त्र सृष्टिविद्या को अपना प्रधान लक्ष्य बनाता है, उसे ही दर्शनशास्त्र कहा जाता है। इधर इस तार्किक दर्शन में जिन विषयों का निरूपण हुआ है, उन की दृष्टि से सृष्टिविद्याविषय गौण पड़ जाता है।

उदाहरण के लिए शाब्दिक दर्शन को ही लीजिए। इन का मुख्य लक्ष्य पदविद्या, किंवा शब्दब्रह्म है। ये वर्ण-अक्षर-पद-वाक्य-स्फोट आदि शाब्दिक विवर्त्त को प्रधान मानते हुए प्रसंगतः ईश्वर को अपना लक्ष्य बनाते हैं। कारण इस का यही है कि शब्दब्रह्मविद्या का स्फोटपदार्थ ही परब्रह्मविद्या का ईश्वरपदार्थ है। स्फोट अव्ययेश्वर का अंश है। इधर स्फोट ही शाब्दिकों का मुख्य लक्ष्य है। चूंकि यह ईश्वरविवर्त्त के, दूसरे शब्दों में सृष्टिविद्याविवर्त्त के अंशरूप स्फोट को प्रधान लक्ष्य मानते हैं, अतएव इन दर्शन को हम अवश्य ही (एकदेशीदर्शन मानते हुए) दर्शनाभास कहने के लिए तय्यार हैं।

यही दशा पूर्वमीमांसादर्शन की है। मीमांसक वाक्यन्यायविद् कहलाते हैं। वेद-वाक्य कर्म्मकाण्ड-ज्ञानकाण्ड भेद से दो भागों में विभक्त है। इन में कर्म्मब्रह्म का स्वरूप भिन्न है, ज्ञानब्रह्म का स्वरूप भिन्न है। दोनों का प्रतिपाद्य विषय भी सर्वथा विभक्त है। इन द्विविध वाक्यों के समन्वय के लिए ही पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा नाम के दो दर्शन हमारे सामने आए हैं। इन में पूर्वमीमांसा का तो प्रधान विषय वाक्यसमन्वय ही है। वेदवाक्यों के प्रसङ्ग से ईश्वर की ओर लक्ष्य देते हुए ये भी गौण ही माने जायँगे। वाक्यार्थसिद्धि ही इन का मुख्य लक्ष्य हैं, वाक्यद्वारा ही ये ईश्वरसिद्धि में अग्रेसर हैं। विश्वप्रभवदृष्टि से ये ईश्वर का निरूपण नहीं करते। अतएव इन वाक्यविदो को सृष्टिविद्याप्रतिपादक नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में इस मीमांसादर्शन को भी हम (एकदेशी मानते हुए) दर्शनाभास ही कहने के लिए तय्यार हैं।

इस प्रकार एक नास्तिकदर्शनषट्क, एवं पांच आस्तिकदर्शनषट्क भेद से यथाकथंचित् दर्शनशास्त्र के अवान्तर ३६ विभाग होजाते हैं। दर्शन का दृष्टिमूलक (सिद्धान्तमूलक) ज्ञान से सम्बन्ध है, यहां प्रत्यक्षमूलक (व्यवहारमूलक) विज्ञान का एक प्रकार से अभाव ही है, जैसाकि पाठक अगले प्रकरण में देखेंगे। इन सभी दर्शनतन्त्रों में स्थूलदृष्टि से विचार करने पर यद्यपि हमें विरोध प्रतीत होता है। परन्तु जब सूक्ष्मदृष्टि से इन तन्त्रों के निरूपणीय विषयों की मीमांसा की जाती है तो हमें इस सिद्धान्त पर पहुँचना पड़ता है कि, सर्वथा विभक्त तत्त्व-विशेषों की निरूपणीय दृष्टि से भिन्न भिन्न मार्गों का आश्रय लेते हुए भी ये दर्शनतन्त्र लक्ष्यदृष्टि से किसी एक ही पथ के अनुगामी बने हुए हैं—

"नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णवमिव"।

—क—ख—ग—घ—

—o—

ङ—दर्शनतत्त्वसमन्वय

* श्री *

ङ—दर्शनतत्त्वसमन्वय

दर्शन १२ हों, १८ हों, ३६ हों, अथवा इस से भी अधिक हो, इन विवादों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं हैं। विद्वानो के वाग्विलास से सभी कुछ सम्भव है। परन्तु परमार्थ-दृष्टि की अपेक्षा से वाग्विलास दूसरी चीज है, एवं वस्तुस्थिति दूसरी चीज है। इस वस्तु-स्थिति का प्रधान आलम्बन वृद्धव्यवहार है। भारतीय वृद्धव्यवहार में न १२ दर्शन प्रसिद्ध हैं, न १८, एवं न ३६। आप एक सामान्य मनुष्य से भी यदि दर्शनसंख्या के सम्बन्ध में प्रश्न करेंगे तो वहां आपको उत्तर में ६ संख्याएं हीं उपलब्ध होगी। "षड्दर्शन" शब्द सुप्रसिद्ध है। आबालवृद्ध षड्दर्शन शब्द का ही उद्घोष करते देखे गए हैं। शक्तिग्राहकशिरोमणि इस वृद्धव्यहार के आधार पर हम कुल ६ दर्शन हीं मानने के लिए तय्यार हैं। आस्तिक-नास्तिक दोनों दर्शनों का इन्हीं ६ ओ में अन्तर्भाव है। वृद्धव्यहार के अतिरिक्त विज्ञानदृष्टि भी इसी पक्ष का समर्थन कर रही है, जैसा कि अनुपद मे ही स्पष्ट होने वाला है। विज्ञानदृष्टि के अनुसार दर्शन ६ ही कैसे होते है? पहिले यही विचार कीजिए।

"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि" इस आदेश के अनुसार हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि जो वस्तु उपादेय हो वह फिर चाहे किसी के घर की हो, हमें अपने उपयोग में ले लेना चाहिए। नास्तिक दर्शन एक आस्तिक की दृष्टि से नगण्य वस्तु है, अतएव वह अनुपादेय है। फिर भी नास्तिक दर्शन ने जो जो विषय उपादेय बतलाए है अथवा जिन २ विषयो को हमने उपादेय समझ रक्खा है, उन के परिग्रहण में हमें कोई लज्जा नहीं करनी चाहिए। विज्ञानदृष्टि से जिस दर्शन शब्द का आज हम विचार करने चले हैं, उस दर्शन शब्द के यथार्थ परिज्ञान के लिए हमें नास्तिक दर्शन का ही सहारा लेना पड़ेगा। जैनदर्शन ने मुक्ति के तीन प्रधान उपाय मानें है। वे तीनों उपाय क्रमशः १-सम्यग्दर्शन २—सम्यग्ज्ञान ३-सम्यक्चारित्र्य इन नामो से प्रसिद्ध है। जैसा कि—'सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वा०सू०१) इस सूत्र से स्पष्ट है। यद्यपि जैन-दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि

*व्याख्यानाओं नें इन तीनों उपायो का अर्थ दूसरी तरह मे किया है तथापि वास्तविक दृष्टि से विचार करने पर हम इन के अर्थों के सम्बन्ध में किसी दूसरे ही निर्णय पर पहुंचते हैं।

विश्व का स्वरूप कैसा है? विश्व ऐसा कब, एवं क्यों बन गया? विश्व में रह कर मनुष्य का क्या कर्त्तव्य हो जाता है? किन कर्म्मों से मनुष्य सुखी दुःखी होता है? इन सब प्रश्नों का विश्वविद्या से सम्बन्ध है। विश्वस्वरूपपरिज्ञान मे ही उक्त जिज्ञासा शान्त होती है। यह विश्वविद्या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य भेद से तीन भागो में विभक्त है।

जिन विद्वानों नें विश्व का स्वरूप जैसा देखा, वैसा शब्द द्वारा उन्हों नें हमारे सामने रक्खा, परन्तु सिद्धान्तरूप से। इस अपने दृष्ट अर्थ का पहिले सिद्धान्तरूप से अवग्रहात्मक दूसरों के सामने प्रदर्शन करना ही "दर्शन" है। इस दर्शन से साधारण ज्ञान का ही उदय होता है। अतएव दार्शनिक ज्ञान को हम अवग्रहज्ञान कहने के लिए तय्यार हैं। "वयमहं जानामि–इदमपि जानामि" इस निश्चयात्मक ज्ञान को जैनदर्शन मे "अवगम" कहा है, इसी के लिए संस्कृत साहित्य में "अवगतम्" (जानलिया–समझलिया–समझगए–जानगए) शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं इसी को तार्किक सम्प्रदाय में "प्रातिज्ञान" कहा गया है।

---

* जिस रूप से भगवान् अर्हन् नें जीव के कल्याण मार्ग का प्रतिपादन किया है, उन उपायों पर (विषयान्तर सम्बन्धी विपरीत अभिनिवेश को छोड़ते हुए) पूर्ण श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

जीव का जो प्रातिस्विक स्वभाव है, उसी में प्रतिष्ठित जीव मे संसय–मोह रहित जो अवबोध हो जाता है, वही सम्यग्ज्ञान है।

सांसारिक कर्म्मबन्धन के उच्छेद के लिए संलग्न पूर्णश्रद्धालु, एवं पूर्णज्ञानी का सब प्रकार के पाप कर्म्मों से मुक्त हो जाना ही साम्यक्चारित्र्य है। यह तीनों मिल कर ही मोक्ष के कारण हैं। केवल दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य से मुक्ति नहीं हो सकती। दर्शन से ज्ञान होता है, ज्ञान से चारित्र्य का उदय होता है, सर्वान्त में निर्वाण पद मिलता है।

अवगमात्मक, किंवा निश्चयात्मक इस पार्ष्टिज्ञान के उदय में जैनदर्शनानुसार **अवग्रह–ईहा–धारणा** यह तीन व्यापार और कारण माने गए हैं। इन के भी अवान्तर अनेक भेद होजाते हैं। लगभग १५–१६ व्यापारों के अनन्तर उक्त अवगम ज्ञान का उदय होता है। घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय के सामने रक्खा है। घटरूप के साथ रूपग्राही चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध से घट का रूप (आकाररूप* एवं वर्णरूप) चक्षुपटल पर प्रतिबिम्बित होजाता है, यही घटज्ञान का पहिला पर्व है। यह इन्द्रिय[A] का विषय के साथ, किंवा विषय का इन्द्रिय के साथ एक प्रकार का स्पर्शमात्र है। इसी स्पर्श का नाम "**अवग्रह**" है, यही प्राथमिक ज्ञान है। दूसरे शब्दों में ऐन्द्रियक ज्ञान का ही नाम अवग्रह है।

चक्षुरिन्द्रिय के साथ प्रज्ञान मन का सम्बन्ध रहता है। विना प्रज्ञान मन के सहयोग के चक्षु कभी रूपज्ञान नहीं कर सकता। विना मन के आख फाड़े हुए भी हम कुछ नहीं देखते। उस समय हमें "**हमारा मन और तरफ चला गया था, इस लिए नही देख सके**" यही कहना पड़ता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों में चक्षुरिन्द्रिय मेंही प्रज्ञान मन का पूर्णविकास रहता है।

---

* १२ प्राणों की समष्टि सूर्य्य है। सूर्य्यगत इन्द्रप्राण वर्णरूप का, एवं त्वष्टाप्राण आकाररूप का ग्राहक एवं प्रवर्त्तक है। सूर्य्य से ही चक्षुरिन्द्रिय की उत्पत्ति मानी गई है। सूर्य्यवत् तत्कार्य्यरूप चक्षु में भी इन्द्र-त्वष्टा दोनों प्राण हैं। इन्हीं दोनो मे चक्षु पुरोऽवस्थित वस्तु, के आकार एवं वर्णरूप के ग्रहण मे समर्थ होती है।

A इन्द्रियो के सम्बन्ध में दर्शन का यह सिद्धान्त है कि चक्षु के अतिरिक्त सब इन्द्रिएं अप्राप्यकारी । अर्थात् घ्राण-रसना-श्रोत्र-त्वगादि अन्य इन्द्रिएं विषय पर नही जातीं विपय इन पर आते हैं। परन्तु चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारी है। इस पर विषय नहीं आता, यह विषय पर जाती है। इस दृष्टि से हमने "**इन्द्रिय का विषय के साथ**" यह कहा है। परन्तु "**सर्वाणीन्द्रियाणि–अतीन्द्रियाणि**" इस विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार चक्षु भी इतर इन्द्रियें की तरह अप्राप्यकारी ही है। इसी विज्ञानदृष्टि से–"**किंवा विषय का इन्द्रिय के साथ**" यह कहा गया है।

मन की स्वाभाविक वृत्ति "मनीषा" है। जिस में इस वृत्ति का पूर्ण उदय रहता है, वह मनीषी कहलाता है। जो तात्पर्य्य उर्दूभाषा के "मुन्शी" शब्द का है उस अर्थ में मनीषी शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि सभी इन्द्रियो के साथ मन का सम्बन्ध है। बिना मन के शब्द गन्ध स्पर्श-रस आदि किसी विषय का अनुभव नहीं हो सकता। तथापि चक्षु में चूंकि इसका पूर्ण उदय है, अतएव चक्षुपटल को ही "मनीषी" कहा जाता है। यही चाक्षुष मनीषी लोकभाषा में "माणम्या" नाम से प्रसिद्ध है। यह शब्द मनीषी, किंवा मानम का ही अपभ्रंश है। चक्षु आध्यात्मिक सूर्य्य है, मन सोम है। सूर्य्यगत इन्द्र के साथ सम्बद्ध सोम प्रदीप्त हो जाता है। अतएव चक्षुगत मन चक्षुरिन्द्रिय में पूर्ण विकसित रहता है। इस पूर्ण विकास का परिणाम यह होता है कि और और इन्द्रियो की अपेक्षा चक्षुद्वारा मन अत्यधिक मात्रा में खर्च होता रहता है। जिस का चक्षुपटल अवरुद्ध हो जाता है, वह प्रज्ञाचक्षु (सूरदास-अन्ध) कहलाता है। आखवालो की अपेक्षा प्रज्ञाचक्षु की स्मरणशक्ति तीव्र होती है। क्योंकि इसका प्रज्ञानमन चक्षुमार्ग के अवरुद्ध होजाने से अधिक मात्रा में खर्च नहीं होता।

अस्तु. कहना हमें यह है कि इन्द्रियद्वारा आगत विषय प्रज्ञानमन पर जाता है। प्रज्ञानमन के साथ बुद्धि सम्बद्ध रहती है। फलतः मन के ऊपर प्रतिबिम्बित विषय बुद्धि पर जाता है। बुद्धि के साथ आत्मा का सम्बन्ध है-("आत्मा बुद्ध्या समेत्य"—पा०शि०)। फलत. बुद्धिगत विषय आत्मा पर पहुँच जाता है। इस प्रकार इन्द्रियार्थों को (ऐन्द्रियक विषयों को) मन एवं बुद्धिद्वारा आत्मा तक पहुँचाने के लिए इन्द्रिय—मन—बुद्धि का जो प्रयास है, चेष्टा है. अन्तर्व्यापार (प्राणव्यापार—कृति—यत्न—कोशिश) है, उसी का नाम "ईहा" है। अवग्रह के अनन्तर यही ईहा व्यापार होता है।

इस ईहा का परिणाम यह होता है कि इन्द्रियस्थ विषय-मन—बुद्धि के द्वारा आत्मा में "इदमित्थम्"-रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। बुद्धि विश्वास कर लेती है कि मैंने (आत्माने) इसे समझ लिया, इसी का नाम अवगम है। निश्चयात्मक ज्ञान ही अवगम है। इस अवगम से आत्मा में (मनोबुद्धियुक्तआत्मा में) उस विषय का संस्कार होजाता है। इसी संस्कार को "धारणा"

कहा जाता है . इसी को आस्तिक दर्शन वासनासंस्कार कहता है । इसी संस्कार के बल से आगे के व्यवहार प्रवाहित रहते हैं । यही धारणासंस्कार पार्ष्टिज्ञान है । साधारण भाषा में यों समझिए कि, पहिले विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है । मन बुद्धि के ईहारूप व्यापार से "मैं घड़े को पहिचान गया" इत्याकारक घट का ज्ञान उत्पन्न होता है ।' अनन्तर "मैं घड़े को पहिचान गया, यह भी पहिचान गया'' इत्याकारक पार्ष्टिज्ञान होता है। सचमुच हमें यह अनुभव होता है कि जैसे हम "घट जान गए" इस बात को भी जान गए हों । हम घड़ा जान रहे हैं, वास्तव में इस बात को भी जान रहे हैं । यही अवगमात्मिका धारणा है, यही ज्ञान का अन्तिम पर्व है, एवं यही विषयप्रत्यक्ष, किंवा विषयसाक्षात्कार है ।इस प्रकार जैनदर्शनानुसार प्रत्यक्षज्ञान में अवग्रह-ईहा-अवाय-(अवगम)-धारणा-यह चार पर्व होजाते हैं ।

उक्त चारों पर्वों में से हमारा दर्शन शब्द इन्द्रियसम्बन्धी अवग्रह नाम के प्राथमिक ज्ञान का ही अभिनय कर रहा है । दर्शनज्ञान का महत्त्व अवग्रहज्ञान से अधिक नहीं माना जा सकता । दूसरे ने एक बात देखी. उस द्रष्टा से हमनें सहसा सुनी । इस श्रवण से हमें उस विषय का उतना सा ही ज्ञान होता है, जितना सा कि ज्ञान ईहा अवाय—धारणा रहित विषयस्पर्शरूप इन्द्रिय से होता है । यह सर्वथा सामान्यज्ञान है । दर्शन केवल दर्शन है, दृष्टिरूप ऐन्द्रियक सामान्य ज्ञान है । विषयदर्शनमात्र से अवग्रहात्मक जो सामान्य ज्ञान होता है, वही ज्ञान दर्शनशास्त्र से होता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भारतीय विद्वानों नें इस शास्त्र को "दर्शन" शब्द से सम्बोधित किया है । द्रष्टा के दर्शन, किंवा दृष्टि के सम्बन्ध में श्रोता के लिए उस श्रुत विषय के सम्बन्ध में साक्षात्कार करने के लिए कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं रह जाता । सुन लेने मात्र से ही श्रोता का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है ।

उदाहरण के लिए यो समझिए कि व्यासपीठ पर विराजमान एक कथावाचक महोदय श्रीमद्भागवत के ज्योतिश्चक्र (खगोल) का स्वरूप सुना रहे हैं । श्रोतागण तन्मय होकर सुन रहे हैं । "सूर्य्य वहां है, चन्द्रमा वहां है, ग्रहसंस्था का ऐसा सन्निवेश क्रम है, खरसामों से

सूर्य्यग्रहण होता है, सिंही से चन्द्रग्रहण होता है, अपांवत्स नक्षत्र वृष्टि का अधिष्ठाता है, शिशुमारचक्र का दर्शन पुण्यप्रद है" इन सारी विद्याओं को श्रोता कथारूप से सुनते रहते हैं। परन्तु इस से केवल सामान्य ज्ञान का उदय होता है। वे स्वयं इन की परीक्षा कर अवगमात्मक ज्ञान प्राप्त करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते। कथाश्रवण का अन्तिम परिणाम—"श्रुतं हरति पापानि" ही माना जाता है। यही अवस्था दर्शन की है। विश्व का स्वरूप सामान्यरूप से देख लेना ही दर्शन, किंवा सम्यग्दर्शन है। अधिक संख्या ऐसे दर्शनभक्तों की ही है। वस्तु के सामान्य स्वरूप समझने से ही वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। विषय के अन्तस्तल में पहुँचने की न इन में योग्यता है एवं न ये इस की आवश्यकता का ही अनुभव करते। ऐसे दर्शनभक्त ही प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में तत्क्षण अपना मन्तव्य प्रकाशित कर देते हैं। उदाहरण के लिए यदि इन से पूंछा जाय कि, श्राद्ध क्यो किया जाता है? तो तत्काल यह अपनी दार्शनिक दृष्टि के अभिनिवेश में पड़ कर उत्तर दे देते हैं कि—"यों तो कोई दूसरों को खिलाना पिलाना पसन्द करता नहीं। इस लिए इसे धर्म्म का रूप दे दिया गया है। जिस से लोग परोपकार करते रहें"। निदर्शनमात्र है। इन के सारे निर्णय केवल वहिस्तल से, किंवा बाह्यप्रत्यक्ष (इन्द्रियप्रत्यक्ष) से ही सम्बन्ध रखते हैं। यही विश्वविद्या का (किन्तु सर्वथा साधारण) अवग्रहस्थानीय पहिला पर्व है।

पूर्वकथनानुसार दर्शनज्ञान में अवग्रह—ईहा—अवगम—धारणा इन चार ज्ञानपर्वों में से केवल अवग्रहज्ञान की सत्ता रह जाती है। अवगमात्मक पूर्णज्ञान (परीक्षात्मक ज्ञान) का भी इस में अभाव है, एवं संस्काररूप अभिनिवेशात्मक धारणा का भी इस में अभाव है। कारण स्पष्ट है। विषयसंस्कार का ही नाम अभिनिवेशात्मक अवगम, एवं धारणा है। जबतक हम गौ, गज, अश्व, उष्ट्र, आदि का प्रत्यक्ष नहीं कर लेते, तब तक उक्त अभिनिवेशलक्षण ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। दर्शन में केवल द्रष्टा की दृष्टि का अवग्रहमात्र है। यहां प्रत्यक्ष का अभाव है। अतः दृष्टिज्ञानसमकक्ष अवग्रह पर ही दर्शनज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है। भगवान् गोतम ने भी इसी अर्थ का समर्थन किया है। उन्हो नें ज्ञान एवं अभिनिवेश से ही विषय

की पूर्णसिद्धि (पूर्णप्रत्यक्ष–पूर्णज्ञान) मानी है। ज्ञान अवगम है, अभिनिवेश धारणा है। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि अर्थसिद्धि की इच्छा रखने वाले को ज्ञान एवं अभिनिवेश का आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञानाभिनिवेश चूंकि बिना प्रत्यक्षपरीक्षा के असम्भव है, अत तदर्थं दर्शनद्वारा सामान्यरूप से परिज्ञात अर्थों के प्रत्यक्ष करने के लिए प्रयास करना चाहिए। उसी प्रयास से हमारा सम्यगुदर्शन सम्यक्ज्ञानरूप में परिणत होगा, एवं उसी के द्वारा हम सम्यंक्-चारित्र्य पर पहुंचते हुए लक्ष्य पर पहुंच कर अपना पुरुषार्थ सिद्ध करने में सफल बन सकेंगे।

हमने एक बात सुनी। यदि हमारा ज्ञानीय धरातल सर्वथा निम्न है, तब तो उस श्रुति पर ही हम विश्राम कर लेंगे, आगे बढ़ने के लिए हम प्रयास न करेंगे, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। यदि हमारा ज्ञान परिष्कृत है, हमारी बुद्धि परिमार्जित है तो केवल श्रवण पर ही हम विश्राम न करेंगे। किन्तु आगे भी कुछ करना अपना कर्त्तव्य समझेंगे, एवं वह कर्त्तव्य होगा परीक्षात्मक। उपदेशक गुरू के मुख से जो कुछ हम सुनेंगे, परीक्षा की कसौटी के द्वारा हम उस के साक्षात्कार का प्रयास करेंगे। गुरुप्रदत्त ज्ञान, एवं परीक्षारूप कर्म्म, इस प्रकार ज्ञान–कर्म्म दोनों के समन्वय से कालान्तर में हमारा वह श्रुतिरूप अवग्रहज्ञान (सामान्यज्ञान) प्रत्यक्षात्मक अवगमरूप ज्ञान, एवं धारणात्मक अभिनिवेशरूप कर्म्म स्वरूप में परिणत हो जायगा। यही विश्वविद्या का दूसरा पर्व होगा, एवं कर्म्मात्मक इसी दूसरे ज्ञानपर्व को "विज्ञान" कहा जायगा। सिद्धान्तमात्र जान लेना दर्शन, सिद्धान्तों की परीक्षा कर उन सिद्धान्तों का साक्षात् कार कर लेना विज्ञान।

दर्शन का जहां श्रुति से सम्बन्ध है, वहां विज्ञान का दृष्टि से सम्बन्ध है। सुनी सुनाई बात पर विश्वास करना दर्शन है, स्वयं परीक्षाद्वारा देख कर विश्वास करना विज्ञान है। दर्शन दर्शन (देखना) मात्र है, विज्ञान विज्ञान (विशेषज्ञान) है। दर्शनज्ञान मनःपरितोष का कारण है, विज्ञान बुद्धि का अनुयायी है। लौकिक सामान्यदृष्टि का दर्शन से सम्बन्ध है, अलौकिक विशेष दृष्टि का विज्ञान से सम्बन्ध है। दर्शन में अनेक (६) धारणाएं हैं, विज्ञान एक सत्य पर प्रतिष्ठित है। दर्शन ऋत का अनुगामी बनता हुआ अनृत है, विज्ञान अनृतरूप ऋतदर्शन

को अपने गर्भ में रखता हुआ सत्य है। अनृतविश्व का उपकारक दर्शन अनृतमूर्त्ति है। विश्व एवं विश्वात्मोपकारक अनृतगर्भित विज्ञान सत्यमूर्त्ति है। यह ठीक है कि दर्शन ही विज्ञान का मूल है, सामान्यज्ञान ही विशेषज्ञान की प्रतिष्ठा है, अवग्रह ही अवगमाभिनिवेश के उदय का कारण है। फिर भी यह तो प्रत्येक दशा में हमें मान ही लेना पड़ेगा कि, सामान्यज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला केवल दर्शन अकृत्स्न+ है, दर्शनज्ञान अपूर्ण है। इस की यह अकृत्स्नता परीक्षात्मक विज्ञानशास्त्र से ही दूर होती है विज्ञानशास्त्र ही परीक्षात्मक निर्भ्रान्त, अतएव सर्वथा सत्यज्ञान से उस प्राथमिक दार्शनिक ज्ञान को कृत्स्न बनाता है। ऐसी दशा में दर्शनज्ञान को कृत्स्न बनाने वाले इस पूर्णलक्षण विज्ञानशास्त्र को हम अवश्य ही दर्शनशास्त्र की अपेक्षा उत्कृष्ट शास्त्र मानने के लिए तय्यार हैं। इस विज्ञानशास्त्र के अधिकारी स्वल्पसंख्या से सम्बन्ध रखते हैं। सुना सुनाई बातो पर निर्णय करनें वाले वीरपुरुषों का ही सर्वत्र साम्राज्य है। सत्सम्पत्ति वास्तव में कश्चित्‌भात्र से ही सम्बन्ध रखती है। निष्कर्ष यह निकला कि दर्शन जहां विश्वविद्या का पहिला पर्व था, वहां यह विज्ञान विश्वविद्या का दूसरा पर्व है। प्रथमपर्व का जहां सम्यग्दर्शन से सम्बन्ध है, वहां इस दूसरे पर्व का सम्यक्‌ज्ञान से सम्बन्ध है। सम्यग्दर्शन सामान्यज्ञान है, सम्यक्‌ज्ञान विशेषज्ञान है। सामान्यज्ञान यथाजात लौकिक मनुष्यों की विश्रामभूमि है, विशेषज्ञान संस्कारसंस्कृत शास्त्रनिष्ठ विद्वानों की क्रीड़ाभूमि है। दोनों में विज्ञानशास्त्र का ही आसन ऊँचा है।

दर्शन और विज्ञान दोनों ही तबतक सर्वथा निरर्थक हैं, जब तक कि इन्हें चरित्र की (कर्म की) कसौटी पर न कस लिया जाय। दर्शन सामान्य ज्ञान है, तो विज्ञान विशेष

+ एक वस्तु की पूर्णता को कृत्स्न, एवं अपूर्णता को अकृत्स्न कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की पूर्णता को सर्व, एवं अपूर्णता को असर्व कहाजाता है। आनें चाहिएं १० आदमी, आए पांच ही, ऐसी दशा में असर्व शब्द का प्रयोग होगा। आना चाहिए पूर्णाङ्ग एक आदमी, परन्तु लंगड़ा आया, इसके लिए अकृत्स्न शब्द प्रयुक्त होगा। ज्ञान ज्ञानत्वेन एक है, सामान्यज्ञान अपूर्णज्ञान है। अतएव हमने ज्ञान को "अकृत्स्न" शब्द से व्यवहृत किया है।

ज्ञान है। परन्तु प्रत्येक दशा में हैं दोनों ज्ञान ही। केवल ज्ञान (चाहे वह सामान्य हो, अथवा विशेष) तबतक हमारा कोई उपकार नहीं कर सकता, जब तक कि हम उसे कर्म्म के साथ युक्त न करदें। बड़े २ सिद्धान्त हम जानते हैं, परन्तु करते नहीं, तो जानना न जानना समान है। सच पूंछा जाय तो कर्म्मरहित ऐसे विज्ञान, किंवा ज्ञान से अज्ञान ही अच्छा है। एक अज्ञानी मनुष्य विद्या के अभाव से कर्म्म न करता हुआ भी पश्चात्ताप नहीं करता। उसे यह बोध ही नहीं है कि, कर्म्म न करने से मेरा क्या हानि है-"अज्ञानं तस्य शरणम्"। परन्तु जो विद्या का (ज्ञान का) अनुगामी है, वह यदि तदनुसार कर्म्म नहीं करता, तो उसे अन्तर्वेदना का अनुभव करना पड़ता है। यही अनुभव आगे जाकर अज्ञानी की अपेक्षा से भी कहीं अधिक इस के आत्मपतन का कारण बन जाता है। कर्म्मशून्य इसी ज्ञान का फल बतलाती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> *अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
> ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥

ज्ञान का स्थितिभाव से सम्बन्ध है, कर्म्म का गतिभाव से सम्बन्ध है। सामान्य दृष्टि से स्थिति-गति दोनों विरूद्ध तत्त्व प्रतीत होते हैं। परन्तु विज्ञानदृष्टि से दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। स्थिति (ज्ञान) गति (कर्म्म) की प्रतिष्ठा है, तो गति स्थिति की प्रतिष्ठा है। गति ही स्थितिरूप में परिणत होती है, स्थिति ही गतिरूप में परिणत होती है। यदि स्थिति (ज्ञान) में से गति (कर्म्म) निकाल दी जाती है, तो वह स्थिति अपना स्वरूप ही खो बैठती है। इसी प्रकार यदि गति में से स्थिति का आत्यन्तिक निष्काशन कर दिया जाता है, तो वह गति मर जाती है, जैसा कि अन्यत्र (शतपथभाष्यादि में) स्पष्ट कर दिया

* वैदिक परिभाषानुसार यह औपनिषद मन्त्र अनुगमभाव से सम्बन्ध रखता है। अतएव इस के विद्या अविद्या शब्दो के अनेक अर्थ हो जाते हैं। फलतः मन्त्र के भी अनेक अर्थ होते हैं। इस विषय का विशद विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथमखण्ड मे देखना चाहिए।

गया है। ज्ञान वह सर्वथा अनुपयुक्त है, जिस का आचरण न हो। आचरण वह सर्वथा भ्रष्ट है, जिस में ज्ञान आधार न हो। ज्ञान यदि ब्रह्म का अर्द्ध (भाग) है, तो कर्म्म भी उसी का अर्द्ध है। वह एजत् भी है, अनेजत् भी है। जब दोनो उस के स्वरूप हैं, तो बिना दोनों के समन्वय के कभी लक्ष्यसिद्धि नहीं हो सकती।

शक्तिलाभ आचरण (चरित्र–कर्म्म) से ही होता है, एवं शक्ति से ही हम पुरुषार्थ–सिद्धि में समर्थ होते हैं। शक्तिलाभ के लिए देखे एवं जाने हुए का प्रयोग करना आवश्यक है। इसी में दर्शन एवं विज्ञान की सफलता है। जो व्यक्ति देखे एवं जाने के अनुसार कर्म्म नहीं करता, उस का देखना जानना दोनों निरर्थक हैं। वह कभी सिद्धि लाभ नहीं कर सकता। ऐसी दशा में सिद्धि के इच्छुक उस मनस्वी (दर्शनानुयायी), एवं बुद्धिमान् (विज्ञानानुयायी) का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि, वह अपने देखे के अनुसार वस्तु का स्वरूप समझे। एवं स्वरूपज्ञानानुसार (सम्यग्दर्शनानुसार) उस की परीक्षा करे। उस परीक्षासिद्ध विज्ञान से लाभ उठाने के लिए वह प्रयत्न करे, आचरण का अनुगामी बने। ऐसा करने से दर्शन–विज्ञानरूप ब्रह्म (ज्ञान), एवं आचरणरूप कर्म्म दोनो पर अपना प्रभुत्त्व प्रतिष्ठित करता हुआ यह उस पूर्णेश्वर की पूर्णविभूति द्वारा पूर्ण बनता हुआ यथेच्छ सिद्धिलाभ करने में समर्थ हो जायगा। यही इस का तीसरा "सम्यक्चारित्र्य" है। यही विश्वविद्या का चरमपर्व है। तीनो के समन्वय से ही सिद्धि होती है। तीनों का यदि समन्वय है, तो तीनो के साथ सम्यक् शब्द का सम्बन्ध है। यदि तीनों पृथक् २ हैं, तो तीनो असम्यक् बनते हुए लाभ के स्थान में पतन के कारण बन जाते हैं।

केवल दर्शन असम्यक् दर्शन है, केवल विज्ञान असम्यक् विज्ञान है, एवं केवल चारित्र्य (कर्म्म) असम्यक् चारित्र्य है। देखिए! विज्ञान के लिए, परीक्षा कीजिए! कर्म्म के लिए अवश्य

A. वैदिक परिभाषानुसार भाग को 'अर्द्ध' कहा जाता है।

कल्याण है। कर्म करते रहिए! किन्तु बिना ज्ञान के, बिना सोचे समझे। परीक्षा करते रहिए! किन्तु कर्म से दूर रहिए! साथ ही में सामान्यज्ञान के गर्व में पड़ कर विशुद्ध समालोचक बने रहिए! अवश्य सर्वनाश है। तीनों का समन्वय ही ब्रह्मजिज्ञासा की पूर्ति का हेतु है, जैसा कि – 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"- 'जन्माद्यस्य यतः"-"तत्तु समन्वयात्" इत्यादि दार्शनिक सिद्धान्तों से स्पष्ट है। इसी लिए तो सर्वश्रीसूत्रकार महाभाग नें—" सम्यग्दर्शन--ज्ञान--चारित्राणि मोक्षमार्गः" इत्यादिरूप से तीनो का समन्वितरूप ही हमारे सामने रक्खा है।

लोकदृष्टि भी कार्य्यसिद्धि में उक्त दर्शन-ज्ञान-चरित्र को ही प्रधानता देती है। लोक में यह वृद्धव्यवहार प्रसिद्ध है कि-' पहिले सुनो, फिर समझो, अन्त में करो"। "सुनो-समझो-करो" इन तीनों में "सुनो" यह विश्वविद्या का सामान्यज्ञानरूप पहिला दर्शनपर्व है। "समझो" यह विश्वविद्या का विशेषज्ञानरूप दूसरा विज्ञानपर्व है। एवं "करो" यह विश्वविद्या का आचरणरूप तीसरा चारित्र्यपर्व है। इन तीनों में से थोड़ी देर के लिए चारित्र्य, एवं विज्ञानशास्त्र को छोड़ दीजिए। केवल दर्शनशास्त्र का विचार कीजिए।

"दर्शन परीक्षा की वस्तु नहीं है, केवल सैद्धान्तिकज्ञान है" यह पूर्व सन्दर्भ से स्पष्ट है। साथ ही में यह भी पूर्व से गतार्थ है कि, दर्शनशास्त्र विश्वविद्या का ही एक पर्वविशेष (प्रथम पर्व) है दर्शन सामान्यरूप से विश्व का विचार करता है। इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि, जिस विश्व का दर्शनशास्त्र निरूपण करता है, उस विश्व का क्या स्वरूप है? प्रश्न छोटा सा है, उत्तर में सम्पूर्ण आर्य्यसाहित्य है। अतः उसका यहां दिग्दर्शन भी नहीं कराया जासकता। प्रकरणसङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में अभी यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि 'जिस का स्वरूप अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवत, इन तीनो से निष्पन्न हुआ है, उस प्रपञ्च विशेष का ही का नाम विश्व है। दूसरे शब्दो में आत्म--भूत- देवता की समष्टि ही विश्व है"। इसी विश्व का दर्शनशास्त्र को विचार करना है।

जीवप्रपञ्च आध्यात्मिक विश्व है, पार्थिवप्रपञ्च आधिभौतिक विश्व है, एवं सौरप्रपञ्च आधिदैविक विश्व है। जीवप्रपञ्च ज्ञानप्रधान है, पार्थिवप्रपञ्च अर्थप्रधान है, एवं सौरप्रपञ्च

क्रियाप्रधान है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीनों की समष्टि ही विश्व है। इन्ही तीनो से विश्व का स्वरूप निर्माण हुआ है। अर्थ-क्रियागर्भित ज्ञानप्रधान जीवप्रपञ्च विश्व का आध्यात्मिक पर्व है, ज्ञान क्रियागर्भित अर्थप्रधान पार्थिवप्रपञ्च विश्व का आधिभौतिक पर्व है एवं अर्थ-ज्ञान-गर्भित क्रियाप्रधान सौरप्रपञ्च विश्व का आधिदैविक पर्व है। इस से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, विश्व के प्रत्येक पर्व में ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों हैं। इन्ही तीनों पर्वों का निर्माण करने वाली, असीम परात्परा को ससीम बना देने वाली, अमित को मित परमित) कर देने वाली वह विश्व-माया आगमशास्त्र में "त्रिपुरसुन्दरी" नाम से प्रसिद्ध है। इस के इसी त्रित्व का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते है—

देवानां त्रितयं त्रयी हुतभुजां शक्तित्रयं त्रिस्वराः।

B

१-देवतानां त्रितयम्-	२-त्रयीहुतभुजाम्-	३-शक्तित्रयम्-	४-त्रिस्वराः-	५-त्रैलोक्यम्
१-अग्निः	१-गार्हपत्याग्निः	१-अर्थशक्तिः	१-मकारः	१-पृथिवी
२-वायुः	२-अपराग्निः	२-क्रियाशक्तिः	२-मकारः	२-अन्तरिक्षम्
३-इन्द्र.	३-आहवनीयाग्निः	३-ज्ञानशक्तिः	३-अकारः	३-द्यौः

६-त्रिपदी	७-त्रिपुष्करम्	८-त्रिब्रह्म	९-वर्णास्त्रयः
१-त्रिवृत्	१-हृदयम्	१-ऋग्वेदः	१-ब्राह्मणः
२-पञ्चदश	२-भूः	२-यजुर्वेदः	२-क्षत्रियः
३-एकविंशः	३-नाकः	३-सामवेदः	३-वैश्यः

त्रैलोक्यं त्रिपदी त्रिपुष्करमथो त्रिब्रह्म वर्णास्त्रयः ॥
यत् किञ्चिज्जगति त्रिधा नियमितं वस्तु त्रिवर्गादिकम् ।
तत् सर्वं त्रिपुरेति नाम भगवत्यन्वेति ते तत्त्वतः ॥
(वरिवस्या-रहस्य) ।

उक्त त्रित्व के अनुसार एक ही विश्व के पदार्थ तीन भागों में विभक्त हैं । इन तीन जातियों के पदार्थों के कारण दर्शनशास्त्र भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है । तीनो के निरूपक आचार्य भिन्न भिन्न हैं, अतएव आचार्यभेद से एक ही दर्शन तीन शास्त्रों के रूप में परिणत हो रहा है । इन तीनों विश्वशास्त्रों ने, किंवा त्र्यवयव एक ही विश्वशास्त्र ने क्रमशः अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैवत प्रपञ्चों का निरूपण किया है ।

अधिभूत पर अध्यात्म प्रतिष्ठित है, दोनों की प्रतिष्ठा अधिदैवत है । पार्थिवप्रपञ्च को हमनें अधिभूत कहा है । यही पहिली विश्वसंस्था है । इसी पर अध्यात्मसंस्था (अस्मदादि प्राणीवर्ग) प्रतिष्ठित है । सौरसंस्था आधिदैविक संस्था है । स्थावर अधिभूतसंस्था (पार्थिवसंस्था) की प्रतिष्ठा यही सौरसंस्था है एवं जङ्गम आध्यात्मिकसंस्था (जीवसंस्था) की प्रतिष्ठा भी यही है, जैसा कि—**"नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः"**-**"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः"** **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** इत्यादि सिद्धान्तो से स्पष्ट है । इस प्राकृतिक क्रम के अनुसार ही भारतीय दार्शनिको ने तीनों संस्थाओं का निरूपण किया है ।

सर्वप्रथम अधिभूतसंस्था को ही लीलिए । सुप्रसिद्ध **वैशेषिकदर्शन** ने प्रधानरूप से इसी संस्था का निरूपण किया है । इस के निरूपक हैं—महर्षि **कणाद** । दूसरी अध्यात्मसंस्था है । इस का निरूपक **प्राधानिकदर्शन** (साङ्ख्यदर्शन) है । इस के प्रणेता **कपिलदेव** है । तीसरी आधिदैविकसंस्था का निरूपक **शारीरकदर्शन** है । इसके रचयिता महामुनिव्यास है । वैशेषिक आधिभौतिकशास्त्र है, प्रधानानिक आध्यात्मिकशास्त्र है, एवं शारीरक आधिदैविकशास्त्र है इन तीनो शास्त्रों पर आस्तिक्यमूलक आस्तिकदर्शन की समाप्ति होजाती है । इन तीनों को आस्तिकदर्शन क्यो कहा जाता है ? यह भी प्रसगागत जान लेना उचित ही होगा ।

सत्ता तत्व का ही नाम अस्तितत्त्व है। मौजूदगी का अस्तिशब्द से अभिनय किया जाता है। यह अस्तितत्त्व त्रिकालाबाधित है। पदार्थ (पदार्थों के नाम-रूप-कर्म्म) बदलते रहते हैं, उनमें रहने वाला अस्तित्त्व कभी नहीं बदलता। जबतक पदार्थ के नाम-रूप-कर्म्म (धारावाहिक बल की कृपा से) सुरक्षित रहते हैं, तबतक तो वह अस्तित्त्व उस पदार्थ पर अनुग्रह रखता है। जब नाम-रूप-कर्म्मोच्छेद से पदार्थ का स्वरूप नष्ट हो जाता है, दूसरे शब्दों मे पदार्थ का अभाव हो जाता है, तो वह अस्तितत्त्व इस अभाव पर प्रतिष्ठित होजाता है। देवदत्त एक पदार्थ है। जब तक देवदत्त है, तब तक भी "है" (अस्ति) इत्याकारक अस्तिभाव स्वस्वरूप से सुरक्षित है। जब देवदत्त मर जाता है, तो उसके लिए "नहीं है" यह व्यवहार होता है। "नहीं है" इस वाक्य में "नही" और "है" यह दो पद हैं। इन में नहीं पद देवदत्त का अभाव सूचित करता है, एवं 'है" पद उस अभाव की सत्ता प्रकट करता है। जिस "है" ने अबतक देवदत्त को पकड़ रक्खा था, उसीने अब देवदत्त के अभाव पर अनुग्रह कर रक्खा है। इस प्रकार "देवदत्त है"-"देवदत्त नही हैं"-भाव-अभावात्मक इन दोनों वाक्यों में "है" रूप अस्तिभाव समानरूप से प्रतिष्ठित हो रहा है। सत्ताश्रित पदार्थों का ही भाव, एवं अभाव है, सत्ता तो सदा एकरस है। यही अस्ति साक्षात् ब्रह्म है। पदार्थों में रहने वाले अस्ति को स्वतन्त्ररूप से यदि आप देखेंगे तो वह आप को सदा नित्य ही प्रतीत होगा। उपाधिभेदशून्य यह सामान्यसत्ताज्ञान ही साक्षात ब्रह्म है, जैसा कि विद्यारण्यस्वामी कहते हैं—

> प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।
> वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम् ।

लोग कहते हैं, ब्रह्म परोक्ष है। हम कहते हैं, ब्रह्म साक्षात प्रत्यक्ष हैं। अस्ति का किसे बोध नहीं। यह अस्ति ही तो ब्रह्म है। बात यह होती है कि, हम अस्ति को नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थ से युक्त बना कर देखते हैं, पदार्थ को अस्ति समझने लगते है। यदि भेदक पदार्थों को पृथक् कर हम विशुद्ध अस्ति का ही साक्षात्कार करनें चलते हैं, तो हमें ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं। इसी ब्रह्मदर्शन का रहस्यभेद करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥ (कठ० ६।१२।१,३)।

नाम–रूप–कर्म्म तीनों अस्ति के आश्रितधर्म्म हैं। नाम का वाक् से, रूप का मन से, एवं कर्म का चक्षु विज्ञान) से सम्बन्ध है। इन तीनो से वह पृथक् है। अतः इन तीनों से उस की प्राप्ति नहीं हो सकती। इन तीनों से पृथक् बचा हुआ केवल अस्ति ही उपलब्धव्य है, वही नित्य तत्त्वभाव है, उसी से आत्मप्रसाद होता है।

नाम––रूप–कर्म्म से पृथक् अस्तितत्त्व है क्या? इस का उत्तर है ·आत्मा। उधर आत्मा का–"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" यह लक्षण किया जाता है। मन-प्राण-वाक की समष्टि ही आत्मा है, यही अस्तितत्त्व है। "अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" इस वाजसनेयश्रुति के अनुसार आत्मा का आधा भाग अमृत है, आधा भाग मर्त्य है। अमृत भाग ही मर्त्यभाग की प्रतिष्ठा है। मन-प्राण–वाक् ये तीनों भाग अमृत हैं, नाम-रूप–– कर्म्म ये तीनों भाग मर्त्य हैं। मन से रूप का, प्राण से कर्म्म का, वाक् से नाम का विकास हुआ है। रूपों का आत्मा मन है, कर्म्मों का आत्मा प्राण है, नामो का आत्मा वाक् है।

"यस्य यदुक्थं सत, ब्रह्म सत, साम स्यात् स तस्यात्मा" इस सिद्धान्त के अनुसार जो जिसका उक्थ–ब्रह्म–साम होता है, वही उस का आत्मा कहलाता है। प्रभव को उक्थ, प्रतिष्ठा को ब्रह्म एवं परायण को साम कहा जाता है। जो पदार्थ जिस से उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिसके आधार पर प्रतिष्ठित रहता है, उस मूल से उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् तूल पदार्थों में जो मूल समान है, वही मूल इस तूल का उक्थ—ब्रह्म–––साम बनता हुआ इस का आत्मा है। उदाहरण के लिए घट को लीजिए। घट का प्रभव मिट्टी है। अतएव

हम मिट्टी को घट का उक्थ कह सकते हैं। मिट्टी ने ही घट को अपने ऊपर धारण कर रक्खा है, अतएव हम इसे घट का ब्रह्म कह सकते हैं। एवं मिट्टी से उत्पन्न होनें वाले घट, शरावादि जितनें भी मृण्मय पात्र हैं, सब में मिट्टी समान है। अतएव मिट्टी को हम घट का साम कह सकते हैं। चूंकि मिट्टी घट का उक्थ–ब्रह्म–साम है, अतएव हम मिट्टी को घट का आत्मा कह सकते हैं।

इसी प्रकार जितनें भी रूप हैं, उन सब का प्रभव मन है, सम्पूर्ण रूप मन पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं मन सब रूपो के लिए समान है। अतः उक्थ–ब्रह्म–सामलक्षण मन को हम अवश्य ही रूपों का आत्मा कहने के लिए तय्यार हैं। कर्म्म का प्रभव प्राण है, सम्पूर्ण कर्म्म प्राणशक्ति पर ही प्रतिष्ठित हैं, एवं सब कर्म्मों के लिए प्राण समान है। अतः प्राण को कर्म्मों का आत्मा कहा जा सकता है। एवमेव नाम वाक् से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर वाक् पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं वाक् तत्त्व सब नामो के लिए समान है, अतएव वाक् को नामों का आत्मा माना जा सकता है।

एक ही आत्मा सृष्टिकाल में मन–प्राण–वाक् ये तीन रूप धारण करता हुआ क्रमशः रूप–कर्म्म–नाम का विकास करता हुआ विश्वसृष्टि का प्रवर्त्तक बना हुआ है। आगे जाकर प्रतिसंचरकाल में तीनों एकरूप में परिणत हो जाते हैं, जैसा कि–**"आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्"-"त्रयं सदेकमयमात्मा"** (शत०१४।४।४।४) इत्यादि सिद्धान्तों से स्पष्ट है। वक्तव्य यही है कि मन-प्राण-वाक् के संघात का ही नाम अस्ति है। नाम-रूप–कर्म्म तीनों मर्त्य भाग इसी अस्ति के गर्भ में प्रविष्ट हैं, एवं ये ही आत्मा के सोपाधिक रूप हैं।

मनोमय आत्मा आधिदैविकसंस्था का, प्राणमय आत्मा आध्यात्मिकसंस्था का, एव वाङमय आत्मा आधिभौतिकसंस्था का आलम्बन है। हैं तीनों में तीनों, केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य है। इसी तारतम्य से आत्मलक्षण अस्तितत्त्व विश्व में तीन संस्थाओं में परिणत हो रहा है। वैशेषिकशास्त्र वाक्प्रधान अस्तिसंस्था का, प्राधानिकशास्त्र प्राणप्रधानअस्ति-

संस्था का, एवं शारीरकशास्त्र मनःप्रधान अस्तिसंस्था का निरूपण कर रहा है। चूंकि तीनो क्रमशः वाक्–प्राण–मन का निरूपण करते हुए मनः–प्राण–वाङ्मय अस्तितत्त्व का विश्लेषण कर रहे हैं, अतएव हम अवश्य ही इन तीनों को आस्तिकदर्शन की उपाधि से अलङ्कृत कर सकते हैं।

एक बात पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। अस्तितत्त्व के उपासक आस्तिक दर्शनों नें मृत्युप्रधान विश्व का, दूसरे शब्दों में नास्तिभाव का निरूपण न किया हो, यह बात नहीं है। वैशेषिक ने अस्ति की वाक् कला का निरूपण करते हुए गौणरूप से द्रव्यात्मक नास्ति-भाव का भी निरूपण किया है। इसी दृष्टि से केवल आस्तिक दर्शनों में भी अमृत-मृत्यु दोनों का निरूपण गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार दर्शनमर्य्यादा त्रित्व पर समाप्त हो जाती है। विश्व-विद्या दर्शन है, विश्व के तीन हीं पर्व हैं, फलतः वास्तविकदृष्टि से दर्शन तीन हीं रह जाते हैं। आस्तिक सम्प्रदाय में इन तीनो के अतिरिक्त पातञ्जल-न्याय-मीमांसा नाम के जो तीन दर्शन और सुने जाते है, वे केवल दर्शनाभास ही हैं। इन तीनो को दर्शन मानने का अवसर ही नहीं आता, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

हम बतला आए हैं कि, तीनों शास्त्र प्रधानरूप से क्रमशः भूत–आत्मा–देव को मुख्य लक्ष्य बनाते हुए तीनों का निरूपण करते हैं। उदाहरण के लिए प्राधानिकशास्त्र को लीजिए। प्राधानिकशास्त्र आत्मसम्बन्धी आध्यात्मिकप्रपञ्च का निरूपण करता है। इस आध्यात्मिकसंस्था में स्थूल-सूक्ष्म-कारण भेद से तीन सस्थाएं हैं। स्थूलशरीर वाङ्मय है, सूक्ष्मशरीर प्राणमय है, कारणशरीर मनोमय है। वाक्प्रपञ्च भूतमात्रा है, प्राणप्रपञ्च प्राणमात्रा है, मनःप्रपञ्च प्रज्ञा-मात्रा है। भूतमात्रा भूतग्राम है, प्राणमात्रा दैवग्राम है, प्रज्ञामात्रा आत्मग्राम है। भूतग्राम भूतचिति है, दैवतग्राम देवचिति है, आत्माग्राम बीजचिति है। भूतचिति शरीरविभाग, किंवा विकृति-विभाग है, देवचिति प्रकृतिविभाग है, बीजचिति पुरुषविभाग है। इस प्रकार आध्यात्मिक सस्था के तीनो पर्वो को अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट होता है।

अध्यात्मसंस्थापरिलेखः—(प्राधानिकशास्त्रम्) ।

इसी प्रकार आधिदैविकसंस्थानिरूपक शारीरकशास्त्र ने अध्यात्म-अधिभूत का, एवं अ धि-भौतिकसंस्थानिरूपक वैशेषिकशास्त्र ने अध्यात्म-अधिदैवत का भी स्पर्श किया है। तीनों के समन्वय के कारण ही तो हमनें तीनों को तीन स्वतन्त्र दर्शनशास्त्र न कह कर एक ही दर्शन-शास्त्र कहा है। शास्त्रभेद का मुख्य भेद तो आचार्यभेद ही है।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय के अनुसार यह विश्वप्रपञ्च, किंवा विश्वविद्या ईश्वर-जीव-जगत् भेद से तीन भागो में विभक्त है। ईश्वरतत्त्व आधिदैविकसंस्था की, जीव आध्यात्मिक संस्था की, एवं जगत् आधिभौतिकसंस्था की प्रतिष्ठा है। ईश्वरतत्त्व का ब्रह्म से सम्बन्ध है, जीवतत्त्व का देवता से सम्बन्ध है, एवं जगत् का भूत से सम्बन्ध है। भूत-प्रपञ्च किसी नियति से नित्य आक्रान्त है। भूतों के इस नियतभाव का ही नाम धर्म्म है। धर्म्म ही इस जगत् की प्रतिष्ठा है-"धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा"। जीवप्रपञ्च त्रिविध दुःख से नित्य आक्रान्त है। उधर ईश्वर केवल विजिज्ञास्य है। आधिदैविकसंस्था की प्रतिष्ठारूप ईश्वर का निरूपक शारीरकशास्त्र है। चूँकि इसका ब्रह्म के साथ सम्बन्ध है, अतएव इस शास्त्र का आरम्भ-"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (शा० १। १।) इस सूत्र से हुआ है। आध्यात्मिक संस्था की प्रतिष्ठारूप जीव का निरूपक प्राधानिकशास्त्र है। इसका मुख्य उद्देश्य जीव को त्रिविध दुःखों से निवृत्त करना है। अतएव इस शास्त्र का आरम्भ-"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सां० १। १।) इस सूत्र से हुआ है। आधिभौतिकसंस्था की प्रतिष्ठारूप जगत् का निरूपक वैशेषिकशास्त्र है। चूँकि इसका भूतधर्म्म के साथ सम्बन्ध है, अतएव इस शास्त्र का आरम्भ-"अथातो धर्म्मं व्याख्यास्यामः" (वै० १। १।) इस सूत्र से हुआ है। यह शास्त्र भौतिक पदार्थों के नियत धर्म्मो के आधार पर ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस का उदय बतलाता है। अतः हम अवश्य ही इसे आधिभौतिकशास्त्र कह सकते हैं, जैसा कि निम्न लिखित सूत्रद्वयी से स्पष्ट है—

१—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः। (१। २)।

२—धर्म्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां-

पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ (१ । ४) ।

इस दृष्टि से भी दर्शनशास्त्र का त्रित्व ही सिद्ध होता है। तीन पर दर्शन मर्य्यादा समाप्त है। ऐसी दशा में मीमांसा–पातञ्जल–न्याय को दर्शन मानना किसी भी दृष्टि से समीचीन नहीं बनता। आत्मदर्शन ही दर्शन है। आत्मा के ईश्वर–जीव–जगत् तीन ही विवर्त्त हैं। तीनों विवर्त्त जब क्रमशः व्यास–कपिल–कणाददर्शनों से गतार्थ हैं, तो फिर शेष कुछ नहीं बच रहता। फलतः आस्तिकदर्शनों की गणना में तीन ही दर्शन ठहरते हैं।

कितने ही विद्वान् दूसरी दृष्टि से तीन दर्शन मानते हैं। यद्यपि इस दृष्टि का प्रकृत दर्शनमीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी दर्शनचर्चा से सम्बद्ध होने के कारण प्रसङ्गसमानता से उस का भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। दर्शनशास्त्र आत्मकल्याण के लिए हमारे सामने आया है। इस कल्याण का एकमात्र उपाय है, अपने अंशी के साथ इस अंशरूप जीवात्मा का समन्वय कर लेना। अंशीत्रय ज्ञान–क्रिया–अर्थमय है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। ज्ञान का अव्यय के साथ, क्रिया का अक्षर के साथ, एवं अर्थ का क्षर के साथ सम्बन्ध है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

मनोमय, अतएव ज्ञानप्रधान अव्यय विशुद्ध ज्ञानात्मा है। इसी को विश्वातीत निर्गुण आत्मा कहा जाता है, एवं यही "ब्रह्म" नाम से प्रसिद्ध है। अर्थरूप कर्म्ममय, अतएव कर्म्मप्रधान क्षर विशुद्ध कर्म्मात्मा है, इसी को विश्वमूर्त्ति वैकारिक आत्मा कहा जाता है, एवं यही विश्व है। मध्यगतिन, अतएव ज्ञान–कर्म्मोभयमूर्त्ति प्राणमय अक्षर ज्ञानकर्म्ममय आत्मा है। यही विश्वात्मा सगुण प्रजापति है। इस प्रकार मनः–प्राण–वाङ्मय, ज्ञान–क्रिया–अर्थमूर्त्ति, त्रिपुरुषात्मक एक ही अंशी क्रमशः ब्रह्म–ईश्वर–विश्व इन तीन भागों में विभक्त हो जाता है। अध्यात्मसंस्था में ब्रह्म का अंश अव्ययप्रधान प्रज्ञानात्मा है, ईश्वर का अंश अक्षरप्रधान शारीरक आत्मा है, एवं विश्व का अंश क्षरप्रधान शरीर है। ब्रह्म–ईश्वर–विश्व की समष्टि "अदः" है, प्रज्ञानात्मा, शारीरकआत्मा, शरीर की समष्टि "इदम्" है। इदम् का अदः से सम्बन्ध कर देना ही दर्शनशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

यह सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त है। शरीर का विश्व के साथ सम्बन्ध, शारीरकआत्मा का ईश्वर के साथ सम्बन्ध, एवं प्रत्यगात्मा का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है। विश्व कर्म्मात्मा है, शरीर भी कर्म्मात्मा है। इस कर्म्म का उस कर्म्म से सम्बन्ध करा देना ही **कर्म्मकाण्ड** है। वेद का विधि नामक **ब्राह्मणभाग** इसी कर्म्मकाण्ड का निरूपण करता है। ईश्वर ज्ञानकर्म्ममय आत्मा है। इधर शारीरकआत्मा भी ज्ञानकर्म्ममय आत्मा है। इस का उस के साथ सम्बन्ध करा देना ही परानुरक्तिलक्षण **उपासनाकाण्ड** है। वेद का **आरण्यकभाग** इसी काण्ड का स्पष्टीकरण करता है। ब्रह्म विशुद्ध ज्ञानात्मा है, इधर प्रत्यगात्मा भी विशुद्ध ज्ञानात्मा ही है। इस का उस से सम्बन्ध करा देना **ज्ञानकाण्ड** है। वेद का **उपनिषत्भाग** इसी काण्ड का निरूपक है। ब्रह्म का ज्ञान ही होता है, ईश्वर की उपासना ही होती है, विश्व का कर्म्म ही होता है। दूसरे शब्दों में कर्म्म विश्व से ही सम्बन्ध रखता है, उपासना ईश्वर से ही सम्बन्ध रखती है, एव ज्ञान ब्रह्म का ही अनुयायी है।

तीनों के फल भी भिन्न भिन्न हैं। कर्म्मकाण्ड सासारिक स्वर्गादि सुख का जनक है, क्योंकि कर्म्म का संसार से ही सम्बन्ध है। उपसना से सालोक्य–सामीप्य–सारूप्य–सायुज्य-भेदभिन्ना अपरामुक्ति होती है, एवं ज्ञान से परामुक्ति होती है। **मुक्ति** ब्रह्मज्ञान का फल है, **अनुरक्ति** ईश्वरोपासना का मूल है, एव भुक्ति विश्वकर्म्म का उदर्क है। **मुक्ति-अनुरक्ति–भुक्ति तीनों का क्रमशः निर्गुणब्रह्म, सगुणविश्वात्मा, साञ्जनविश्व के साथ सम्बन्ध है।**

निर्गुणब्रह्मपरिचायक उपनिषत् के सिद्धान्त वचनों के समन्वय के लिए ह शारीरकशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। उपनिषत् वेद का अन्तिमभाग है, उसी के वचनो की शारीरकशास्त्र ने मीमांसा की है, अतएव यह शास्त्र वेदान्त नाम से प्रसिद्ध होगया है। कर्म्ममय विश्व की अपेक्षा ज्ञानमय ब्रह्म उत्तर (उस ओर) है। इधर शारीरकशास्त्र इसी ज्ञानब्रह्म का निरूपण कर रहा है। अतएव उत्तरब्रह्ममीमांसक इस शास्त्र को **उत्तरमीमांसा** कहा गया है। दूसरे शब्दों में हम इसे ज्ञानमीमांसा भी कहसते हैं। यह दर्शन ब्रह्म–(निर्गुणआत्म)–प्रधान है। यही पहिला, एवं मुख्य दशनशिरोमणि **व्यासदशन** है।

सगुणविश्वात्मा के परिचायक आरण्यक के सैद्धान्तिक वचनों के समन्वय के लिए भक्ति-शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है। इस के उस ओर ज्ञान है, इस ओर कर्म्म है।। उस ओर उपनिषत् है, इस ओर ब्राह्मण है। अतएव इस में ज्ञान का भी भाग है, एवं कर्म्म का भी भाग है। इसी भाग (अंश) सम्बन्ध से इसे भक्तिशास्त्र कहा जासकता है। यह मध्यस्थ विश्वात्मा की ही मीमांसा करता है, अतएव हम इसे मध्यमीमांसा कह सकते हैं। इसमें ईश्वरानुरक्ति की ही प्रधानता है। यही भक्तिमीमांसा है। महर्षि शाण्डिल्य इसके प्रवर्त्तक हैं, अतएव हम इसे शाडिल्यदर्शन भी कह सकते हैं।

साञ्जनविश्वमूर्त्ति के परिचायक ब्राह्मण भाग के सैद्धान्तिक वचनों के समन्वय के लिए मीमांसाशास्त्र का प्राकट्य हुआ है। कर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मण भाग पूर्वभाग है। यह इसी की मीमांसा करता है, अतएव इसे पूर्वमीमांसा कहा जाता है। साथ ही उत्तरलक्षण ब्रह्म की अपेक्षा कर्म्ममय विश्व पूर्व है, एवं यह शास्त्र इसी पूर्वलक्षण कर्म्ममय विश्व का निरूपक है, इस दृष्टि से भी इसे पूर्वमीमांसा कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। कर्म्मप्रधान होने से इसे कर्म्ममीमांसा भी कहा जासकता है। इस का प्रधान लक्ष्य धर्म्म ही है। महर्षि जैमिनि इस के प्रवर्त्तक हैं। अतएव यह जैमिनदर्शन नाम से भी प्रसिद्ध है।

ब्रह्म की न उपासना हो सकती, न कर्म्मप्रयोग का ही वह अधिकारी बनता है। उस की केवल जिज्ञासा हो सकती है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए शारीरकशास्त्र का "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस रूप से आरम्भ हुआ है। ईश्वर की उपासना होती है। अपने शारीरक अक्षर आत्मा को उस पर ईश्वर में अनुरक्त कर देना ही उपासना है। इसी रहस्योद्घाटन के लिए शाण्डिल्यशास्त्र का आरम्भ--"सा परानुरक्तिरीश्वरे" इस सूत्र से हुआ है। कर्म्म का विश्व से सम्बन्ध है। विश्व का कर्म्म ही विश्व का धर्म्म है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इसी तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए इस शास्त्र का आरम्भ—"अथातो धर्म्मजिज्ञासा" इस सूत्र से हुआ है। इस दृष्टि से भी शारीरक-शाण्डिल्य-मीमांसा नाम के तीन हीं आस्तिक दर्शन हो जाते हैं।

शारीरकशास्त्र का विधेय जहां निर्गुण आत्मा है, वहां इस का उद्देश्य शारीरक आत्मा है, जैसा कि भूमिकाप्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है—(देखिए गी०वि०-भूमिका प्र०ख०पृ सं०१६८) । उद्देश्यभूत शारीरक आत्मा में तीन तन्त्र हैं । स्थूलशरीर पहिला तन्त्र है, सूक्ष्मशरीर दूसरा तन्त्र है, कारणशरीर तीसरा तन्त्र है । इन तीन उद्देश्यों के भेद से यह प्रथम आत्मशास्त्र शारीरक—प्राधानिक—वैशेषिक भेद से तीन भागों में विभक्त हो गया है । इस दृष्टि से प्राधानिक, एवं वैशेषिक दोनों का शारीरकशास्त्र में अन्तर्भाव माना जा सकता है। योग-दर्शन प्राधानिकशास्त्र का पूर्वाङ्ग है, अतः इस का इस में अन्तर्भाव माना जा सकता है । शेष रहता है न्यायशास्त्र। यह किसी भी दृष्टि से दर्शन नहीं माना जा सकता । यह तो विशुद्ध कथाशास्त्र ही है । इस प्रकार शारीरक, योगगर्भित प्राधानिक, वैशेषिक तीनों का एक विभाग पहिला शारीरकदर्शन है, दूसरा शाण्डिल्यदर्शन है, तीसरा मीमांसादर्शन है । दर्शनशास्त्र-परिगणना के सम्बन्ध में यही दूसरी दृष्टि है । सत्यलक्षण धर्म्ममीमांसा के सम्बन्ध में ही इस दूसरी दृष्टि की प्रधानता है । प्रकृत में तो आत्मशास्त्रापेक्षया पूर्वप्रतिपादित शारीरक-प्राधानिक—वैशेषिक इन तीन दर्शनो की ही प्रधानता है । उस पक्ष में यथाकथंचित् पूर्वमीमांसा का शारीरकशास्त्र में, योग का सांख्य में अन्तर्भाव माना जा सकता है । वस्तुतस्तु इन तीन के अतिरिक्त शाण्डिल्य, योग, न्याय, पूर्वमीमासा यह चारों हीं शास्त्र दर्शन मर्य्यादा से सर्वथा वहिष्कृत ही समझने चाहिए ।

(१)

१—अव्ययप्रधानं मनः	ततो ज्ञानशक्तिविकासः	ज्ञानात्मा मनोमयः
२—अक्षरप्रधानःप्राणः	ततः क्रियाशक्तिविकाशः	कामात्मोभयात्मा प्राणमयः
३—क्षरप्रधाना वाक्-	ततोऽर्थशक्तिविकासः—	कर्म्मात्मा वाङ्मयः

स वा एष—आत्मा
वाङ्मयः,प्राणमयो,मनोमयः

(२)—अदः ⟶ (अधिदैवतम्)

१—विशुद्धज्ञानात्मा—⟶ब्रह्म ——⟶निर्गुण आत्मा विश्वातीतः		
२—ज्ञानकर्म्ममयात्मा⟶ईश्वरः——⟶सगुणप्रजापतिर्विश्वात्मा	}	—अंशी
३—विशुद्धकर्म्मात्मा⟶विश्वम्——⟶वैकारिक आत्मा विश्वमूर्त्तिः		

—— ० ——

(३)—इदम् ⟵ (अध्यात्मम्)

१—प्रत्यगात्मा——⟶(ब्रह्मांशः)—⟶साक्षीचेताकेवलोनिर्गुणः		
२—शारीरकआत्मा—⟶(ईश्वरांशः)—⟶भोक्तासगुणः	}	—अंशः
३—शरीरम्——⟶(विश्वांशः)—⟶भोगायतनम्—साञ्जनम्		

—— ० ——

(४) १—उपनिषद्भागः—⟶ब्रह्मनिरूपकः—⟶ज्ञानकाण्डम् (ब्रह्मानुगतम्)।

२—आरण्यकभागः—⟶ईश्वरनिरूपकः—⟶उपासनाकाण्डम् (ईश्वरानुगतम्)।

३—ब्राह्मणभागः——⟶विश्वनिरूपकः—⟶कर्म्मकाण्डम् (विश्वानुगतम्)।

—— ० ——

(५) १—उपनिषद्वचनमीमांसा—⟶ज्ञानमीमांसा—⟶उत्तरमीमांसा—⟶(ब्रह्मप्रधाना)

२—आरण्यकवचनमीमांसा⟶भक्तिमीमांसा—⟶मध्यमीमांसा—⟶(ईश्वरप्रधाना)

३—ब्राह्मणवचनमीमांसा—⟶कर्म्ममीमांसा—⟶पूर्वमीमांसा——⟶(विश्वप्रधाना)।

—— ० ——

(६) १—व्यासदर्शनम्——⟶ब्रह्मप्रधानम्——⟶(अथातो ब्रह्मजिज्ञासा)।		
२—शाण्डिल्यदर्शनम्—⟶परानुरक्तिप्रधानम्—⟶(सा परानुरक्तिरीश्वरे)।	}	दर्शनत्रयी
३—जैमिनिदर्शनम्——⟶धर्म्मप्रधानम्——⟶(अथातो धर्म्मजिज्ञासा)।		

—— ० ——

(७) १—ज्ञानानुगमनम्——ततो मुक्तिः——समबलयभावः
२—ईश्वरोपासानम्——ततोऽनुरक्तिः——सायुज्यभावः
३—धर्म्मानुष्ठानम्——ततो भुक्तिः——संसारः
(फलत्रयी)

—— ० ——

(८) १—शारीरकदर्शनम्
२—प्राधानिकदर्शनम् → १—शारीरकदर्शनम्
३—वैशेषिकदर्शनम्
२—शाण्डिल्यदर्शनम्
३—मीमांसादर्शनम्

(९) पूर्वमतेन →

१—शारीरकदर्शनम्
२—मीमांसादर्शनम् → १—शारीरकदर्शनम्
३—शाण्डिल्यदर्शनम्

१—योगदर्शनम्
२—प्राधानिकदर्शनम् → २—प्राधानिकदर्शनम्
३—वैशेषिकदर्शनम्

अस्तिस्वरूपप्रकरण के आरम्भ में (प्र. सं. ४२) बतलाया गया है कि, तीनों शास्त्र पृथक् २ संस्थाओं का निरूपण करते हैं। वस्तुतस्तु तीनों केवल अध्यात्मसंस्था के ही प्रतिपादक हैं। शब्दशास्त्रोपदेश का मुख्य लक्ष्य जीवात्मा ही है। न तो ईश्वर को किसी उपदेश की आवश्यकता, न विश्व के साथ ही उपदेश का कोई सम्बन्ध। भौतिक विश्व सर्वथा जड है। उस में उपदेशग्रहण योग्य इन्द्रियों का सर्वथा अभाव है। फलतः आधिभौतिक प्रपञ्च (विश्व) उपदेश

का अनधिकारी है। विश्वात्मा (ईश्वर) स्वयं सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति है, सर्ववित् है। उस की जरासी ज्ञानकणिका से मनुष्य जब उपदेशक बन जाता है, तो उस के ज्ञान के माहात्म्य का क्या ठिकाना है। फलतः शास्त्रोपदेश का आधिदैविकसंस्था (ईश्वर से) भी कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अब शेष रहता है—आध्यात्मिकसंस्था का अध्यक्ष जीवात्मा।

जीववर्ग असंज्ञ—अन्तःसंज्ञ—संसज्ञ भेद से तीन भागों में विभक्त है। धातुजीव असंज्ञ हैं, जड़ हैं। वृक्षादि अन्तःसंज्ञ हैं। इनमें केवल त्वगिन्द्रिय का ही विकास है। फलतः यह दोनों आध्यात्मिक विभाग भी उपदेशमर्य्यादा से बाहर निकल जाते हैं। अब शेष रहता है—संसज्ञ जीववर्ग। इस के भी कृमि, कीट, पक्षी, पशु, मनुष्य ये पांच विभाग हैं। यही पांचों प्राधानिकशास्त्र में रजोविशालतिर्यक्सर्ग नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों में चार तो मानसज्ञान—प्रधान हैं, शेष मनुष्यवर्ग मनसज्ञान के साथ साथ बुद्धि का भी अनुगामी है। मानसज्ञान की सीमा आहार, निद्रा, भय, मैथुन इन चार धर्म्मों के सञ्चालन में समाप्त है। धर्म्म नाम के बौद्धपदार्थ का मानसज्ञानप्रधानयुक्त चारों ससंज्ञ जीवों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फलतः ये चारों भी उपदेशमर्य्यादा से बाहर निकल जाते हैं। अब आध्यात्मिक जीववर्ग में से केवल मनुष्य ही ऐसा बच जाता है, जो स्वबुद्धिविकास के बल पर शास्त्रोपदेशश्रवण, तदनुसार विज्ञान एवं चारित्र्य का अधिकारी बन सकता है। स्थावरजङ्गमयोनियो में एकमात्र मनुष्ययोनि ही एक ऐसी योनि है, जो ईश्वर के समकक्ष बनने का दावा कर सकती है।

यह मनुष्यवर्ग भी ऐन्द्र—वारुण भेद से दो भागों में विभक्त है, जिन का कि भाष्यभूमिका प्रथमखण्ड के आत्मनिवेदनप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। जिस देश में (भारतवर्ष में) वेदत्रयी की प्रतिमूर्त्ति कृष्णमृग स्वेच्छा से विचरण करता है, वह पूर्वदेश है। यहां सूर्य्य के आत्मानुगामी इन्द्रप्राण की प्रधानता रहती है। इसी देश के मनुष्य ऐन्द्र मनुष्य हैं। वे मनुष्य आत्मधर्म्म के अनुगामी हैं। इसी देश में आत्मशास्त्र प्रकट हुआ है. एवं यह आत्मशास्त्र इन ऐन्द्र मनुष्यों की (जो कि ऐन्द्र मनुष्य आर्य कहलाते हैं) ही प्रातिस्विक सम्पत्ति (बपौती—मौरुसी—जायदाद) है, जैसा कि—"यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्त—

स्मिन् धर्म्मं निबोधत" इत्यादि स्मार्त्तवचनों से स्पष्ट है। पश्चिमीदेश वरुणप्रधान बनते हुए आत्मधर्म्म से वञ्चित हैं। अतएव वहा के वारुणमनुष्य जो कि वारुणमनुष्य अनार्य, म्लेच्छ आदि शब्दों से सम्बोधित हुए हैं) भी इस इन्द्रानुगामी आत्मधर्म्म से वञ्चित हैं। उन का प्रधान लक्ष्य वरुणप्रधान (अप्प्रधान) स्थूलशरीर है, तो ऐन्द्र मनुष्यों का प्रधान लक्ष्य इन्द्र-प्रधान आत्मा है। ऐन्द्र मनुष्यों के देश में हीं व्यास--कपिल- -कणाद जैसे अध्यात्मतत्त्ववेत्ताओं नें जन्म लिया है। एवं इन्हों नें हीं अपनी भावी ऐन्द्री संन्तति के कल्याण के लिए शारीरक-प्राधानिक-वैशेषिक नामक शास्त्रों का निर्म्माण कर इन ऐन्द्रमनुष्यों का मस्तक उन्नत किया है।

प्राकृतिक प्राणदेवताओं की सन्निवेश परिस्थिति के तारतम्य से इन ऐन्द्रमनुष्यो (भार-तीयआर्यों) के आगे जाकर ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र यह चार विभाग हो जाते हैं। इन चारों में (प्राकृतिक योग्यता के अभाव से शूद्रवर्ग आत्मोपदेश का अनधिकारी है। शेष तीनों वर्ण क्रमशः उत्तम--मध्यम-प्रथमाधिकारी हैं। अस्तु इन सब विषयों का विशद विवेचन स्वय मूल-भाष्य में होने वाला है, अतः अधिक विस्तार न कर अभी हमें यही बतलाना है कि, आध्या-त्मिक जीववर्ग में से केवल मनुष्य नाम का ससंज्ञ आध्यात्मिक जीव ही शास्त्रोपदेशश्रवण का अधिकारी है।

उक्त विवेचन से हमें यह मान लेना पड़ता है, कि दर्शनशास्त्र का मुख्य लक्ष्य आध्या-त्मिकसंस्था ही है। आध्यात्मिक संस्था में स्थूल--सूक्ष्म-कारण भेद से तीनों संस्थाएं प्रतिष्ठित है। इन तीनों का प्राकृतिक तीनों संस्थाओं से सम्बन्ध है। अतः आध्यात्मिक संस्थाओं के निरूपण के साथ साथ गौणरूप मे उन्हें इन का भी निरूपण करना पडता है। प्राकृतिक आधि-दैविकसंस्था से आध्यात्मिक आधिदैविकसंस्था (कारणशरीरसंस्था) का, आधिभौतिक मे आध्या-त्मिकसंस्था की आधिभौतिकसंस्था (स्थूलशरीर संस्था) का, एवं प्राकृतिक प्रकृतितन्त्र से आध्या-त्मिकसंस्था की आध्यात्मिकसंस्था (सूक्ष्मशरीरसंस्था) का निर्म्माण हुआ है। इन तीनों आध्या-त्मिकसंस्थाओं का ही उक्त तीनों दर्शनों में निरूपण हुआ है।

शारीरकशास्त्र आध्यात्मिकी आधिदैविकसंस्था का, प्राधानिकशास्त्र आध्यात्मिकी आ-

ध्यात्मिकसंस्था का, एवं वैशेषिकशास्त्र आध्यात्मिकी आधिभौतिकसंस्था का निरूपण करता है। तीनों संस्थाएं परस्पर में अविनाभूत हैं। अतएव तीनों शास्त्रों को एक को मुख्य लक्ष्य बनाते हुए गौणरूप से शेष दोनों का भी निरूपण करना पड़ता है। इस प्रकार विकृति (स्थूलशरीर) तन्त्र के निरूपक वैशेषिक को प्राधानिकसम्मत प्रकृतितन्त्र, एवं शारीरकसम्मत पुरुषतन्त्र का भी गौणरूप से निरूपण करना पड़ता है। प्रकृति (सूक्ष्मशरीर) तन्त्र के निरूपक प्राधानिक को वैशेषिकसम्मत विकृतिन्त्र, एवं शारीरकसम्मत पुरुषतन्त्र का भी गौणरूप से निरूपण करना पड़ता है। इसी प्रकार पुरुष (कारणशरीर) तन्त्र के निरूपक शारीरक को वैशेषिकसम्मत विकृतितन्त्र, एवं प्राधानिकसम्मत प्रकृतितन्त्र का भी गौणरूप से अनुगमन करना पड़ता है। सर्वथा यह सिद्ध विषय है कि आधिदैविक, प्राकृतिक, आधिभौतिक इन तीनों प्राकृतिक संस्थाओं को मुख्य उद्देश्य मान कर त्रिधा विभक्त हमारा दर्शनशास्त्र इन तीनों तन्त्रों से कृतरूप आध्यात्मिकसंस्था का ही निरूपण करता है। अतः हम दर्शन को "आध्यात्मिकशास्त्र" ही कहने के लिए तय्यार हैं। (देखिए प्रथम खं० पृ १७०)।

आधिदैविकसंस्था (ईश्वरः)	प्राकृतिकसंस्था (सम्बन्धसूत्रम्)	आधिभौतिकसंस्था (विश्वम्)

↓

आध्यात्मिकसंस्थाविकासः

१—कारणशरीरम्–प्रज्ञामात्रा–अधिदैवतम् (आध्यात्मिकम्)–शारीरकशास्त्रम्
२—सूक्ष्मशरीरम्–प्राणमात्रा–अध्यात्मम् (आध्यात्मिकम्)–प्राधानिकशास्त्रम्
३—स्थूलशरीरम्–भूतमात्रा–अधिभूतम् (आध्यात्मिकम्)–वैशेषिकशास्त्रम्

तदित्थं–आध्यात्मिकपर्वत्रयनिरूपणपरमाध्यात्मिक–
शास्त्रमेवेदं त्रिधा विभक्तं दर्शनशास्त्रमिति परामर्शो विदुषाम्

भूमिकाप्रथमखण्डान्तर्गत नामरहस्य के उपनिषच्छब्द रहस्य में यह विस्तार से बतलाया जाचुका है, कि प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अवच्छेदक (भेदक) अवश्य होता है। उसी भेदक के आधार पर वह शब्द नियत अर्थ (वस्तुतत्त्व) का वाचक बनता है। वही प्रश्न "दर्शन" शब्द के सम्बन्ध में भी हमारे सामने उपस्थित होता है। दर्शन शब्द का एकमात्र अवच्छेदक "अध्यात्मविद्यात्त्व" ही बनता है। जिस प्रकार–"पङ्काज्जायते–इति पङ्कजः" इस यौगिकार्थ से पङ्क (कीचड़) से उत्पन्न होने वाले शैवाल, लता, गुल्मादि और और जलीय पदार्थ भी पङ्कज कहला सकते थे। परन्तु यह पङ्कज शब्द अपनी यौगिक मर्य्यादा को छोड़ कर केवल कमल में ही निरूढ़ होगया। इसी प्रकार यद्यपि–"दृश्यन्ते विज्ञाप्यन्ते रहस्यभावा येन" इस निर्वचन से यद्यपि व्याकरण, निरुक्त, न्यायादि और और शास्त्र भी दर्शन शब्द से व्यवहृत हो सकते थे, तथापि पङ्कजशब्दवत् दर्शन शब्द भी अपने उक्त यौगिकार्थ को छोड़ कर केवल अध्यात्मविद्या में ही निरूढ बन गया है। अध्यात्मविद्या का प्रतिपादकशास्त्र ही दर्शन कहलाया है।

आध्यात्मिकसंस्था में प्रतिष्ठित अतिस्थूल अस्थि-मास-रुधिर-कफ–लाला–किट्ट–आदि का सामान्यज्ञान तो अस्मदादि सभी साधारण मनुष्यों को है। परन्तु इन का वैज्ञानिक स्वरूप हमारी दृष्टि से ओझल है। हम नहीं जानते, इन स्थूल धातुओं का स्वरूप (अन्नाहुति से) कैसे इस प्रकार का सम्पन्न होगया, किस में कैसे कीटाणु हैं, एवं किस कीटाणु का किस के साथ क्या सम्बन्ध है ? यह साधारण मनुष्यों के लिए परोक्ष विषय है। स्थूल धातुओं के अतिरिक्त और और भी (प्राणादि पञ्चवायु-मन-वाक्-इन्द्रियें–बुद्धि–आत्मा) आदि कितने हीं निगूढ भाव हैं, जिनका हमें सामान्यज्ञान भी नहीं है। अध्यात्मशास्त्र अध्यात्मसंस्था में रहने वाले इन्हीं निगूढतत्त्वों को (अपनी परीक्षादृष्टि से देखकर) हमें दिखलाता है, अतएव यह शास्त्र "दर्शन" कहलाता है। दर्शन का अर्थ देखना नहीं है, जैसा कि हम समझते हैं। "दर्शन कर रहे हैं" इस वाक्य के दर्शन शब्द का तो देखने से ही सम्बन्ध है, परन्तु दर्शनशास्त्र के दर्शन शब्द का अर्थ है दिखलाना। जो शास्त्र स्वयं उन पदार्थों को परीक्षा की कसौटी पर

कस कर उन्हे दूसरों को (शब्दरूप सामान्यज्ञान द्वारा) दिखलाता है, वही शास्त्र "दृश्यन्ते-विज्ञाप्यन्ते-निगूढाः सुसूक्ष्मा आत्मधर्म्मा येन" इस निर्वचन से दर्शन कहलाता है।

उक्तलक्षण दर्शनशास्त्र आध्यात्मिक उन निगूढभावों को तीन भागों में विभक्त कर के हमारे सामने रखता है, जिन (तीनों विभागों) का कि दिग्दर्शन पूर्व में कराया जाचुका है। निष्कर्ष यही हुआ कि स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीर इन तीन प्रकरणों के विभागानुरोध से, तीनों के विशेष निगूढधर्म्मों को सर्वथा विभक्त करके बतलाने के लिए अध्यात्मधर्म्म का प्रतिपादन करने वाला एक ही दर्शनशास्त्र तीन विभागो में परिणत होरहा है। "आस्तिकदर्शन ६ हैं" जिस प्रकार यह व्यवहार सर्वथा निर्म्मूल है, एवमेव शरीरक-प्राधानिक-वैशेषिक तीनों को शास्त्रशब्दमर्य्यादा की अपेक्षा से पृथक् पृथक् शास्त्र मानना भी एक प्रकार से असङ्गत ही है। "अध्यात्मविद्या का शासन करना" हीं दर्शनशास्त्र का सामान्य लक्षण है। इस दृष्टि से तीनों ग्रन्थ एक शास्त्र है। ग्रन्थ अवश्य तीन हैं, परन्तु उद्देश्यसमानता से शास्त्र एक ही माना जायगा। "एक ही शास्त्र की यदि पुस्तके (आचार्यभेद से) तीन हैं, तो शास्त्र भी तीन होगए" यदि यह माना जायगा, तो वेदशास्त्र ४५२४ [चार हजार पान्सौ चौवीस] मानें जायँगे। ११३१ संहिता ग्रन्थ हैं, इतने हीं ब्राह्मण, आरण्यक, एवं उपनिषत् हैं। परन्तु सब ग्रन्थ मिलकर एक वेदशास्त्र कहलाता है। वेदत्व सब में समान है। आचार्यभेद से व्याकरण के चान्द्र-मुग्ध-सारस्वत-पाणिनि आदि आठ भेद हैं। प्रत्येक के अवान्तर अनेक ग्रन्थोपग्रन्थ हैं। परन्तुव्याकरणशास्त्र एक है। इस प्रकार आचार्यमूलक, किंवा समानाचार्यमूलक ग्रन्थभेद कभी शास्त्रभेद का कारण नहीं बन सकता। ऐसी दशा में समानविषयक दर्शन के उक्त तीन ग्रन्थों को कथमपि तीन पृथक् पृथक् शास्त्र नहीं माना जासकता।

इस सम्बन्ध में एक पूर्वपक्ष उपस्थित होता है। "यदि तीनों ग्रन्थों में समान विषयों का ही निरूपण होता, तो अवश्य हम तीनों को तीन शास्त्र न मानकर एक ही शास्त्र कहते। शब्द की साधुत्व व्यवस्था करने में सभी व्याकरणग्रन्थ समान विषयक हैं। अतः व्याकरण के वे अनेक ग्रन्थ एक ही शब्द व्यवहार के अधिकारी बन जाते हैं। परन्तु इन तीनों दर्शन ग्रन्थों के विषयों में अहोरात्र का अन्तर है।

वैशेषिक का प्रधान विषय स्थूलशरीर, किंवा आधिभौतिक प्रपञ्च बतलाया जारहा है। प्राधानिक का प्रधान लक्ष्य सूक्ष्मशरीर, किंवा आध्यात्मिक प्रपञ्च माना जारहा है। एवं शारीरक का प्रधान प्रतिपाद्य कारणशरीर, किंवा आधिदैविक प्रपञ्च सिद्ध किया गया है। विषयभेद ही शास्त्रभेद का कारण है। ऐसी दशा में भिन्न विषय प्रतिपादक शारीरकादि को हम पृथक् पृथक् तीन शास्त्र ही माननें के लिए तय्यार हैं।"

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में प्रतिपक्षरूप में हम वेदशास्त्र को ही आपके सम्मुख उपस्थित करते हैं। वेद के ब्राह्मण भाग में कर्म्म का, आरण्यक में उपासन का, उपनिषत् में ज्ञान का, संहिता में (परस्पर मे सर्वथा विभिन्न) विज्ञान–स्तुति–इतिहास का निरूपण है। इस प्रकार वेदशास्त्र में पृथक् पृथक् रूप सेभिन्न विषयों का निरूपण हुआ है। यदि विषयभेद से ही शास्त्र-भेद होता, तो वेदशास्त्र एक शास्त्र न कहलाकर ६ शास्त्र कहलाता। इस प्रकार विषयभेद–रूप हेतु का उपपादन कर के भा आप दर्शनशास्त्र की अनेकता सिद्ध नहीं कर सकते।

वेदों का विषय है—"सर्वम्" (सब कुछ), जैसा कि—"सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" इस मनुवचन से स्पष्ट है। कर्म्म–ज्ञान-उपासना--विज्ञान--स्तुति–इतिहास इन ६ विषयों से बाहर कुछ भी नहीं बचता। इन ६ ओं का निरूपण करने वाला वेदशास्त्र अवश्य ही सर्वशास्त्र है। वेद का अवच्छेदक सर्वविषयत्त्व है। इस सर्वदृष्टि से (भिन्न भिन्न ६ विषयों का निरूपण करता हुआ भी) वेदशास्त्र एक ही शास्त्र माना जाता है। उसी प्रकार दर्शनशास्त्र के अवच्छेदक "स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरप्रतिपादकत्त्व" न हो कर अध्यात्मप्रतिपादकत्त्व ही है। तीनो का इस एक अवच्छेदक में समावेश है। दर्शन शब्द अध्यात्मविद्या में निरूढ है, न कि अध्यात्म-विद्या के किसी एक विभाग में। इस अध्यात्मदृष्टि से दर्शनशास्त्र का एकत्त्व ही सिद्ध होता है। हां जिस प्रकार सर्वप्रतिपादक एक ही वेदशास्त्र के अवान्तर विषययों के भेद से संहिता-ब्राह्मण–आरण्यक—उपनिषत् यह चार तन्त्र हैं, एवमेव अध्यात्मधर्म्मप्रतिपादक एक ही दर्श–नशास्त्र के अवान्तर विषययों के भेद से तीन तन्त्र अवश्य पृथक् पृथक् हैं। विज्ञानदृष्टि से भी यही निष्कर्ष निकलता है। जिस आत्मधर्म्म का दर्शनशास्त्र निरूपण करने चला है, वह एक ही

आत्मा मनः-प्राण-वाक् भेद से त्रितन्त्र है। आत्मा के मनस्तन्त्र का शारीरक ने, प्राणतन्त्र का प्राधानिकने, एवं वाक् का वैशेषिकने निरूपण किया है। अभिन्नलक्षण एक ही आत्मा जब स्वयं त्रितन्त्र है, तो तत्प्रतिपादक एक ही दर्शनशास्त्र का भी तन्त्रत्रय से युक्त होना आवश्यक था।

स्वयं दर्शनशास्त्र ने त्रिपुटीसिद्धान्त के द्वारा अपना त्रितन्त्रगर्भित एकशास्त्रत्व सिद्ध किया है। इलायची को दर्शन भाषा में त्रिपुटी कहा जाता है। इलायची के पुट (तन्त्र) तीन हैं, परन्तु तीनों मिलकर इलायची एक है। पुटभेद से ही कोई भी समझदार एक इलायची को तीन इलायची नहीं मान सकता। जिस प्रकार वेदशास्त्र व्यापक (सर्व) अवच्छेदक से (वेद के चारों भाग) एक वेद शब्द से, एवं विशेष अवच्छेदकों से संहितादि भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत हुआ है, एवमेव अध्यात्मविद्यात्वरूप व्यापक अवच्छेद के सम्बन्ध से दर्शनशास्त्र एक दर्शन शब्द से, एवं स्थूलशरीरत्व, सूक्ष्मशरीरत्व, कारणशरीरत्व इन विशेष अवच्छेदको से उसके तीन तन्त्र शारीरक-प्राधानिक वैशेषिक इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। सामान्यभाव से इस का एक नाम है, विशेषभाव से एक ही के तीन नाम हैं। उभयथा शास्त्र एक है। भेदसहिष्णु अभेद का भी यही मौलिक रहस्य है।

इसी सम्बन्ध में पुनः आक्षेप हमारे सामने आता है। तीनों शास्त्रों को पृथक् पृथक् तीन शास्त्र न मानकर एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र माने गए। इस दृष्टि से इन तीनों की सुव्यवस्थित तन्त्रमर्य्यादा सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक होजाता है कि, शारीरकतन्त्र पुरुषत्रयोपपन्न आत्मसंस्था का ही, प्राधानिक तन्त्र दैवतग्रामोपपन्न प्रकृतिमण्डल का ही, एवं वैशेषिकतन्त्र भूतग्रामोपन्न स्थूलशरीर का ही निरूपण करे। दूसरे शब्दो में यह समझिए कि, शारीरकतन्त्र का मुख्य विषय होना चाहिए-आत्मलक्षण कारणशरीरनिरूपण। यदि गौणदृष्टि से यह प्रकृतिलक्षण सूक्ष्म, एवं विकृतिलक्षण स्थूलप्रपञ्च का निरूपण करेगा, तो उस समय इसे इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि, प्राधानिक तन्त्र ने प्रकृति का, वैशेषिक ने विकृति का जैसा निरूपण किया है, जैसा स्वरूप बतलाया है, वैसा ही मैं प्रतिपादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार

प्राधानिकतन्त्र का मुख्य विषय होगा-प्रकृतिमण्डल। इसे भी गौणरूप से बतलाए जाने वाले आत्मा, एवं स्थूलशरीर का वही स्वरूप रखना पड़ेगा, जो कि आत्मस्वरूप एवं विकृतिस्वरूप क्रमशः शारीरक एवं वैशेषिक में प्रधानरूप से प्रतिपादित हुआ है। इसी प्रकार वैशेषिकतन्त्र का मुख्य लक्ष्य जहां विकृतिभाव होगा, वहां उसे गौणरूप से प्रतिपादित आत्मा एवं प्रकृति के स्वरूप के सम्बन्ध में शारीरकसम्मत आत्मस्वरूप, एवं प्राधानिक सम्मत विकृतिस्वरूप का ही अनुगमन करना पड़ेगा। जब तीनो तन्त्र अपने २ विषय का मुख्यरूप से निरूपण करते हुए गौणविषयों के प्रतिपादन में एक दूसरे का समन्वय करेंगे तभी ये तीनों एक दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र कहलावेंगे। एवं उसी दशा में हम तीनों को एक शास्त्र कहेंगे। क्योंकि दर्शनशास्त्रसम्मत आत्मा-प्रकृति-विकृति तीनों का स्वरूप तीनो तन्त्रों के लिए निर्विरोध मान्य होना चाहिए। यदि तीनो विपरीत क्रम का आश्रय लेते हैं, दूसरे शब्दों में यदि तीनों के प्रतिपाद्य आत्मा-प्रकृति-विकृति के स्वरूप निरूपण में विषमता है, यदि वैशेषिक की दृष्टि में आत्मा का स्वरूप भिन्न है, प्राधानिक आत्मा और किसी को समझ रहा है, एवं शारीरक का आत्मा दोनो से ही विलक्षण है, तो उस दशा में इन तीनों का समानतन्त्रत्व सुरक्षित न रह सकेगा, अपितु उस समय तीनों तीन स्वतन्त्र शास्त्र बन जायँगे। और यही परिस्थिति इन के सम्बन्ध में हमारे सामने आती भी है। तीनो का प्रतिपाद्य विषय एक दूसरे से सर्वथा विलक्षण है। जिस विलक्षणता से ग्रन्थ ही शास्त्रशब्दवाच्य बन जाता है, वह विलक्षणता तीनो तन्त्रों में विद्यमान है।

आक्षेपकर्त्ता का कहना है कि, यदि तीनों क्रमशः कारण-सूक्ष्म-स्थूलधर्म्मों को अपना २ मुख्य विषय बनाते हुए गौणरूप से शेष दोनो का (इतर दोनों तन्त्रो से सम्मत अर्थ का) निरूपण करते, तो हम उस दशा में अवश्य ही इन तीनों को एक ही आत्मशास्त्र के तीन तन्त्र मान लेते। और उस समय हम भी तीनों को तीन स्वतन्त्र शास्त्र न कह कर एक ही आत्मशास्त्र कहने लगते। परन्तु हम देखते हैं कि, तीनो हीं इस तन्त्रात्मिका शास्त्रमर्य्यादा से वञ्चित है। तीनो में तीनो का जो निरूपण हुआ है, उस की वर्णनशैली में तो विरोध है ही,

परन्तु साथ ही में प्रतिपाद्य विषय में भी विरोध है। उदाहरण के लिए पहिले आत्मा को ही अपने सामने रखिए। सांख्यशास्त्र कहता है–आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। शारीरक कहता है–आत्मा सर्वत्र अभिन्न है। एक (वैशेषिक) कहता है–आत्मा के ६ गुण होते हैं दूसरा (शारीरक) कहता है–आत्मा निर्गुण है।

एक निर्गुण को आत्मा मान रहा है, दूसरा सगुण को आत्मा कह रहा है, तो तीसरा आत्मा को द्रव्य मानता हुआ उसे भौतिकरूप देरहा है। साथ ही में तीनों का उपक्रम उपसंहार भी भिन्न भिन्न है। यही भेद जब शास्त्र भेद का कारण है, एवं इन तीनों में प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में जब यह भेद विद्यमान है, तो ऐसी दशा में तीनों को एक शास्त्र के तीन तन्त्र न मान कर पृथक् पृथक् तीन दर्शन शास्त्र ही माना जायगा।

आक्षेप के सम्बन्ध में आंशिक रूप से हम भी सहमत हैं यथार्थ में तीनों की निरूपणीय शैली में भी भेद है, एवं प्रतिपाद्य आत्मस्वरूपों के निरूपण में भी परस्पर में विलक्षणता है। इस भेदवाद के आधार पर ही तो सर्वसाधारण ने तीनों को तीन दर्शन शास्त्र समझ रक्खे हैं। इस सामान्यदृष्टि से यह समझ ठीक भी कही जासकती है। परन्तु विशेषदृष्टि (विज्ञानदृष्टि) से विचार करने पर तो हमें एकत्वमर्य्यादा का ही पक्षपात करना पड़ता है। दार्शनिकदृष्टि एवं विज्ञानदृष्टि में अहोरात्र का अन्तर है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में "सम्यग्दर्शन०" इत्यादि सूत्रव्याख्यान अवसर पर विस्तार से बतलाया जाचुका है।

विज्ञानशास्त्र का समन्वय तो विज्ञानदृष्टि की अपेक्षा रखता ही है। परन्तु दर्शनशास्त्र में जो उक्त प्रकार के विरोध प्रतीत होते हैं, उनके निराकरण के लिए भी विज्ञानदृष्टि ही सफल बनती है। ऐसी दशा में अब यह आवश्यक होगया है कि, उक्त आक्षेप के निराकरण करने के लिए भी विज्ञानदृष्टि से ही दर्शनशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का विचार किया जाय। आत्मधर्म्मों के दार्शनिक स्वरूप को एक ओर रख कर जब हम इनके वैज्ञानिक स्वरूप पर दृष्टि डालेंगे, तो विरोध अपने आप विलीन होजायगा।

आत्मधर्म्म स्थूल–सूक्ष्म–कारण भेद से तीन भागों में विभक्त होते हुए भी; परस्पर में त्रिपुटी (इलायची) की तरह एक दूसरे से अविनाभूत हैं। "त्रयमेतत्‌ त्रिदण्डवत्‌" इस भिषक्‌सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार वात–पित्त–कफ नाम के तीनों शरीर धातु एक दूसरे से अविनाभूत (लाजिम मलजुम) हैं, ठीक उसी तरह तीनों आत्मधर्म्मों के सहावस्थान को भी कभी पृथक्‌ नहीं किया जाकता। इसी अविनाभाव के कारण दर्शन के तीनों तन्त्रों में से प्रत्येक तन्त्र को अपने प्रधान उद्देश्य के निरूपण के साथ साथ इतर दोनों आत्मधर्म्मों का भी गौणरूप से निरूपण करना आवश्यक होजाना है।

पुराणप्रतिपाद्य देवतावाद का विचार कीजिए। "नर्म्मदा के सभी कङ्कर शङ्कर" इस लोकोक्ति के अनुसार शिव, विष्णु, देवी, कूर्म्म, वराह, मत्स्य आदि सभी देवता उस एक ही ब्रह्मतत्त्व के समानतन्त्र हैं। इन में कोई भी परस्पर में छोटा बड़ा नहीं है। इन सबका प्रतिपादन करने वाला ३६ तन्त्रा-(१८ पुराण, १८ उपपुराण) त्मक पुराणशास्त्र एक ही माना जाता है। अब आप शिवपुराण को उठा कर देखिए। उस में आपको शिव का ही साम्राज्य मिलेगा। शेष विष्णु–देवी आदि अन्य देवताओं का शिव का अनुगामीभाव प्रतिपादित मिलेगा। विष्णुपुराण विष्णु को ही सर्वश्रेष्ठ देवता बतलाएगा। देवीभागवत जगन्माता का यशोगान करता मिलेगा। साधारण मनुष्य के लिए यह विरोध का कारण बनजायगा। वह भूल

---

* अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयं दृगविशेषणः ॥१॥
तस्मिन्‌ ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि।
ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदे नाज्ञोऽनुपश्यति ॥२॥
त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्‌॥
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्‌ स शान्तिमधिगच्छति ॥३॥
(श्रीमद्भागवत ४।७।)।

जायगा कि, उद्देश्य की प्रधानता से ही तत्तत् पुराण ने तत्तद्देवता को प्रधान मानकर उसी प्रधानदृष्टि से इतर देवताओं का विचार किया है। इसी भूल से वह पुराणप्रतिपाद्य विषयों में विरोध मान बैठेगा। उसे यह मालूम नहीं है कि, उपासनाकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाला देवतावाद बिना इस गौणमुख्यभाव के कभी सुरक्षित नहीं रह सकता।

मन की स्थिरता के लिए किसी एक ही देवता में अनन्यता करना आवश्यक होगा। मन का यह स्वभाव है कि जिसे वह अपना आराध्य समझता है, उसे सर्वोत्कृष्ट देवता मानता है। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि जिसे वह सर्वोत्कृष्ट देवता समझता है, उसी पर उसका चित्त स्थिर होता है ऐसी दशा में शिवभक्तो के लिए बने हुए शिवपुराण का लोकसंग्रह, किंवा लोककल्याणदृष्टि से यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, वह उन उपासक के सामने शिव का ही माहात्म्य रक्खे, एवं ओर ओर देवताओं को शिव के सामने गौण बतलाए। यद्यपि पुराण के सामने कोई देवता छोटा बड़ा नहीं है, सब एक ही ब्रह्म की समान विभूतिएं हैं। परन्तु शास्त्र का उद्देश्य मनुष्य है, मनुष्य की चित्तवृत्ति उत्कृष्टभाव की ओर झुकती है, एवं एक मनुष्य अल्पशक्ति के कारण सभी विभूतियों की उपासना कर नहीं सकता। इस लिए हमारे कल्याण के लिए पुराण को यह गौणमुख्यभाव अपनाना पड़ता है। पुराण का देवप्राधान्यविरोध ही हमारा कल्याण करता है। इसी विरोध के आधार पर हम लक्ष्य पर पहुचते हैं।

जहां तक उपासक अपने २ उपास्य देवता में अनन्यता रखता हुआ अपने अपने देवता को प्रधान घोषित करता है, वहां तक तो वह ठीक मार्ग पर है। परन्तु मूर्खतावश यदि वह अन्य उपासकों के उपास्य देवता की निन्दा करता है, तो वह प्रायश्चित्त का भागी बनता है। यदि स्वयं पुराण में भी ऐसे वचन उपलब्ध होते हैं कि, जिन से उपास्य देवताओं की निन्दा-प्रकट होती है, तो विश्वास करना चाहिए कि, यह किसी नरराक्षस का ही अकाण्ड ताण्डव है। अवश्य ही किसी सम्प्रदायाभिनिविष्ट ने पीछे से ऐसे वचनों का पुराण में समावेश कर दिया होगा। अस्तु, वक्तव्य यही है कि जिस प्रकार स्वस्वदेवतावाद को प्रधान मानने वाले तत्तत् पुराणतन्त्र प्रतिपाद्य प्रधानदेवता की दृष्टि से इतर देवताओं का गौणभाव से निरूपण करने के

कारण परस्पर में विरुद्ध भावों का प्रतिपादन करते हुए प्रतीत होने पर भी परमार्थतः विरोध रहित हैं, एवमेव प्रधानदृष्टि से इतर विषयों का गौणरूप से निरूपण करने वाले दर्शनशास्त्र के तीनों तन्त्र दर्शनदृष्टि से विरोधक प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः विरोध रहित ही हैं।

स्थिति को स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा दृष्टान्त पाठकों के सम्मुख रक्खा जाता है। शुक्ल—रक्त—कृष्ण तीन प्रकार के काच सामने रखिए। सब से उस पार कृष्ण, उस के इधर रक्त, आखों के सामने शुक्ल दर्पण रखिए। इस दशा में यदि आप शुक्ल काच के भीतर से कृष्ण—एवं रक्त काच को देखेंगे तो उन का वैसा ही स्वरूप आप को दिखलाई देगा। अर्थात् शुक्ल में से देखने पर वस्तु का जैसा रूप होगा, वैसा ही दिखलाई देगा, बस यही पहिली शारीरक दृष्टि समझिए। अब लाल काच को आख के सामने रखिए, शेष दोनो को आगे रखकर लाल के भीतर से देखिए। सफेद-काले दोनो काच आप को लाल दिखलाई देंगे, यही दूसरी प्राधानिकदृष्टि है। कृष्ण को आख के सामने रखिए, इस के भीतर से शुक्ल रक्त पर दृष्टि डालिए, दोनो कृष्णवत् प्रतीत होंगे, यही तीसरी वैशेषिकदृष्टि होगी।

सत्त्व शुक्ल है, रज रक्त है, तम कृष्ण है। कारणात्मा के धर्म्म सत्त्वप्रधान बनते हुए शुक्लस्थानीय हैं, सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी आत्मधर्म्म रजःप्रधान बनते हुए रक्तस्थानीय हैं, एवं स्थूलशरीर सम्बन्धी आत्मधर्म्म तमःप्रधान बनते हुए कृष्णस्थानीय हैं। तीनों ही आत्मधर्म्म सोपाधिक हैं। विशुद्ध आत्मा शुक्ल—रक्त—कृष्णातीत होने से गुणातीत है सत्त्वादि तीनो गुण गुणमयी प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं। "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः" इस विज्ञान (गीता) सिद्धान्त के अनुसार वह अज इस शुक्ल—लोहित—कृष्णभावात्मिका त्रिगुणा प्रकृति मे युक्त हो कर स्वयं भी त्रिमूर्त्ति बन रहा है। इन तीनों में सत्त्वगुण निर्गुण आत्मा के समीपतम है। यही शारीरक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। उस की दृष्टि शुक्ल सत्त्व पर है। अतएव यह आत्मा को निर्गुण बतला रहा है। रजोगुण सगुण आत्मा (विश्वात्मा) से सम्बन्ध रखता है। यह देह भेद से देहाभिमानी बन रहा है। प्राधानिक का यही मुख्य लक्ष्य है। यह इसी चक्षुप—

टलद्वारा शुक्ल कृष्ण पर दृष्टि डालता है। अतः इसे आत्मा का सगुणभाव ही सामने दिखलाई दे रहा है। तमोगुण द्रव्यावच्छिन्न आत्मा से सम्बन्ध रखता है। वैशेषिक का यही मुख्य लक्ष्य है। इस दृष्टि से इस का आत्मा को द्रव्य बतलाना यथार्थ है। इस प्रकार अपने अपने सत्त्व--रज--तम तीन पृथक् पृथक् धरातलों पर प्रतिष्ठित रहते हुए तीनों तन्त्र अपनी अपनी दृष्टि से आत्मधर्मों का जो स्वरूप बतला रहे हैं, वह सर्वथा यथार्थ है। इसी दृष्टि से तीनों एक तन्त्र न कहला कर तीन तन्त्र कहलाए हैं। परन्तु साथ ही में आत्मत्वेन तीनों समानधरातल पर भी प्रतिष्ठित हैं। तीनो एक ही आत्मा के गुणात्मकरूप हैं। फलतः इस दृष्टि से तीनों का आत्मतन्त्रत्व भी सिद्ध हो जाता है। "तीनों तन्त्रों-के-प्रतिपाद्य आत्मधर्म्मों में जब विलक्षणता है, भेद है, तो कैसे इन्हें एक शास्त्र माना गया" इस पूर्वपक्ष का यही संक्षिप्त समाधान है।

भेदप्रतीति का दूसरा कारण आचार्यभेद भी है। यदि तीनों का प्रतिपादक एक ही आचार्य होता, तो सम्भव था भेदप्रतिपत्ति विशेषरूप से प्रविष्ट नहीं होती। ऐसी दशा में संभव था, वर्णनशैली में भी विशेष भेद न आता। परन्तु चूंकि आचार्य तीनों के भिन्न भिन्न थे, एवं तीनों को निरूपणीय शैली समान हो नहीं सकता। इसलिए भी तीनों तन्त्रों के निरूपणीय विषयों में भेद का समावेश हो गया है। यह सब कुछ होने पर भी विज्ञानदृष्टि से देखने पर आत्मत्वेन हम तीनों को अभिन्न ही पाते हैं। फलतः तीनों का अभिन्नशास्त्रत्व सिद्ध हो जाता है।

अब एक प्रश्न हमारे सामने बच जाता है। तीनों आत्मधर्म्म पृथक् पृथक् प्रतीत होते हुए भी आत्मत्वेन तीनों समान धरातल पर कैसे प्रतिष्ठित माने गए। एक ही आत्मा के स्थूल—सूक्ष्म—कारण तीन आत्मधर्म्म कैसे बन गए? इस प्रश्न का निराकरण भी आवश्यक है। इस के लिए भी हमें उसी विज्ञानदृष्टि की शरण में जाना पड़ेगा।

दार्शनिक सम्प्रदाय में जो तत्त्व "आत्मा" नाम से प्रसिद्ध है, विज्ञानसम्प्रदाय में उस एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त होजाते हैं। आत्मा तीन हैं, यह भी कहा जासकता है-

(दार्शनिक दृष्टि से)। एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त भाव हैं, यह भी सिद्धान्त माना जासकता है-(विज्ञान दृष्टि से)। आत्मा के वे तीन अवयव, किंवा तीन आत्मा क्रमशः पुरुषात्मा-प्राकृतात्मा, विकृतात्मा इन नामो से प्रसिद्ध हैं। अव्ययतत्त्व पुरुषात्मा है, अक्षरतत्त्व प्राकृतात्मा है, क्षरतत्त्व विकृतात्मा है। ये ही तीनों आत्मविवर्त्त उपनिषदों में क्रमशः भूतेश, भूतभावन, भूतयोनि इन नामों से भी प्रसिद्ध हैं।

क्षरात्मा—विकृतात्मा—भूतयोनिः

सम्पूर्ण संसार वैकारिक है। इस वैकारिक विश्व का उपादान यही क्षर, किंवा आत्मक्षर है। संसार व्यक्त है, एवं इस व्यक्त संसार की दृष्टि से यह आत्मक्षर अव्यक्त है। यह प्रतिक्षण नवीन नवीन विकार उत्पन्न करता रहता है। चूँकि इस से विकार क्षरित होते रहते हैं (निकलते रहते हैं), अतएव इसे क्षर कहा जाता है। क्षर को उदाहरण के लिए मिट्टी समझिए, एवं वैकारिक विश्व को घट-शरावादि मृण्मय पात्र समझिए। लोह क्षर है, जंग उसका विकार है। सुवर्ण क्षर है, कटक कुण्डलादि विकार हैं। दुग्ध क्षर है, शर (घर-मलाई) विकार है। रुई क्षर है, तन्तु विकार है। ठीक ऐसा ही कार्य्य—कारणभाव क्षर एवं वैकारिक विश्व का है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि मृद्-घट, लोह—जंग आदि का कार्य्यकारणभाव नश्वर है।

मिट्टी से यदि घट बनते जायँगे तो एक दिन सारी मिट्टी घटरूप में परिणत होजायगी। लोहा जंग बनते बनते एक दिन अपना मूल स्वरूप खो बैठेगा। दूध मलाई बनते बनते एक दिन मलाई ही रह जाएगी। परन्तु क्षर से सम्बन्ध रखने वाला कार्य्य कारणभाव ऐसा नहीं है। क्षर से चाहे सैकड़ों विकार निकल जाय, परन्तु फिर भी क्षर के स्वरूप पर कोई आघात नहीं होता। विकार निर्गमन से पहिले क्षर का जैसा स्वरूप रहता है, अनन्तविकार विनिर्गमन के बाद भी उसका वैसा ही स्वरूप रहता है। इसी आधार पर ब्रह्म शब्दवाच्य इस क्षर के लिए-"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते नो कनीयान्" यह कहा गया है। एवं इसी अविकृतपरिणामवाद के कारण इसे क्षर (परिणामी) होते हुए भी आत्मक्षर कहा

जाता है। आत्मा नित्य है। विकार पैदा करने परभी क्षर अविकृत रहता है। यही इसका आत्मत्व है। कारण (उपादानकारण) ही कार्य की प्रतिष्ठा बनता है। सम्पूर्ण विश्व का उपादान क्षर ही है, उत्पन्न विश्व इसी पर प्रतिष्ठित रहता है। वैकारिक विश्व बिना क्षर के स्वस्वरूप से कथमपि प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। इसी अविनाभाव के कारण भूतों को भी क्षर कह दिया जाता है—"क्षरः सर्वाणि भूतानि"। विश्व व्यक्त है, अव्यक्त क्षर से यह नित्य सम्बद्ध है। इसी दृष्टि से विश्वापेक्षया अव्यक्त क्षर को व्यक्त भी कह दिया जाता है।

निष्कर्ष यही हुआ कि, भूत—भौतिक विश्व की प्रकृतिरूप (कृतिनामक कार्य की प्रथमावस्था ही प्रकृति है, उपादान ही प्रकृति है) परिणामी जो अव्यक्ततत्त्वविशेष है, वही पहिला क्षरात्मा है। इसी को विकारसंश्लिष्ट होने के कारण विकृतात्मा कहा जाता है। भूतों की योनि होने से इसे ही भूतयोनि कहा जाता है। हम चर्म्मचक्षु से केवल भौतिक विश्व के ही दर्शन कर सकते हैं। भूतलम्बन इस आत्मक्षर का चर्म्मचक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होता, अतएव हम इसे अवश्य ही अव्यक्त कहने के लिए तय्यार हैं।

—१—

अक्षरात्मा—प्राकृतात्मा—भूतभावनः

हम देखते हैं कि, घटनिर्म्माणप्रक्रिया में केवल उपादानकारणरूप मिट्टी से ही काम नहीं चल सकता। उपादानकारण के अतिरिक्त कुम्भकार (कुम्हार) रूप एक असमवायी कारण भी अपेक्षित है। इसी को निमित्तकारण भी कहा जाता है। यही घटनिर्म्माता कहलाता है। अपने बौद्धजगत् में पहिले कुम्भकार भौतिक घट की भावना (कल्पना) करता है। अनन्तर उस भावित (काल्पनिक) बौद्धघट के आधार पर मिट्टीरूप उपादान कारण से घट का निर्म्माण कर डालता है। इसी भूतभावना के कारण कुम्भकार को भूतभावन कहा जा सकता है। ठीक यही काम अक्षर का है। अक्षर ही विश्व का निमित्तकारण है। आदान—विसर्ग—प्रतिष्ठात्मक, अतएव त्र्यक्षरमूर्त्ति अक्षरप्रजापति ही अपनी भावना से क्षर द्वारा

वैकारिक विश्व का निर्म्माण करता है। जिस प्रकार मिट्टी घट से बद्ध हो जाती है, परन्तु निमित्त कुम्भकार घट से बद्ध नहीं होता, तथैव क्षर ही विश्व से बद्ध होता है, अक्षर सर्वथा असंग रहता है। क्षरवत् अक्षर भी इन्द्रियागोचर है, अतः इसे भी हम अव्यक्त ही कहेंगे। क्षरकूट पर एकरूप से प्रतिष्ठित रहने के कारण ही इसे "कूटस्थ" कहा जाता है–"कूटस्थोऽक्षर-उच्यते"।

—२—

२—अव्ययात्मा–पुरुषात्मा–भूतेशः

कुम्भकार, मिट्टी इन दोनों से अतिरिक्त दो प्रकार के धरातल भी घटनिर्म्माण प्रक्रिया में अपेक्षित हैं। चलित अलातचक्र (चाक) स्थिर पार्थिव धरातल के एक स्थान में कीलक में प्रतिष्ठित रहता हुआ, उसी नियत स्थान पर प्रबल वेग से घूमता रहता है। स्थिर धरातल एक धरातल है, इस स्थिर धरातल के आधार पर प्रतिष्ठित चलित धरातल दूसरा धरातल है। घटनिर्म्माणप्रक्रिया का आलम्बन यह चलित धरातल है, एवं इस का आलम्बन, किंवा सर्वालम्बन स्थिर पार्थिव धरातल है। निमित्त कुम्भकार, उपादान मिट्टी, चलितधरातल, मृण्मयपात्र सब कार्य कारण इसी पार्थिव धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। अतएव हम इसे सर्वालम्बन, एवं श्रेष्ठ आलम्बन कहने के लिए तय्यार हैं। आलम्बनत्वेन दोनों को घटनिर्माणप्रक्रिया का एक आलम्बन कह सकते हैं। घट भूत है। मिट्टी भूतयोनि है, कुम्भकार भूतभावन है। इस सम्पूर्ण भूतप्रपञ्च का ईश यही आलम्बन है। अतएव इसे अवश्य ही भूतेश कहा जा सकता है।

यही स्थिति विश्वसृष्टिप्रक्रिया में समझिए। कार्य भौतिक विश्व, उपादानकारण भूतयोनि क्षर, एवं निमित्तकारण भूतभावन-अक्षर तीनो से अतीत, अतएव कार्यकारणातीत अव्यय ही इस प्रक्रिया का आलम्बन है। अव्ययात्मा के मुक्तिसाक्षी, एवं सृष्टिसाक्षी ये दो रूप हैं। आनन्द-विज्ञान–मनोमय विद्यामूर्त्ति-अव्यय-मुक्तिसाक्षी है। यह सर्वथा स्थिर आलम्बन बनता वीस्थानीय है। मन–प्राण–वाङ्मय कर्म्ममूर्त्ति अव्यय सृष्टिसाक्षी है। यह च

धरातल बनता हुआ अलातचक्रस्थानीय है। विद्या ज्ञान है, यह स्थिति है। कर्म्म गति है। स्थितिरूप अव्यय सर्वालम्बन है, गतिरूप अव्यय विश्वालम्बन है।

गतिरूप अव्यय के मन–प्राण–वाक् ये तीन अवयव बतलाए गए हैं। इन्हीं तीनों से क्रमशः ज्ञान–क्रिया–अर्थ नाम की तीन शक्तियों का विकास होता है। इन में ज्ञानशक्ति अव्यय में प्रधान है, क्रियाशक्ति अक्षर में, एवं अर्थशक्ति क्षर की प्रतिष्ठा बनती है। इस प्रकार अव्यय की वाक्शक्ति लेकर क्षर अर्थसृष्टि का उपादान बन रहा है, अव्यय की क्रियाशक्ति लेकर अक्षर अर्थसृष्टि का संचालक बन रहा है, एवं स्वयं अव्यय अपने ज्ञानभाव से सब का प्रभु बन रहा है। यही उभयविध धरातलरूप भूतेश नामक तीसरा आत्मविवर्त्त है।

——३——

इस प्रकार त्रिगुणभावमयी महामाया के अनुग्रह से एक ही निर्गुण परात्परात्मा सत्त्व-रज–तम भेद से क्रमशः आलम्बन–निमित्त–उपादानरूप में परिणत होता हुआ अव्यय–अक्षर-क्षर रूप में परिणत होरहा है। अव्यय मनोमय है, अक्षर प्राणमय है, क्षर वाङ्मय है। ज्ञान एक स्वतन्त्र तन्त्र है, इसका तन्त्रायी अव्ययात्मा । कर्म्म एक स्वतन्त्र तन्त्र है, इसका तन्त्रायी अक्षर है। अर्थ एक स्वतन्त्र तन्त्र है, इसका तन्त्रायी क्षर है। तीनों मिलकर एक आत्मा है। एक ही आत्मा ज्ञानतन्त्रापेक्षया निर्गुण बनता हुआ विश्वातीत बन रहा है, कर्म्मतन्त्रापेक्षया वही सगुण बनता हुआ विश्वात्मा बन रहा है, एवं अर्थतन्त्रापेक्षया वही साञ्जन एवं सावरण बनता हुआ विश्वमूर्त्ति बन रहा है।

निर्गुणभावापेक्षया उसी के सम्बन्ध में "न वह कर्त्ता है, न कार्य है, न कारण है" यह भी कहा जासकता है। सगुणभावापेक्षया उसी के सम्बन्ध में–"वह कर्त्ता भी है, कारण भी है, परन्तु विश्व से असङ्ग है" यह भी कहा जासकता है। एवं साञ्जनभावापेक्षया "आत्मा ही विश्व है" यह भी उसी के सम्बन्ध में कहा जासकता है। वही विश्वातीत है, वही विश्वात्मा है, वही विश्व है। तीनों का स्वरूप सर्वथा विलक्षण, तीनों एक ही के विवर्त्त, यह बात उस से भी अधिक विलक्षण–"न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः"।

हमारा आत्मशास्त्र जब तक उक्त तीनों आत्मविवर्त्तों में से किसी एक का भी निरूपण करता है, तब तक तो वह समानशास्त्र की ही मर्य्यादा में है। चाहे इस मर्य्यादा में रहते हुए उस का प्रतिपाद्य एक दूसरे तन्त्र से सर्वथा विलक्षण एवं भिन्न ही क्यों न हो। शारीरकतन्त्र ज्ञानप्रधान अव्ययतन्त्र से, प्राधानिकतन्त्र कर्म्मप्रधान अक्षरतन्त्र से, एवं वैशेषिक तन्त्र अर्थप्रधान क्षरतन्त्र से सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में शारीरकतन्त्र अव्ययात्मा (आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाले अधिदैवतप्रपञ्च) का, प्राधानिकतन्त्र अक्षरात्मा (आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाले आध्यात्मिक प्रपञ्च) का, एवं वैशेषिकतन्त्र क्षरात्मा (आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाले अधिभूत प्रपञ्च) का निरूपण करता है। अतएव इन तीनों को हम एक ही दर्शनशास्त्र के, किंवा आत्मशास्त्र के तीन तन्त्र मानने के लिए तय्यार हैं। फलतः तीनों का एकशास्त्रत्व सर्वात्मना अक्षुण्ण रह जाता है।

पूर्वपक्षों का समाधान होगया। अब हमें देखना यह है कि, उक्त तीनों तन्त्रों ने किस पद्धति से उक्त तीनों विवर्त्तों का निरूपण किया है। दूसरे शब्दों में यह जानना आवश्यक है कि, तीनों के प्रतिपाद्य विषयों से हम अपने त्रितन्त्रवाद को कैसे, किस पद्धति से सुरक्षित रख सकते हैं। इस सम्बन्ध में भी पाठकों को आरम्भ में हीं हम यह बतला देना चाहते हैं कि, दार्शनिकदृष्टि से विचार करने पर वे कथमपि हमारे इस वैज्ञानिक त्रितन्त्रवाद पर न पहुँच सकेंगे। कारण इसका यही है कि, तीनों तन्त्रों पर जिन व्याख्याताओं ने भाष्य, टीका, टिप्पणी आदि की है, उन सबका दर्शनदृष्टि से ही सम्बन्ध है। इन व्याख्याताओं ने दर्शनदृष्टिमूलक तीन शास्त्र मानते हुए ही तीनों ग्रन्थों के अर्थ करने की विफल चेष्टा की है।

यही कारण है कि, इन व्याख्याताओं की कृपा से स्व-स्वधरातल में सर्वथा निर्विरोध प्रतिष्ठित ये तीनों ग्रन्थ खण्डन मण्डन की सामग्री बन गए हैं। इस लिए व्याख्याताओं की दर्शनमूला खण्डनमण्डनात्मिका विरोधभावना को एक ओर रख कर विज्ञानदृष्टिप्रधाना समन्वयमूला पद्धति के आधार पर ही आप वास्तविक परिस्थिति पर पहुँच सकेंगे। आज

हम अपने सत्यान्वेषक पाठकों के विनोद के लिए इसी विज्ञानदृष्टि से संक्षेप से स्थूलारुन्धतिन्याय का समाश्रय लेते हुए वैशेषिक–प्राधानिक–शारीरक इन तीन तन्त्रों का संक्षिप्त प्रतिपाद्य विषय क्रमशः उपस्थित करते हैं। इस से उन्हें विदित होगा कि, दार्शनिकमात्र में आत्मा का क्या स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

इति–दर्शनतत्त्वसमन्वयः

(ख) —वैशेषिकतन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा

* श्रीः *

च—वैशेषिकतन्त्र सम्मत आत्मपरीक्षा

रतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए भूतप्रपञ्च (पदार्थविद्या-मेटीरियलसायन्स- ....) का प्रतिपादन करना इस तन्त्र का मुख्य काम है, यह पूर्व में बतलाया जाचुका है। इस तन्त्र के सम्बन्ध में दो बातो पर विशेष ध्यान देना चाहिये। उद्देश्य एवं विधेय ये दोनों बाते न केवल इस तन्त्र के साथ ही, अपितु तीनो तन्त्रों के साथ सम्बन्ध रखतीं हैं। वैशेषिकतन्त्र का उद्देश्य है- वैकारिक विश्व, एवं विधेय है—परिणामी क्षरविशिष्ट अपरिणामी अक्षर। क्षर से विकार, विकार से विश्वसृट्, विश्वसृट् से पञ्चजन, पञ्चजनों से पुरञ्जन, पुरञ्जनो से स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी ये पाच भौतिक पुर उत्पन्न होते हैं। इन पांचों की समष्टि ही विश्व है। इन सब का मूल उपादान चूंकि आत्मक्षर है, अतः इस का विश्व के साथ भी सम्बन्ध मानना पड़ता है।

इस दृष्टि से "क्षर-विकार-विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुर" इन ६ क्षरविवर्त्तों का एक स्वतन्त्र विभाग हो जाता है क्षर के ही ये सब विकार हैं, क्योकि क्षर ही परिणामी है। फिर भी क्षर का यह परिणामवाद अविकृतपरिणामवाद है। क्षर मे विकार उत्पन्न होते है, परन्तु वह स्वस्वरूप से सदा एकरस रहता हुआ सर्वथा एकरस अक्षरश्रेणि में भी समाविष्ट है। इस दृष्टि से क्षर को अक्षरश्रेणि में भी अन्तर्भूत मान लिया जाता है। इस प्रकार अक्षर-क्षर का एक स्वतन्त्र विभाग हो जाता है। अक्षर उस ओर है, ६ भागों में विभक्त विकार प्रपञ्च इस ओर है। मध्य में क्षर है। देहलीदीपकन्याय से मध्यस्थ आत्मक्षर अक्षर के साथ भी युक्त माना जासकता है, एवं विकार प्रपञ्च के साथ भी इस का सम्बन्ध माना जा सकता है। विकारोत्पत्तिलक्षण की अपेक्षा से क्षर विश्वानुगत बनता हुआ विश्वमूर्त्ति है, एवं विकाराराहित्यलक्षण की अपेक्षा से वही क्षर विश्व से बाहर है।

अक्षर विश्व का निमित्तकारण है। कारणत्वेन दोनों एक श्रेणि में प्रतिष्ठित माने जा सकते हैं। परन्तु विश्वकार्य उपादानकारणभूत क्षर के साथ बद्ध रहता है, अतः इस क्षर को विश्वमर्यादा से भी बाहर नहीं किया जा सकता। अक्षरयुक्त क्षर चूंकि कारण है, विश्व कार्य्य है, एवं कारण ही कार्य का आत्मा बनता है। अतः हम अक्षराक्षर को आत्मा कह सकते हैं, एवं विश्व को इस आत्मा का आयतन कह सकते हैं। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अक्षरक्षर कार्य विश्व को उत्पन्न कर विश्वकार्य में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह आत्मा और विश्व दोनों ही सामान्य विशेषभावों से आगे जाकर दो २ भागों में विभक्त हो जाते हैं।

भौतिक विश्व से प्राणियों का स्थूलशरीर निष्पन्न हुआ है। यह विशेष विश्व है। इस विशेष विश्व में प्रतिष्ठित आत्मा भी विशेष है। इस विशेष आत्मा को जीवात्मा कहा जाता है, एवं जीवात्मा के विशेष विश्व को शरीर कहाजाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व उस सामान्य आत्मा का शरीर है, एवं वह विश्व का एक सामान्य आत्मा ईश्वर नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ईश्वर विश्व दोनों सामान्यभाव हैं, एवं जीव शरीर दोनों विशेषभाव हैं। दोनों युग्मों में ईश्वर-जीव+ समतुलित हैं, विश्व-शरीर समतुलित हैं। ईश्वर जीव आत्मवर्ग है, विश्व शरीर भूतवर्ग है। जीव उस सामान्य आत्मा (ईश्वर) का अंश है, शरीर उस सामान्य भूतप्रपञ्च विश्व का अंश है। यही विशेषभाव अध्यात्मसंस्था के दुःख का कारण है। यदि जीवात्मा अपना, और अपने शरीर का वास्तविक स्वरूप समझ लेता है, तो इसकी दृष्टि उस सामान्य परमात्मभाव पर चली जाती है, दुःख निवृत्त होजाता है। चूँकि इस तन्त्र का उद्देश्य विशेषभाव है, अतएव इसे वैशेषिक नाम से व्यवहृत किया गया है।

जीव और स्थूलशरीर उद्देश्यकोटि में है, एवं ईश्वर और विश्व विधेयकोटि में है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि, उद्देश्य भूतप्रपञ्च है, एवं विधेय आत्मा है। शरीर का

+ इस तन्त्र के अनुसार जीवात्मा के-१-बुद्धि, २-प्रयत्न. ३-सुख, ४-दुःख, ५-इच्छा, ६—द्वेष. ७—धर्म्म, ८—अधर्म्म ये आठ गुण है।

स्वरूप बनल कर, तत्सम्बन्धेन भौतिक विश्व का साधर्म्य वैधर्म्य बतलाकर यह हमारा ध्यान उस अक्षरक्षरमूर्त्ति आत्मा की ओर आकर्षित करना चाहता है। विशेष को लक्ष्य बनाकर सामान्य की ओर ले जाना, विशेष को उद्देश्य मानकर उस के स्थान में सामान्य का विधान करना, स्थूलशरीर को उद्देश्य बनाकर आत्मा को विधेय मानना, बस इस तन्त्र का यही निष्कर्ष है।

वैशेषिक तन्त्र सामान्य की ओर जाता है, परन्तु विश्व को उद्देश्य बनाकर। यही कारण है कि, वैशेषिक सम्मत आत्मा अन्ततोगत्वा क्षर पर ही विश्राम कर लेता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट हो जायगा। सब से पहिले इस तन्त्र ने उद्देश्य की परीक्षा की है। भूतप्रपञ्च ही उद्देश्य है। इस की परीक्षा पदार्थों के तत्तद् विशेषधर्म्मों से ही सम्बन्ध रखती है। पदार्थ धर्म्मी है, एवं धर्म्म ही पदार्थ का पदार्थत्त्व है। अग्नि एक पदार्थ है, ताप उसका धर्म्म है। जब तक ताप है, तभी तक अग्नि स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं, वे सब इस धर्म्ममर्य्यादा से आक्रान्त हैं। पदार्थों के स्वरूपज्ञान के लिए उनके विशेषधर्म्मों का जानना आवश्यक होजाता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, पदार्थों के धर्म्मों की सम्यक्परीक्षा ही पदार्थपरीक्षा है। कारण धर्म्म के अतिरिक्त धर्म्मी (पदार्थ) में निरूपणीय विषय और कुछ भी नहीं बचता। ऐसी दशा में इस तन्त्र का भी यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि, वह सर्वप्रथम उद्देश्यरूप पदार्थ की परीक्षा करने के लिए आगे बढ़ता हुआ इनके धर्म्मों की ही परीक्षा करे। अपनी इसी न्यायसङ्गत विषयप्रतिपादनशैली को लक्ष्य में रखता हुआ वैशेषिकतन्त्र कहता है—

"अथातो धर्म्मं व्याख्यास्यामः"— (वैशे० द० १।१।१)।

जिस धर्म्म की व्याख्या करने के लिए भगवान् कणाद प्रवृत्त हुए हैं, उस धर्म्म का स्वरूपलक्षण बतलाते हुए आगे जाकर वे कहते हैं—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः"—

(वैशे० द० १।१।२)।

जिस तत्त्व के परिज्ञान से अभ्युदय (ऐहलौकिक समृद्धानन्द), एवं निःश्रयभाव (पारलौकिक शान्तानन्द) प्राप्त हो, वही तत्त्व धर्म्म है। कणाद का अभिप्राय यही है कि, सभी मनुष्य किसी न किसी धर्म्म से नित्य आक्रान्त रहते हैं। क्योंकि कोई भी विषय निर्धर्म्मक नहीं है। परन्तु हम देखते हैं कि विषयगत धर्म्मों के साथ नित्य सहयोग रखता हुआ भी प्राणी अभ्युदय एवं निःश्रेयसभावों से वञ्चित ही रहता है। ऐसी दशा में हमें मानना पड़ता है कि, जिन धर्म्मों को हमने धर्म्म मान मानकर अपना रक्खा है, वास्तव में वे हमारे प्रातिस्विक आत्मधर्म्म के विरोधी बनते हुए हमारे लिए अधर्म्म बन रहे हैं। इस का मुख्य कारण है-पदार्थधर्म्मों का विवेकाभाव। हम नहीं समझते कि, किस पदार्थ का किस के साथ क्या सम्बन्ध है? किस का किस के साथ समत्व है? किस का किस के साथ वैषम्य है ? कौन धर्म्म हमारा उपकारक है, एवं कौन धर्म्म हमारा नाशक है ? इस साधर्म्य वैधर्म्यभाव की योजना के अज्ञान रहने से हम भ्रमवश ऐसे पदार्थों को ऐसे कर्म्मों को, ऐसे विषयों को अपना लेते हैं कि, जो हमारे आत्मधर्म्म का स्वरूप बिगाड़ डालते है। फलत ऐसे पदार्थधर्म्म कभी हमारे लिए धर्म्म नहीं बन सकते।

कारण स्पष्ट है। "धर्म्मिणा धृतः सन् धर्म्मिणां स्वस्वरूपे स्थापयति यः स धर्म्मः" इस लक्षण के अनुसार धर्म्म वही धर्म्म कहा जायगा, जो कि धर्म्मी (हमारे) से धृत (गृहीत) बन कर धर्म्मी को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रक्खे जो धर्म्म हमारे पास आकर हमारी प्रतिष्ठा उखाड़ फैंकेगा, उस धर्म्म को हम अधर्म्म ही कहेंगे। अधर्म्मरूप यह आगन्तुक धर्म्म चूँकि अभ्युदय निःश्रेयसभाव के स्थान में प्रत्यवाय-अवनति का जनक बनता है, अतः ऐसे विपरीत धर्म्म को कभी धर्म्म न कहा जायगा। धर्म्म वही धर्म्म कहलावेगा, जो अभ्युदय एवं निःश्रेयसभाव की प्राप्ति का कारण बनेगा। इस के साथ ही यह भी निश्चित है कि, अभ्युदय-निःश्रेयसमूलभूत इस धर्म्म के परिज्ञान के लिए हमें पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्यभावों का परीक्षा करनी पड़ेगी। यह खोजना पड़ेगा कि कौन धर्म्म प्रेय है, कौन श्रेय है। उस परीक्षा के लिए हमें क्या करना पड़ेगा ? इस का उत्तर देते हुए आगे जाकर सूत्रकार कहते हैं—

"धर्म्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य–गुण–कर्म्म–सामान्य–विशेष–समवायानां साधर्म्य–वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्"

(वैशे० द: १। १। ४।)।

पाठकों को स्मरण होगा कि, इस तन्त्र का उद्देश्य हमने विशेषभाव बतलाया है। आज सूत्रकार "धर्म्मविशेषप्रसूतात्" यह कहते स्वयं उक्तार्थ का समर्थन कर रहे हैं। अक्षर युक्त क्षरात्मा के कुछ एक विशेष धर्म्म हीं इस भूतप्रपञ्चोत्पत्ति के कारण बनते हैं। आत्मा को अस्तिलक्षण बतलाया गया है। यह अस्तिभाव सामान्य विशेषभेद से दो भागों में विभक्त है। अशेषोपाधिरहित विशुद्ध सत्ताब्रह्म सामान्य है। "अन्यत्र धर्म्मादन्यत्राधर्म्मात, अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताद् भव्याच्च" इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार वह सामान्य, व्यापक, एकरूप, निरुपाधिक सत्तालक्षण आत्मा धर्म–अधर्म्म, कृत–अकृत, भूत–भविष्यत, कार्य–कारणादि सब प्रकार के द्वन्द्वो से अतीत है। उससे कभी द्रव्यगुणादिरूप भौतिकप्रपञ्च की प्रसूति नहीं हो सकती। प्रसूति सृष्टि है, सृष्टि का बीज काम (कमना-इच्छा) है, काम मन का व्यापार है, मन हृदय में प्रतिष्ठित है, हृदयभाव सीमा से सम्बन्ध रखता है, सीमाभाव महामाया से सम्बन्ध रखता है, महामायातत्त्व सामान्य व्यापक ब्रह्म को विशेषभाव में (परिच्छिन्नभाव में) परिणत कर देता है। इस परिच्छिन्न आत्मधर्म्म (अक्षरयुक्तक्षरधर्म्म) से ही द्रव्यादि प्रसूत हुए हैं।

प्रकारान्तर से देखिए अणु का ही नाम इस तन्त्र की परिभाषा के अनुसार विशेष है। यहां अणु पदार्थों में परस्पर में एक दूसरे में विशेषता उत्पन्न करता है। अतएव अणु को विशेष कहा जाता है। इस अणु का मूल अक्षरयुक्त क्षर ही है। अक्षरक्षर ही विशेषधर्म्म है। एवं पूर्वकथनानुसार यही द्रव्यादि का उपादानकारण है। इस धर्म्मविशेष (अक्षरयुक्तक्षर किंवा अक्षरयुक्त क्षरात्मक अणु) से उत्पन्न द्रव्यादि ६ ओं पदार्थों के साधर्म्य वैधर्म्य परिज्ञान से ही हम आत्मकल्याण के अनुगामी बन सकते हैं, यही संक्षिप्त सूत्रार्थ है।

यदि साधर्म्य–वैधर्म्यज्ञानपूर्वक हमें पदार्थों का वास्तविक स्वरूप मालूम हो जाता है, तो हम सावधान हो जाते हैं । उस दशा में हमें यह बोध हो जाता है कि अमुक विषय, अमुक कर्म आसक्ति द्वारा पतन का कारण है, एवं अमुक अभ्युत्थान का हेतु है । इस वास्तविक पदार्थज्ञान के प्रभाव से श्रेय (हितकर) प्रेय (रुचिकर, किन्तु हानिकर) भेद से दो भागों में विभक्त पदार्थों में से अभ्युदय–निःश्रेयस कामुक मनुष्य श्रेय का ग्रहण करता हुआ, एवं प्रेय का परित्याग करता हुआ अभ्युदय–निःश्रेयस का अधिकारी बन जाता है । सूत्रप्रतिपादित इसी निःश्रेयसाधिगमत्त्व का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषत् श्रुति कहती है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥
(कठोपनिषत् १।२।१–२।) ।

यही सूत्र इस तन्त्र की मूल प्रतिष्ठा है । इसी में सूत्रकार ने अपना उद्देश्य विधेय सब कुछ स्पष्ट कर दिया है । उक्त ६ ओं पदार्थ भौतिक हैं, क्षररूप हैं । यही इस तन्त्र के उद्देश्य हैं । विधेय वह है, जो इन ६ ओं के परिज्ञान के अनन्तर निःश्रेयसभाव प्राप्त कराने में समर्थ होता है । अथवा विधेय वह है, जो पदार्थज्ञानान्तर स्वयं इस जीवात्मा पर अनुग्र करता है।

उक्त सूत्रत्रयी के आधार पर इस तन्त्र के निरूपणीय विषय के सम्बन्ध में हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि, आत्मक्षर से उत्पन्न होने वाले द्रव्य–गुण–कर्मादि ६ पदार्थ हैं । उन का निरूपण करना इस का पहिला काम है । इस भूतवर्ग में अनुस्यूत अक्षरविशिष्टक्षर को आत्मा बतलाना इस का दूसरा काम है । एवं आत्मा को जीव-परमात्मा भेद से दो भागों में विभक्त मानना तीसरा काम है । इस प्रकार वैशेषिक की दृष्टि में क्षराक्षरविशिष्ट विशेषतत्त्व ही आत्मा है । क्षराक्षर से अतीत जो अव्यय पुरुष है, उस पर इस की दृष्टि नहीं है । यह

स्थिति इस के आत्मलक्षण से ही सिद्ध हो रही है। आत्मा की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए, दूसरे शब्दो में आत्मा शरीर से भिन्न तत्त्व है, यह सिद्ध करते हुए कणाद कहते हैं—

"प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः–
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि" (वै०द० ३।२।४।) ।

वैशेषिक की दृष्टि में ये सब आत्मा के धर्म्म हैं। वस्तुतः यह सब अक्षरविशिष्ट क्षर के धर्म्म हैं, जो कि क्षराक्षर गीतासिद्धान्त के अनुसार आत्मा की अन्तरङ्ग प्रकृतिएं कहलातीं हैं। अव्ययात्मा का इन धर्म्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी आधार पर हम वैशेषिकतन्त्र-सम्मत आत्मा का पर्य्यवसान अक्षरविशिष्ट क्षर पर ही मानने के लिए तय्यार हैं। यदि थोड़ी देर के लिए क्षर को विश्वप्रपञ्च में अन्तर्भूत मान लिया जाता है, तो उस समय अधिक से अधिक क्षरप्रकृति आत्मत्वेन हमारे सामने बच जाती है। प्रत्येक दशा में अक्षर ही इस तन्त्र की अन्तिम विश्रामभूमि है।

अव्यय पुरुष के जो भी धर्म्म हैं, उन सब का इस की दृष्टि में इसी क्षरविशिष्ट अक्षर में अन्तर्भाव है। काणादों का सिद्धान्त है कि, जो जिज्ञासु पदार्थविद्या को जानता हुआ इस आत्मा को पहिचान जाता है, वह मृत्युपाश से विमुक्त हो जाता है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियों में अव्ययाभिप्राय से पठित ब्रह्म शब्द से भी ये जगत्-प्रकृतिभूत आत्मक्षरविशिष्ट अक्षर का ही ग्रहण करते हैं। उसी को सर्वाधिष्ठाता मानने में ये अपने आप को कृतकृत्य समझते हैं। चूंकि इन का लक्ष्य विशुद्ध अक्षर नहीं है, अपितु क्षर-विशिष्ट अक्षर है, अतः हम इस तन्त्र को क्षरात्मतन्त्र ही कहेंगे। वैकारिक विश्व क स्वरूप ज्ञान द्वारा अक्षर की प्रतिच्छाया से युक्त क्षरात्मा पर पहुंचा देना हीं सम्पूर्ण तन्त्रार्थ है, जैसा कि आगे के प्रकरण से स्पष्ट है।

"वैशेषिकतन्त्र सम्मत आत्मा अक्षरविशिष्ट क्षर है" इस सिद्धान्त का यद्यपि इस तन्त्र में स्पष्टरूप से कहीं उल्लेख नहीं है। तथापि इसने आत्मा के जो लक्षण बतलाए हैं,

आत्मा का जो स्वरूप बतलाया है, उस के आधार पर हमें अवश्य ही उक्त निश्चय पर पहुँचना पड़ता है। उदाहरण के लिए द्रव्यगणना को ही लीजिए जिन ६ पदार्थों का पूर्व में उल्लेख किया गया है, उनमें से द्रव्य नामक पदार्थ कितने भागों में विभक्त है? इस का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि"
(वैशे० द० १।१।५।)।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन यह नौ द्रव्य माने गए हैं। इस द्रव्यगणना में आत्मा का भी समावेश है। "गुणकूटो द्रव्यम्" इस दर्शनान्तर सिद्धान्त के अनुसार गुणसमष्टि का ही नाम द्रव्य है। गुणतत्त्व क्रिया की ही समष्टि है, जैसा कि निम्न लिखित हरिसिद्धान्त से स्पष्ट है—

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्धया प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥ (वाक्यपदी)

क्रिया क्षर पदार्थ है। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार गुणतत्त्व तन्मात्राएं हैं। इन का मूल क्षरतत्त्व ही है, जैसा कि आगे के सांख्यतन्त्र निरूपण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। चूँकि यह तन्त्र आत्मा को द्रव्य मान रहा है एवं द्रव्यत्व की पर्यवसानभूमि क्षर ही है। अतः हम अवश्य ही इसे क्षरात्मप्रतिपादक कहने के लिए तय्यार हैं।

इसी तन्त्र के अनुसार ईश्वरात्मा सम्पूर्ण विश्व का नियन्ता है। यह धर्म एकमात्र अक्षर का ही है। "तस्य वा एतस्याक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्र॰" इत्यादि श्रुतिएं अक्षर को ही शास्ता—नियन्ता—अन्तर्य्यामी बतला रही हैं। ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र की समष्टिरूप त्र्यक्षरमूर्त्ति हृद्य अक्षर ही नियन्ता है, यही ईश्वर है। चूँकि वैशेषिक लोग आत्मा को नियन्ता भी मान रहे हैं, अतएव मानना पड़ता है कि, उन की दृष्टि क्षर के साथ साथ अक्षर पर भी है। परन्तु वे क्षर-अक्षर की छांट न कर दोनों को उन्मुग्धरूप से आत्मा कह रहे हैं।

यद्यपि इन की दृष्टि में क्षर-अक्षर दोनो पृथक् तत्त्व नहीं हैं, परन्तु प्रतिपादन शैली से मालूम होता है कि इनका अभिमत आत्मा क्षराक्षरविशिष्ट ही है।

स्पष्टीकरण के लिए यों समझिए कि, ईश्वरात्मा क्षरगर्भित अक्षरमूर्त्ति है, यही परमात्मा है, यही नियन्ता है। यह इस एक महाविश्व का एक आत्मा है—"सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम्"। जीवात्मा अक्षरगर्भित क्षरमूर्त्ति है। यह नियन्त्रित है। यह प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है—"व्यवस्थातो नाना"। इसी भेदव्यवहार के कारण हमने पूर्व में कहीं 'अक्षरविशिष्ट क्षरात्मा" यह कहा है, एवं कहीं "क्षरविशिष्ट अक्षरात्मा" इस वाक्य का प्रयोग किया है। पहिला वाक्य जीवात्मसापेक्ष है, दूसरा वाक्य ईश्वरात्मसापेक्ष है, उभयथा—"आत्मा क्षराक्षरविशिष्ट है" यह सिद्ध विषय है।

साथ ही में इस तन्त्र के अनुयायी ईश्वर से साक्षात् सृष्टि का सम्बन्ध न मानकर ईश्वरेच्छा से सृष्टि की प्रवृत्ति मानते हैं। अणुवाद इनका अत्यन्त प्रिय धरातल है यह परमाणुओं को सर्वथा नित्य मानते हुए इनका विभाजन नहीं मानते। पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाशादि भूतों से, पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से निर्म्मित जो अस्मदादि प्राणियों के शरीर हैं, उन्हे ये "भौतिक" शब्द से सम्बोधित करते हैं।

भौतिक जगत् का विनाश किसी दिन निश्चित है। क्योंकि संयोगजनित जगत् कभी स्थिर नहीं रह सकता-"संयोगा विप्रयोगान्ताः"। आप किसी भी भौतिक पदार्थ को सामने रख कर प्रतिसंचरप्रक्रिया से उस की परीक्षा आरम्भ कीजिए। इस विशकलन का पहिला परीणाम यह होगा कि, भौतिकवर्ग पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतरूप में परिणत होजायगा। इन्हीं पांचों का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। इन पाचों में प्रत्येक भूत पञ्चीकृत है। पृथिव्यादि पांचों में [आधे में पृथिव्यादि, आधे में शेष चारों] पांचों हैं। इसी बहुत्त्व के कारण इन पञ्चीकृतभूतों को भूत शब्द से सम्बोधन न कर बहुत्व सूचक महाभूत शब्द से सम्बोधन किया जाता है। इन का भी विशकलन कीजिए। विशकलन करते करते जो इन पञ्चमहाभूतों की चरमावस्था होगी, उसी को रेणुभूत कहा जायगा।। रेणुभूत पञ्चीकृत महाभूत की ही

अन्तिम अवस्था है। तर्कशास्त्र [न्यायशास्त्र] के अनुसार ये रेणुभूत ही 'परमाणु' नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरे शब्दों में वे अपञ्चीकृतभूत [रेणुभूत] को ही परमाणु कहते हैं। परन्तु हमारा वैशेषिकतन्त्र उन से एक सोपान और आगे बढ़ा हुआ है।

वैशेषिकों का कहना है कि, अनेक परमाणुओं के संघ से रेणुभूत का स्वरूप संपन्न हुआ है। प्रत्येक रेणु में अधिक से अधिक ३०, एवं कम से कम ३ परमाणु रहते हैं। विजातीय परमाणुसंघ का ही नाम ही रेणु है, न कि रेणु का ही नाम परमाणु है। रेणु का विशकलन कीजिए, आप को उस में कम से कम ३, अधिक से अधिक ३० परमाणु मिलेंगे। रेणुस्वरूपसमर्पक इस परमाणु का नाम अणु है। नैय्यायिक जिसे परमाणु मानते हैं, वह वास्तव में रेणु है। वैशेषिक जिसे अणु कहता है, वास्तव में वही परमाणु है। इस दृष्टि से परमाणुवादी न्याय को रेणुवादी कहना चाहिए, एवं अणुवादी वैशेषिक को परमाणुवादी कहना चाहिए। वैशेषिक के अनुसार यह अणुपरमाणु ही भौतिक सृष्टि की चरमावस्था है। यही विश्व के चरममूल हैं। इन्हीं के संयोगवैचित्र्य से इस विचित्र विश्व का निर्म्माण हुआ है। नियन्ता ईश्वर (अक्षर) की इच्छा से इन नित्य अणुपरमाणुओं में विकार उत्पन्न होते हैं। विकार सम्बन्ध से विजातीय परमाणुओं का परस्पर में ग्रन्थिबन्धन होता है। विजातीय परमाणुसंघात्मिका वही ग्रन्थि रेणु कहलाती है। रेणु रेणु के ग्रन्थिबन्धन से (पञ्चीकरण से) पृथिव्यादि पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन्हीं से विश्व, एवं विश्व में प्रतिष्ठित भौतिक वर्ग का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार केवल अणुपरमाणु ही ईश्वरेच्छा से विश्व के उपादान-कारण बने हुए हैं। यही परमाणु सृष्टि का उपक्रम है, एवं यही उपसंहार है। जहां प्राधानिकतन्त्र प्रकृति(अव्यक्तअक्षर) को जगत का कारण मानता है, वहां वैशेषिकतन्त्र व्यक्त परमाणु को जगत् का उपादान मानता है। पदार्थों में जो विशेषता देखी जाती है, भेद उपलब्ध होता है, वह इसी परमाणु की कृपा का फल है। विशेषजाति का परमाणुसंघ ही पदार्थ वैशिष्ट्य का कारण बनता है, अतएव परमाणु को "विशेष" कहा जाता है। कणाद इसी विशेष (अणुपरमाणु) के समर्थक हैं, अतएव इन का यह तन्त्र वैशेषिक नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

इसी कारणतावाद को व्यक्त करते हुए कणाद कहते हैं—

"सदकारणवन्नित्यत्वम्" (वै०द०सू०४।१।१।)।

अतएव वैशेपिकों से बहुत अशो में समानता रखने वाले कथाशास्त्र (न्याय) ने—"व्यक्ताद् व्यक्तानां (निष्पत्तिः) प्रत्यक्षप्रामाण्यात् (न्यायभाष्य ४।१।११)"-"न घटाद् घटनिष्पत्तेः" (४।१।१२)—(इदमपि प्रत्यक्षं-न खलु व्यक्ताद् घटाद् व्यक्तो घट उत्पद्यमानो दृश्यते, इति व्यक्ताद् व्यक्तस्यानुत्पत्तिदर्शनान्न व्यक्तं कारणमिति)—(वात्स्यायनभाष्य) यह कहा है। सावयव पदार्थ सावयव विश्व के कारण नहीं बन सकते। त्रसरेणु आदि सावयव हैं। अतः इन्हें जगत् का मूल कारण नहीं माना जासकता। परमाणु सर्वथा निरवयव हैं, अतः इन्हें ही मूल कारण माना जा सकता है। इस प्रकार व्यक्त, अतएव मूर्त्त परमाणुओं को ही सृष्टि का मूल कारण मानने वाले वैशेषिक ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानते। इन की दृष्टि में आत्मा सर्वथा निर्विकार है। उस की इच्छामात्र ही सृष्टि में निमित्तकारण बनती है।

वैज्ञानिकदृष्टि से ईश्वरस्थानीय अक्षर निमित्त कारण है, एवं आत्मक्षर उपादान कारण है। परन्तु वैशेषिक यह सहन नहीं करते उपादानरूप अव्यक्त क्षर को तो आत्मकोटि में लेजाते हुए यह ईश्वरकोटि में ही रखना चाहते हैं। शेष व्यक्त विकारक्षररूप परमाणु को ही कारण मानते हैं।

निष्कर्ष इस तन्त्र का यही हुआ कि, परमाणु सृष्टि का मूल है। परमाणु प्रपञ्च से परे का प्रकृतिरूप क्षर-अक्षर आत्मा है। अव्यय नाम का कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इन सब अव्ययधर्म्मों से अक्षर ही अभिप्रेत है। अक्षर की प्रतिच्छाया से युक्त क्षरात्मा ही हमारा मुख्य आत्मा है, एवं यही विधेय है।

इति-वैशेषिकतन्त्रनिरुक्तिः

—च—

छ—प्राधानिकतन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा

प्राधानिकतन्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा

गीताशास्त्र ने जिसे "सांख्य" शब्द से सम्बोधित किया है वह सांख्य यह प्राधानिकतन्त्र ही है, अथवा कोई दूसरा ? एवमेव गीतोक्त "योग" इस प्राधानिक तन्त्र का पूर्वाङ्गभूत पातञ्जलयोग है, अथवा कोई दूसरा योग ? यह एक जटिल समस्या है। इस जटिल समस्या का समन्वय स्वयं गीताभाष्य ही करेगा। "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इत्यादि उपनिषत् में इन सब प्रश्नों की विषद मीमांसा करदी गई है। यहां हमें संक्षेप से क्रमप्राप्त सुप्रसिद्ध सांख्य नाम के प्राधानिकतन्त्र का ही स्वरूप पाठकों को बतलाना है। इसे सांख्य भी कहा जाता है, एवं प्राधानिक भी कहा जाता है। सर्वप्रथम इन दोनों नामों का ही निर्वचन कीजिए। सांख्य शब्द का अर्थ ज्ञान माना गया है। उधर सांख्य शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः इस के साथ संख्या का सम्बन्ध हो। बात वास्तव में ऐसी ही है, जैसा कि अनुपद में स्पष्ट होगा। इस तन्त्र का उद्देश्य है चतुर्विंशति। जिस प्रकार वैशेषिक द्रव्य-गुण-कर्म्मादि ६ पदार्थों को उद्देश्य बनाकर क्षरविशिष्ट अक्षर, किंवा अक्षरविशिष्ट क्षरात्मा को विधेय मानता है, एवमेव प्राधानिकतन्त्र २४ तत्त्वों को उद्देश्यकोटि में रखता हुआ २५ वे पुरुष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। पुरुष ज्ञानस्वरूप है। इस की सिद्धि इस तन्त्र ने संख्यापरिगणना के आधार पर की है। अतएव "संख्यातः सिद्धं ज्ञानं सांख्यम्" इस निर्वचन के अनुसार यह तन्त्र सांख्य नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पुरुषापेक्षया ही इस तन्त्र का नाम सांख्य है, यही तात्पर्य है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है—

> अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ॥
> अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत् पञ्चविंशकम् ॥२॥
> सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ॥
> सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः ॥२॥ [महाभारत]।

दूसरा निर्वचन प्रकृतिभाव से सम्बन्ध रखता है। प्रकृति को "प्रधान" कहा जाता है। इस के अतिरिक्त नियति, कारण, निमित्त, अन्तर्यामी, असङ्ग, कूटस्थ, इत्यादि अनेक निर्वचन और हैं। इन सब का विशद वैज्ञानिक विवेचन भूमिका तृतीय खण्ड के भक्तिपरीक्षा नामक प्रकरणान्तर्गत "प्राकृतिकयोगत्रयी" नाम के अवान्तर प्रकरण में विस्तार से होने वाला है। अतः यहां इस नामनिर्वचन को छोड़ा जाता है।

इस प्रकार पुरुषापेक्षा से सांख्य नाम से, एवं प्रकृत्यपेक्षया प्रधान नाम से प्रसिद्ध यह तन्त्र एक दूसरे ही स्वरूप से हमारे सामने उपस्थित होता है। इस तन्त्र के तन्त्रायी महामुनि कपिल वैशेषिकतन्त्रसम्मत परमाणुवाद से सन्तुष्ट नहीं होते। इन का कहना है कि, परमाणु सर्वथा परिच्छिन्न हैं। जो स्वयं परिच्छिन्न (सीमित) होता है, वह कथमपि परिच्छिन्न जगत् का मूल उपादान नहीं बन सकता। परिच्छिन्नतन्तु वस्त्र के अतिरिक्त और किसी का उत्पादक नहीं बन सकता। परिच्छिन्न सुवर्ण कटककुण्डलादि के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का जनक नहीं बनता। परिच्छिन्न मिट्टी मृण्मयपात्रों के अतिरिक्त अन्योत्पत्ति में असमर्थ है। ऐसी दशा में परिच्छिन्न परमाणु को विचित्र भावोपेत इस विश्व का उपादान किसी भी दशा में नहीं माना जासकता "परिच्छिन्नं न सर्वोपादनम्" [सां० द० १।७६।]। फलतः हमें परमाणु से पृथक् किसी अन्य अपरिच्छिन्न तत्त्व की उपादानकारणता पर ही विश्राम मानना पड़ेगा।

कार्य्यस्वरूप के आधार पर ही उसके मूलकारण का अनुमान लगाया जाता है। क्योंकि--'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार कारण के गुण हीं कार्यगुण के आरम्भक (उपादान) बनते हैं। जब यह सिद्ध विषय है, तो विश्वरूप कार्य्य के मूल उपादान का अन्वेषण करने के लिए आगे बढ़ने से पहिले हमें इस विश्व कार्य्य के गुणों की परीक्षा करनी पड़ेगी, एवं इन कार्य्यगुणों के आधार पर ही तत्समतुलित कारण का पता लगाना पड़ेगा।

जब हम कार्य्यरूप विश्व के पदार्थों पर दृष्टि डालते हैं, तो वहां हमें सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों का साम्राज्य उपलब्ध होता है। सात्त्विक--राजस--तामस-इन तीन भावों

के अतिरिक्त किसी चौथे भाव का हम अत्यन्ताभाव पाते हैं। जब कि कार्य विश्व के गुण सत्त्व-रज-तम ये तीन ही उपलब्ध होते हैं, तो हमें उक्त सिद्धान्त के आधार पर यह मान लेना पड़ता है कि, यही त्रिगुणसमष्टि त्रिगुणभावापन्न इस कार्य विश्व का मूल उपादान है। दूसरे शब्दों में कार्यविश्व का त्रैगुण्य हमें इस के लिए बाध्य करता है कि, हम किसी त्रैगुण्यभाव को ही इस विश्व का मूल मानें। वही त्रैगुण्यभाव "अव्यक्तप्रकृति" नाम से प्रसिद्ध है, एवं यही प्रकृति विश्व की भाग्यविधात्री है।

इस प्रकार जिस आत्मक्षर को वैशेषिक लोग आत्मकोटि में ले जाते थे, उस आत्मक्षर को प्राधानिक विश्व की ओर ढकेल देते हैं। सांख्यतन्त्र आत्मक्षर को भूतभावन समझ रहा है। "भूतानि भावयति, उत्पादयति" भूतभावन शब्द का यही निर्वचन है। इस प्रकार वैशेषिक की दृष्टि में अव्यक्त, अकर्त्ता आत्मक्षर ही इस तन्त्र की दृष्टि में व्यक्त, एवं भूतादि का जनक हैं। वैशेषिक जहां आत्मक्षर को आत्मा कहता है, वहां यह तन्त्र अक्षर को आत्मकोटि में प्रविष्ट मान रहा है। वही अव्यक्त अक्षर, प्रधान, प्रकृति, कारण आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। प्रकृतिरूप यह अव्यक्त अक्षर ही व्यक्तावस्था में आकर "महान्" कहलाने लगता है। वृक्षबीज ही वृक्ष का कारण है। बीज सुसूक्ष्म है, अव्यक्त है। यही बीज स्थूल वृक्षरूप में आकर महान् (बड़ा) बनता हुआ व्यक्त हो जाता है। यही अवस्था यहां समझिए। प्रकृति बीजस्थानीया होने से सुसूक्ष्म है, अव्यक्त है। संसार महीरुहरूप महा प्रपञ्च उस सुसूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति का ही व्यक्तीभाव है। व्यक्तावस्था में वही महान् है, अव्यक्तावस्था में वही प्रकृति है। प्रकृति (अक्षर) के महद्रूप को ही क्षर कहा जाता है। क्षर व्यक्त है, अक्षर अव्यक्त है, इस का अर्थ यह नहीं है कि अक्षर-क्षर कोई स्वतन्त्र दो तत्त्व हैं। अपितु एक ही तत्त्व की दो अवस्थाएं अक्षर-क्षर हैं। वही बीजावस्था में, अव्यक्तावस्था में, मूलावस्था में अक्षर कहलाता है। वही विश्वावस्था में, व्यक्तावस्था में, तूलावस्था में क्षर कहलाने लगता है।

सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणों की सम-विषम भेद से दो अवस्थाएं हो जाती हैं।

एक बड़ा चमत्कार तो यह है कि, शरीर के वात–पित्त–कफ नाम के तीनों धातुओं में जबतक परस्पर समता रहती है, तबतक अध्यात्मसंस्था स्वस्वरूप से सुरक्षित रहती है। धातुसाम्य ही जीवन का हेतु है। यदि तीनों धातुओं में परस्पर वैषम्य हो जाता है तो जीवन संकट में पड़ जाता है। आगे जाकर यही त्रिदोष घोर सन्निपातरूप में परिणत होता हुआ मृत्यु का कारण बन जाता है। इस प्रकार धातुसाम्य अध्यात्मसंस्था का रक्षक है. एवं धातुवैषम्य इस का भक्षक है। परन्तु प्रकृतितन्त्र में ठीक इस से उलटा है। सत्त्व–रज–तम तीन गुण ही उस के तीन धातु हैं। जब तक प्रकृति के इन तीनों धातुओं में विषमता रहती है, तभी तक विश्व का स्वरूप सुरक्षित रहता है। जिस दिन तीनों धातु, किंवा तीनों गुण विषमता छोड़ते हुएं साम्य पर आरूढ हो जाते हैं, उसी दिन व्यक्त विश्व अव्यक्त स्वरूप में परिणत हो जाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि गुणसाम्य प्रलय का प्रवर्त्तक है, एवं गुणवैषम्य सृष्टि का स्वरूप-समर्पक है।

कारण इस का यही है कि, प्रकृति जबतक अपने अव्यक्तलक्षण प्रातिस्विक स्वरूप को छोड़ कर व्यक्त नहीं बनती, तबतक विश्वरचना असंभव है। क्योंकि व्यक्त विश्व का विकास प्रकृति के व्यक्तरूप पर ही अवलम्बित है। इधर जबतक प्रकृति के सत्त्वादि तीनों गुण सर्वथा समभाव में परिणत रहते है, तबतक प्रकृति में किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं होता। जबतक समीक्रिया है, तब तक पूर्णशान्ति है, क्षोभ का ऐकान्तिक अभाव है। सृष्टि क्षोभमूला है। जबतक सत्त्व-रज–तम समीक्रिया में परिणत रहते हैं, तब तक उन्हें जगत से वहिर्भूत मानना पड़ता है। वही त्रिगुणमूर्त्ति अव्यक्त साम्यावस्था से हट कर विषमावस्था में आता हुआ "महान्" कहला ने लगता है। सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्था प्रकृति है, विषमावस्था महान् है। पुष्पकलिका (डोडी) प्रकृति है, पुष्प महान् है। कलिका ही व्यक्तावस्था में आकर पुष्प कहलाने लगती है। यही व्यक्तमहान् सांख्यपरिभाषा में महत्तत्त्व नाम से प्रसिद्ध हुआ है। सांख्यतन्त्रसिद्ध अव्यक्त, महान् ही वेदविज्ञानसिद्ध अक्षर एवं क्षर है। इसी महत्तत्त्व से (व्यक्त आत्मक्षर से) अहङ्कार का जन्म होता है। कैसे होता है?

इसका विश्लेषण करने में यह तन्त्र असमर्थ है। वैदिक विज्ञान ही इस विप्रतिपत्ति का निराकरण कर सकता है। आत्मक्षररूप महत्तत्त्व आरम्भ में ही महत्तत्त्व, किंवा महान् नहीं कहलाता। पारमेष्ठ्यभृगु के सम्बन्ध से ही यह महान् बनता है। सोमतत्त्व का ही नाम भृगु है। इस सोमतत्त्व की घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाएं हैं। घनावस्था पानी है, तरलावस्था वायु (शिववायु) है, विरलावस्था स्वयं सोम है। इस प्रकार अवस्थात्रयी से एक ही भार्गव सोम के अप्-वायु-सोम तीन रूप होजाते हैं। तीनों की समष्टि ही भृगु है-(देखिए गो०पू० २।८[९]-)यही अवस्थात्रययुक्त सोम-"महत् तत् सोमो महिषश्चकार" (ऋक्०सं०९ ९७। ४१।) इस मन्त्रवर्णन के अनुसार महान् है, एवं यही अहं की योनि है।

आत्मक्षर से विकारक्षर, विकार से विश्वसृट्, विश्वसृट् से पञ्चजन, पञ्चजन से पुरञ्जन, एवं पुरञ्जनों से स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पञ्चपुर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आत्मक्षर की ६ ठी धारा में पुर उत्पन्न होते हैं। इन में दूसरा परमेष्ठीपुर ही भृगु नाम के मनोता से युक्त है। इस के सम्बन्ध से ही वह व्यक्तक्षर महान् बनता हुआ अहङ्कार का जनक बनता है। इस विज्ञानदृष्टि से विचार करने पर वैशेषिक एवं प्राधानिक में कोई भी विरोध नहीं रहता। जब तक परमेष्ठी का विकास नहीं होता, तब तक आत्मक्षर महान् नहीं बनता। एवं जबतक यह महान् नहीं बनता, तबतक यह अव्यक्त ही रहता हुआ आत्मकोटि में समाविष्ट रहता है इसी दृष्टि से वैशेषिक का-"आत्मक्षर अव्यक्त है, आत्मा है, सृष्टि का मूल व्यक्त परमाणु है" यह कहना न्यायसङ्गत बन जाता है। परमेष्ठी रूप महान् परमाणुरूप है। इस के सम्बन्ध से अव्यक्त आत्मक्षर अपने अव्यक्तभाव से च्युत होता हुआ व्यक्त बन कर विश्व का मूल बनता है। महान्, किंवा महदवच्छिन्न आत्मक्षर अवश्य ही व्यक्त है। इस दृष्टि से प्राधानिक का-"क्षर व्यक्त है, यह महान् है, यही सृष्टि का मूल है" यह कथन भी सत्य बन जाता है।

महान् को हमने सोम बतलाया है, एवं इसकी तीन अवस्थाएं बतलाई हैं। क्षर-मूर्त्ति यही त्रिमूर्त्ति महान् चिदंश का ग्राहक बनता हुआ त्रिविध अहभावों का जनक बनता

है । अप्-वायु-सोम तीन हीं स्फटिकमणि की तरह वीध्र हैं, अतएव जिस प्रकार वीध्र स्फटिक पर जपाकुसुम का राग प्रतिबिम्बित हो जाता है, एवमेव वीध्र अप्-वायु-सोम पर चित् का आभास [प्रतिबिम्ब] पड़ता है । इसी चिदाभास का नाम जीव है, यही अहङ्कार है । इस की योनि त्रिमूर्त्ति महान् ही है । अहं का विकास तीन धरातलों में होता है, अतएव जीवसृष्टि आप्यजीव, वायव्यजीव, सौम्यजीव भेद से तीन ही भागों में विभक्त है । त्र्यावच्छिन्न महान् ही अहंभाव की योनि है, इसी में चिदात्मा अंशरूप से गर्भ धारण करता है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर विज्ञानाचार्य श्रीकृष्ण कहते —

> मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ॥
> सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥१॥
> सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ॥
> तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥ [गीता० १४।३।]।

महान् के आधार पर जिस समय भोक्ता अहंभाव का विकास होता है, उसी समय इस भोक्ता की स्वरूपरक्षा के लिए भोग्यपदार्थ की आवश्यकता हो जाती है । इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए भोक्ता अहं की इच्छा से उस के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द भोग्यरूप ये पांच तन्मात्राएं उत्पन्न हो जातीं हैं । अहङ्कार ही पञ्चतन्मात्रा का प्रवर्त्तक है । यही पञ्चतन्मात्रा विज्ञानदृष्टि से "गुणभूत" है, जिन का कि पूर्वतन्त्र में दिग्दर्शन कराया जाचुका है ।

एक विशेषता और देखिए । जिन अणुभूतों का पूर्वतन्त्र में उल्लेख किया गया था, उन अणुभूतों में हीं यह गुणभूत (पञ्चतन्मात्रा) रहते । अणु-गुण दोनों अविनाभूत हैं। एकप्रकार से अणुभूत को उक्थ (मूलबिम्ब) समझिए, एवं गुणभूत को इस उक्थ के अर्क (रश्मिएं) समझिए । उक्थार्करूप पञ्चतन्मात्रा का एक स्वतन्त्र विभाग हुआ, अहङ्कार का एक स्वतन्त्र विभाग हुआ, महान् का एक स्वतन्त्र विभाग हुआ, एवं अव्यक्त प्रकृति का एक स्वतन्त्र विभाग हुआ । इस प्रकार १-अव्यक्त, २-महान्, ३-अहङ्कार, ४-पञ्चतन्मात्रा

चार स्वतन्त्र विभाग हुए। इन चारो में अव्यक्त तो अव्यक्त है, शेष तीनों व्यक्त हैं। इस व्यक्तत्व साधर्म्य से हम महान, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा इन तीनों को एक श्रेणि की वस्तु कह सकते हैं। यदि तन्मात्रा की अवान्तर संख्याओं की भी अपेक्षा की जाती है तो १–महान्, २–अहङ्कार, ३–रूप, ४–रस, ५–गन्ध ६–स्पर्श, ७–शब्द यह सात व्यक्ततत्त्व हो जाते हैं। इन सातो की समष्टि व्यक्त है, यही क्षर प्रपञ्च है, यही भूतभावन है।

उक्त सातों व्यक्त पदार्थों में से जो अहङ्कार नाम का भोक्ता पदार्थ है, उस से हम ने भोग्यरूप पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति वतलाई है। क्योकि विना भोग्य के भोक्ता सुरक्षित नहीं रह सकता। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि, केवल भोग्य पदार्थ ही भोक्ता की तृप्ति के कारण नहीं वन सकते। तृप्ति के लिए भोग्य का भोग करना आवश्यक है। भोक्ता अपने स्थान से (हृदयस्थान से) हटता नहीं, जड़ भोग्य स्वयं भोक्ता के समीप आने पे असमर्थ। कैसे भोग्य भोक्ता का भोग [अन्न] बने। अवश्य ही मध्यस्थ भोगसाधन की आवश्यकता प्रतीत होती है। अपनी इसी आवश्यकता को पूरी करने के लिए भोक्ता अहङ्कार ११ इन्द्रियों का जनक वनता है। वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ, पांच कर्मेन्द्रिएं, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् ये पांच ज्ञानेन्द्रिएं, उभयात्मक मन ये ११ इन्द्रिएं अहङ्कार से [इच्छा से] उत्पन्न होतीं हैं। ये ही इन्द्रिएं भोगसाधन वनतीं हैं। जो जिस का कारण है, उसे ही उस कार्य की प्रकृति माना जाता है। चूंकि इन्द्रिय वर्ग का कारण अहङ्कार है, अतः हम इसी को इन्द्रियों की प्रकृति कहने के लिए तय्यार हैं इसी अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा उत्पन्न हुई है, अतः इस की प्रकृति भी अहङ्कार ही है। अहङ्कार महान् से उत्पन्न हुआ है, अतः महान् को इस की प्रकृति माना जासकता है।

शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध इन पाचों तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पांच भूत उत्पन्न होते हैं। इनकी प्रकृति पञ्चतन्मात्रा ही मानी जायगी। ११ इन्द्रिएं, ५ भूत, संभूय १६ तत्त्व तो विकृतिएं हैं। महान्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा ये सात प्रकृतिविकृतिए हैं। अव्यक्तमूलप्रकृति की अपेक्षा से जहां इन सातों को विकृति कहा जाता है,

वहां अहङ्कार की अपेक्षा से महान् को प्रकृति, इन्द्रियतन्मात्राओं की अपेक्षा से अहङ्कार को प्रकृति, एवं पञ्चभूतों की अपेक्षा से पञ्चतन्मात्रा को प्रकृति भी माना जासकता है।

अव्यक्त [अक्षर] इन सातों का, किंवा सब का [परम्परया] जनक है, एवं वह स्वयं अजन्मा है, अतएव "अनन्यत्वे सति जनकत्वं मूलप्रकृतित्वम्" इस लक्षण के अनुसार सामान्यावस्थापन्न इस अव्यक्त प्रकृति को "मूलप्रकृति" कह सकते हैं। विज्ञानपरिभाषा-सिद्ध अक्षर ही सांख्य की मूलप्रकृति है, आत्मक्षर ही प्रकृतिविकृति है, एवं विकारक्षर ही विकृति है। मूलप्रकृति एक है, प्रकृति–विकृति सात हैं, विकृति १६ हैं। सब मिलकर इस तन्त्र में २४ पदार्थ होजाते हैं। वैशेषिक की पदार्थमर्य्यादा जहा ६ संख्या पर समाप्त है, वहां अध्यात्मवादी प्राधानिक २४ पदार्थ मान रहे हैं।

पाठकों को स्मरण होगा कि, हमनें दर्शन प्रकरण का आरम्भ करते हुए हुए यह बतलाया था कि, विश्वविद्या अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत भेद से तीन भागों में विभक्त है। एवं शारीक-प्राधानिक-वैशेषिक तीनों तन्त्र क्रमशः इन्हीं तीनों का सम्यग्दर्शन करा रहे हैं। तीनों संस्थाओं की मूलप्रतिष्ठाएं क्रमशः ईश्वर–जीव–जगत् ये तीन विवर्त्त हैं। इस दृष्टि को सामने रखते हुए यदि वैशेषिक, एवं प्राधानिक के प्रतिपाद्य विषय का विचार किया जाता है तो, दोनों तन्त्रों में कोई विरोध ह नहीं रहता। वैशेषिक का प्रधान लक्ष्य अधिभूतप्रपञ्च है। इस दृष्टि से भौतिक पदार्थों का द्रव्य–गुण–कर्म्म–सामान्य–विशेष-समवाय इन ६ पदार्थों में हीं अन्तर्भाव होजाता है। इन ६ ओं का आधिभौतिक जगत से ही सम्बन्ध है। चूंकि यही वैशेषिक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय था, अतएव उसने इन ६ ओ का अक्षररूप आत्मा [परमात्मा] से हीं सीधा सम्बन्ध माना है। जीव को इस भूतोत्पत्तिकारणता मे पृथक् रक्खा है।

इधर प्राधानिक का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक संस्था है। अपने इसी उद्देश्य की प्रधानता को लक्ष्य में रखते हुए सांख्यने अक्षर–क्षररूप महान् के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं अहङ्काररूप जीव को कारणरूप से समाविष्ट कर उस के द्वारा पञ्चतन्मात्रा इन्द्रिएं, भूतवर्गादि

की उत्पत्ति बतलाई है। इन्द्रियों का सम्बन्ध एकमात्र जीव के साथ ही है, अतएव तत्प्रकरण में पठित मात्रा, एवं भूतों को भी हम अध्यात्मसंस्था सम्बन्धी ही मानने के लिए विवश होजाते हैं। इस आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्रियादि का समावेश होना आवश्यक था। इसी दृष्टि से ९ के स्थान में २४ तत्त्वसत्ता न्यायसङ्गत बन जाती है।

साख्यने २४ से पृथक् [प्रकृति-विकृति से पृथक्] एक पुरुष की सत्ता [अव्यय की सत्ता] और मानी है। इस दृष्टि से इस तन्त्र में २५ तत्त्व होजाते हैं। इन में २४ तत्त्वों द्वारा ही, चौवीस संख्या द्वारा ही ज्ञानमूर्त्ति पुरुष की सिद्धि हुई है, अतएव संख्यासिद्ध इस ज्ञानमूर्त्ति पुरुष को सांख्य कहा जाता है। ताच्छब्द्यन्याय से तत्प्रतिपादक यह तन्त्र भी आगे जाकर सांख्य नाम से प्रसिद्ध होगया है। इसी तत्त्ववाद का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः,
प्रकृतेर्महान्।
महतोऽहङ्कारः।
अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम्।
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः"।
(सांख्यद० १।६१)।

सांख्यतन्त्रानुसार २५ वें अव्ययपुरुष का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सर्वथा निर्लेप है। वह किसी का उत्पादक नहीं, इसलिए तो उसे प्रकृति नहीं कहा जासकता साथ ही

× पूर्वतन्त्र में कहा गया है कि, वैशेपिक अव्यय को नहीं मानते। इस का तात्पर्य्य यह नहीं है कि, वे अव्यय को पहिचानते नहीं। अपि तु चूँकि उनका मुख्य विषय अधिभूत है, इसका पर्यवसान क्षराक्षर पर ही हो जाता है, अतः वे इसके प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं समझते। इधर सांख्य जीव का निरूपक है। जीव अक्षरात्मक है। अव्यय इस के सन्निहित है। अतः प्रकृति के साथ इसे इस पुरुष की चर्चा करना भी आवश्यक हो जाता है।

में वह किसी से उत्पन्न नहीं, इस लिए उसे विकृति भी नहीं-कहा जासकता। कारणरूपा प्रकृति कार्यरूपा विकृति दोनों से अतीत बनता हुआ वह कार्य्यकारणातीत सर्वथा तटस्थ है। सृष्टिमर्य्यादा की दृष्टि से उसका मानना न मानना समान है। इसी अभिप्राय से ईश्वरकृष्ण कहते हैं।

मूलप्रकृतिरविकृति, महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (सां० का० ३।।)।

पूर्व में बतलाया गया है कि प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिएं उत्पन्न हुई हैं। उस मूलप्रकृति का पहिला विकार महान् है, दूसरा एवं अन्तिम विकार अहङ्कार है। आगे के जितने भी विकार हैं, उन सब का अहङ्कार से सम्बन्ध है। अतएव अहङ्कार को मूलप्रकृति का चरम विकार मान लिया जाता है, जैसा कि-"चरमोऽअहङ्कारः" [सां०१।७२] से स्पष्ट है। इस सूत्र से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, इस तन्त्र का मुख्य लक्ष्य अध्यात्मप्रपञ्च [जीव संस्था] ही है। आगे जो विकार बतलाए जायँगे, उनका मूल अहङ्कार [जीव] ही होगा।

जिस प्रकार एक ही दूध दधि और पानी दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है, एवमेव एक ही अहङ्कार इन्द्रिय एवं पञ्चतन्मात्रा इन दो विरुद्ध भावो का जनक बन जाता है। चरम विकाररूप यही अहं आगे सारे कार्य [अध्यात्मसंस्था में] उत्पन्न करता है। कैसे ? इस का उत्तर संस्कार से पूछिए। जीव के जैसे सञ्चित संस्कार होते है, उसे वैसे ही तो भोगसाधन [इन्द्रिय] मिलते हैं, एवं वैसे ही भोग्य [तन्मात्राएं] मिलते हैं। इस प्रकार अपनी संस्था का मूल (संस्कार द्वारा) यह अहं स्वरूप जीवात्मा ही बनता है, जैसा कि-"तत्कार्य्यत्वमुत्तरेषाम्" [सां० १।७३।] से स्पष्ट है।

यद्यपि इन्द्रियादि आगे के सारे विकार अहङ्कार से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसी दशा में हम उस मूलप्रकृति को सम्पूर्ण जगत् का कारण नहीं मान सकते। तथापि चूंकि परम्परया प्रकृति ही सब का मूल है, अतः उसे अवश्य ही मूलप्रकृति कहा जासकता है।

अहङ्कार से पञ्चतन्मात्रा आदि की उत्पत्ति मानने पर इस तन्त्र पर वैशेषिक तन्त्रवादियों

को यह आक्षेप करने का अवसर मिलता था कि–"जब मात्रा एवं इन्द्रियों का मूल कारण अहङ्कार है, तो एसी दशा में तुम [सांख्य] अव्यक्त नाम की प्रकृति को कैसे सर्वजगत् का कारण मान सकते हो। जब यह सब का कारण नहीं तो उसे मूलप्रकृति कैसे कह सकते हो"। इस आक्षेप का समाधान करते हुए कपिल कहते हैं कि, ठीक है। यद्यपि मूलप्रकृति को जगत् के प्रति-साक्षात् रूप से कारणता नहीं है। तथापि परम्परया अन्त में उसी पर विश्राम मानना पड़ता है। प्रत्येक दशा में सर्वकारण, अतएव मूलकारण तो प्रकृति को ही मनना पड़ेगा।

यदि ऐसा मानने में तुम [वै०] आपत्ति करोगे, तो तुह्मारे मत में भी व्याघात होगा. तुह्मारे मतानुसार स्थूलजगत् का मूलकारण अणुपरमाणु है। हम कहते हैं, अणु तो रेणुमात्र का कारण है। स्थूल जगत् का मूलकारण तो रेणुभूत है। ऐसी अवस्था में अपनी इस अणु–कारणतावाद की मूलकारणता सुरक्षित रखने के लिये तुम जो उत्तर दोगे, वही उत्तर तुह्मारे आक्षेप का निवारक बन जायगा। कपिल ने-"आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्य्येऽप्यणुवत्" [सां० १।७४।] इस सूत्र से यही कहा है।

अब प्रसङ्गोपात्त मात्रोत्पत्ति का भी तारतम्य देख लीजिए। अहङ्कार से उत्पन्न होने वाली पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चभूत उत्पन्न हुए हैं। इन में शब्दतन्मात्रा से आकाश उत्पन्न हुआ है, एवं इस का गुण शब्द है। शब्दतन्मात्रागर्भित स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न हुआ है। वायु के आरम्भक शब्द–स्पर्श हैं। अतएव इस में शब्द स्पर्श दोनों गुण हैं। वायु का स्पर्श होता है, वायु में सनसनाहटरूप शब्द भी है। शब्द—स्पर्शतन्मात्रागर्भित रूपतन्मात्रा से तेज [अग्नि] उत्पन्न हुआ है। इस में शब्द–स्पर्श–रूप तीनों गुण हैं। शब्द–स्पर्श–रूपा–तन्मात्रागर्भित इस तन्मात्रा से पानी उत्पन्न हुआ है। अतएव पानी में हम चारों गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रसतन्मात्रागर्भित गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न हुई है। अतएव इस में पांचों गुण उपलब्ध होते हैं। इसी लिए तो-"एषां वै भूतानां पृथिवी रसः" [शत०—१४।९।४।१।] इत्यादिरूप से श्रुति नें पृथिवी को सम्पूर्ण भूतों का रस माना है। पांचों में शब्द-स्पर्श-रूप–रस–गन्ध यह तो क्रमशः प्रधान हैं। आकाश में केवल शब्द, वायु में शब्द–स्पर्श, तेज

में शब्द-स्पर्श-रूप, जल में शब्द-स्पर्श-रूप-रस, एवं पृथिवी में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध पांचों प्रतिष्ठित हैं. जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

वियदेकं गुणं प्रोक्तं, द्वौ गुणौ मातरिश्वनः ।
त्रयस्तेजसि, चत्वारः सलिले, पञ्च भूमिगाः ॥

पांचों भूत पंचतन्मात्राओं से उत्पन्न हुए हैं। इसी अभिप्राय से तत्त्वगणना में पञ्च-तन्मात्राओं को पृथिव्यादि भूतनामों से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। सांख्यतन्त्रसिद्ध इन २४ तत्त्वों में से जो महान् नाम का तत्त्व है, उसे हमने सोममय कहा है। इसी सोममय महान् को सत्त्वमन कहा जाता है, एवं यही चित्त नाम से भी प्रसिद्ध है। इन्द्रियमन (जोकि इन्द्रिय परिगणना में ११ वीं इन्द्रिय है) अहङ्कार से उत्पन्न हुआ है, एवं यह सत्त्वमन अव्यक्त वा व्यक्तरूप है। दोनों मनो में अहोरात्र का अन्तर है। एक (सत्त्व) मन अहंद्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता हुआ सर्वेन्द्रिय, अतएव अतीन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय बन रहा है। दूसरा मन संकल्प--विकल्पात्मक नियतभाव से युक्त रहता हुआ इन्द्रिय बन रहा है। सत्त्वमन विज्ञान की प्रतिष्ठा है, इन्द्रियमन ऐन्द्रियक विषयों की प्रतिष्ठा है। महत्स्वरूप सत्त्वमन उस इन्द्रिय मन से सर्वथा पृथक् तत्त्व है, यही वक्तव्य है, जैसा कि "**महदाख्यमाद्यं कार्यं, तन्मनः**" (सा० १ । ७१ ।) इस सूत्र से स्पष्ट है।

सूत्र का तात्पर्य यही है कि, प्रकृति का पहिला कार्य, पहिला परिणाम महत्तत्व है, महान् है, एव इसे ही मन कहा जाता है। पूर्वकथनानुसार यह महन्मन विज्ञानरूपा बुद्धि की प्रतिष्ठा है। विज्ञान, एवं प्रज्ञान (मन) दोनों संपरिष्वक्त हैं। प्रज्ञान मन से ही विज्ञान बुद्धि गतार्थ है, अतएव सांख्यने बुद्धि की स्वतन्त्र गणना करने की आवश्यकता नहीं समझी है। "**सत्वरजस्तमसां०**" (सां०द०१।६१।) इस सूत्र से महान् द्वारा अहङ्कार की उत्पत्ति बतलाई गई है। आगे जाकर "**तेनान्तःकरणस्य**" (सां द०१।६४।) से अहङ्कार को बुद्धिजन्य कहा गया है। अन्तःकरण शब्द इस तन्त्र में बुद्धि का ही वाचक माना गया है। एवं आगे

जाकर—"ततः प्रकृते" [सां॰द॰१।६५।] इत्यादि रूपा से अन्तःकरणरूपा बुद्धि द्वारा प्रकृति [अव्यक्त अक्षर] का अनुमान लगाया गया है। परन्तु ऐसा न हो कर 'प्रकृतेर्महान्, महतो-ऽहङ्कारः" [सां॰द॰१।६१।] इस पूर्व सूत्रसिद्ध क्रम के अनुसार अहङ्कार से तज्जनक महान् का, महान् से तज्जनक अव्यक्त [प्रकृति] का अनुमान लगाना चाहिए था। इस प्रकार स्वयं सूत्रों में पूर्वापर विरोध आता है। यह विरोध तभी हट सकता है, जब कि अन्त.करणरूपा बुद्धि का महान् में हीं अन्तर्भाव मान लिया जाय। जब महान् से महान् [मन] और बुद्धि दोनो का ग्रहण हो जाता है तो—'अहं से महत्, महत् से प्रकृति, अथवा अहं मे बुद्धि, बुद्धि से प्रकृति का अनुमान लगाना सङ्गत हो जाता है। इस दृष्टि से सात के स्थान मे प्रकृति विकृतिएं—"मन, बुद्धि, अहङ्कार, भूमि, आप. अनल. वायु, आकाश इस रूप से आठ मानीं जा सकतीं हैं। विज्ञानप्रधान गीताशास्त्र ने स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए आठ ही प्रकृति-विकृतिएं मानीं हैं। इन्हीं की समष्टि को गीता ने—"अपराप्रकृति" कहा है, एवं यही हमारा आत्मक्षर है।

सांख्यशास्त्र की मूलप्रकृति जहां विज्ञानकाण्ड में अक्षर नाम से प्रसिद्ध है, वहां यही गीता में पराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध है। गुणत्रयविशिष्टा, अव्यक्तअक्षरात्मिका इस पराप्रकृति का कोई मूल नहीं है, अपितु यही सब का मूल है। "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" [१३।१९ गी॰] के अनुसार अव्ययपुरुषवत् उस की अक्षररूपा पराप्रकृति भी किसी अन्य मूल से उत्पन्न न होने के कारण सर्वथा नित्य है। "सामान्ये सामान्याभावः" इस सिद्धान्त के अनुसार मूल में मूल नहीं रहता। अतः इस मूलप्रकृति को हम अमूल कह सकते है। साथ ही में यही अमूल सम्पूर्ण विश्व का मूल होने से मूल भी कहा जाता है, जैसा कि "मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" [सां॰द॰१।६७।] इस सूत्रवर्णन से स्पष्ट है। इसी मूलप्रकृति, एवं अष्टधा विभक्त प्रकृतिविकृति का, दूसरे शब्दो में अव्यक्ताक्षररूपा पराप्रकृति, एवं व्यक्ताक्षररूपा अपराप्रकृति का स्वरूप वतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

"भूमि-रापो-ऽनलो-वायुः-खं-मनो-बुद्धिरेव च-

अहङ्कार-इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयम् ···" [गीता॰ ७।४] ।

१—भूमिः—गन्धतन्मात्रा, २—आपः -रसतन्मात्रा, ३-अनलः-रूपतन्मात्रा, ४ वायुः-स्पर्शतन्मात्रा, ५—खं—शब्दतन्मात्रा ६—मनः—महान्, ७—बुद्धिः—विज्ञानम्, ८—अहङ्कारः, इस रूप से अपराप्रकृति के आठ विभाग हैं । इस प्रकार स्थूलारुन्धतिन्याय से पहिले स्थूल अपराप्रकृति का स्वरूप बतला कर अब क्रमप्राप्त सूक्ष्म पराप्रकृति का दिग्दर्शन कराते हुए गीताचार्य कहते हैं—

··················इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥ (गीता॰ ७।५) ।

१—अव्ययः—-ꠀपुरुषः——पुरुषः [१] (आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाङ्मयः ꠀसनातन
२—अक्षरः —-ꠀपराप्रकृतिः-मूलप्रकृतिः (१)(ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोममयः)—ꠀअव्यक्तः
३—आत्मक्षर—ꠀअपराप्रकृतिःप्रकृतिविकृतिः(७)(प्राणाप्वागन्नान्नादमयः)——ꠀव्यक्तः
४—विकारक्षरःꠀजगत्- —विकारः [१६](पञ्चीकृतप्राणादिमयः]—-ꠀव्यक्ततमः

———*———

१—[अव्ययः]-पुरुषः-निर्लेपः [१]

२—[अक्षरः]—मूलप्रकृतिः [१]

३—[आत्मक्षरः] प्रकृतिविकृतयः [७]

४—[विकारक्षरः]—विकाराः [१६]

१-सत्त्वंमनः	१-महान् ( )
२-बुद्धिः	
३-अहङ्कारः	२-अहङ्कारः (१)
४-खम्	३-शब्दतन्मात्रा (१)
५ वायुः	४-स्पर्शतन्मात्रा (२)
३-अनलः	-रूपतन्मात्रा (३)
४-आपः	६-रसतन्मात्रा (४)
५-भूमिः	७-गन्धतन्मात्रा (५)

षोडशात्मकं विश्वम्:		
	१-१-वाक्	कर्म्मेन्द्रियाणि पञ्च
	२-२-पाणी	
	३-३-पादौ	
	४-४-पायुः	
	५-५-उपस्थः	
	६-१-चक्षुषी	ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च
	७-२-श्रोत्रे	
	८-३-घ्राणम्	
	९-४-रसना	
	१०-५-त्वक्	
	११-१-मनः	उभयात्मकंमनः-एकम्
	१२-१-आकाशः	पञ्चभूतानि
	१३-२-वायुः	
	१४-३-तेजः	
	१५-४-जलम्	
	१६-५-पृथिवी	

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृते र्महान् । महतोऽहङ्कारः ।
अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि । उभयमिन्द्रियम् । तन्मात्रेभ्यः—
स्थूलभूतानि । पुरुषः । इति पञ्चविंशतिर्गणः ।" [सां० द० १ । ६१ ।] :

अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथासत्त्वंतथश्वरः ॥
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत्पञ्चविंशकम् ॥१॥
सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ॥
सम्यग्दर्शनमेतावद् भाषितं तव तत्त्वतः ॥२॥
"एतत्सम्यगज्ञात्त्वाकृतकृत्यः स्यात्—
न पुनस्त्रिविधेन दुःखनानुभूयते" ।

मूलसिद्धान्तानुसार साख्यतन्त्र प्रकृति को ही जगत् का कारण मानता है। जो कुछ करती है, प्रकृति ही करती है। पुरुष [अव्यय] पुष्कपलाशवत् निर्लेप है। हा इस सम्बन्ध में यह ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि, जगत्तन्त्रसञ्चालिका प्रकृति स्वय जड़ है। अतः जबतक उसे ज्ञानमूर्त्ति पुरुष का सहयोग प्राप्त नहीं होजाता, तबतक वह अपनी सृष्टिनिर्म्माणप्रक्रिया में असमर्थ ही रहती है। इसी दृष्टि से पुरुष का भी सहयोग सिद्ध होजाना है। परन्तु यह सहयोग उस का ऐच्छिक सहयोग नहीं है, अपितु स्वाभाविक सहयोग है। अतः परमार्थतः हम पुरुष को सर्वथा निर्लेप ही कहेंगे।

उदाहरण के लिए सौर प्रकाश को अपने सामने रखिए। सम्पूर्ण भूमण्डल पर सूर्य्य के स्वाभाविक प्रकाश का सम्बन्ध हो रहा है। साथ ही में यह भी निश्चित है कि, हम सूर्य्य-प्रकाश के सहयोग से ही सासारिक कर्म्म करने में समर्थ होते हैं। यदि प्रकाश का सहयोग प्राप्त न हो तो हम [अन्धकार में] कोई काम न कर सकें। परन्तु सूर्य्य का यह सहयोग ऐच्छिक नहीं है। वह–"मैं इन को प्रकाश देकर इन के काम में हाथ बटाऊं" इस इच्छा से प्रकाश नहीं करता। उस का तो स्वभाव है प्रकाश करना---"**परास्य शक्तिर्विविध श्रयते–स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**"। उस नित्यसिद्ध प्रकाश के द्वारा यदि कोई व्यक्ति कर्म्म करता है, तो इस से सूर्य्य का कुछ बन नहीं जाता, कोई कर्म्म नहीं करता है, तो इस से उस की कोई क्षति नहीं हो जाती। उभयथा वह निर्लेप रहता है। कर्म्म करने, एवं न करने का फला-फल मनुष्य को ही भोगना पड़ता है यदि सूर्य्य का ऐच्छिक सहयोग होता, तो वह भी कर्म्म का सञ्चालक माना जाता, एवं उस दशा में उसे भी मनुष्यकृत शुभाशुभ कर्म्मों का फल भोगना आवश्यक हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं है। अतएव स्वाभाविक सहयोग को हम कर्म्मतन्त्र में समाविष्ट नहीं कर सकते। ठीक यही बात प्रकृति पुरुष में समझिए। प्रकृति कर्म्म करने वाली है, परन्तु जड़ होने से इसे पुरुषज्ञान का सहयोग अपेक्षित है। उधर व्यापक पुरुष का व्यापक ज्ञानप्रकाश सर्वत्र फैल रहा है। उसी के उदर में प्रकृति बैठी हुई है। उस स्वाभाविक प्रकाश को यदि प्रकृति अपने कर्म्मतन्त्रसञ्चालन के लिए ले लेती है, तो एतावता ही वह कर्म्मतन्त्र

का सञ्चालक नहीं माना जासकता। ऐसी दशा में इस स्वाभाविक सहयोग के रहते हुए भी हम पुरुष को कार्य्यकारणात्मक कर्तृतन्त्र से सर्वथा पृथक्, अतएव पुष्करपलाशवन्निर्लेप ही कहेंगे, जैसा कि--"प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तुः चेतनः" इत्यादि प्राधानिक सिद्धान्त से स्पष्ट है।

प्राधानिकों का प्रकृतिमूलक यह अभिनिवेश यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। अपितु ये यहां तक बढ़ जाते है, कि जब अव्यय नाम के ईश्वर का विश्व से कोई सम्बन्ध नहीं है, तो उपासना आदि से उस से कल्याण की आशा करना व्यर्थ है। केवल प्रकृति का समाश्रय ही कर्त्तु-मकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ है। फलत उसे (प्रकृतितन्त्र में) मानना न मानने के ही समान है। अपने इसी सिद्धान्त को इन्हो नें-"ईश्वरासिद्धेः" (सांख्यदर्शन) इस सूत्र से प्रकट किया है। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि, साख्य शास्त्र अनीश्वरवादी है। यदि ऐसा होता तो इसे आस्तिक दर्शन कभी न कहा जाता। सांख्य अवश्य ही अव्ययेश्वर की सत्ता मानता है। एवं इसी ईश्वरसत्ता के आधार पर इस ने २४ तत्त्वो से पृथक् पुरुषतत्त्व की गणना की है। फिर भी यह कहता है कि, ईश्वर निग्रहानुग्रह नहीं करता। एक मुक्त मनुष्य ही जब सांसारिक प्रपञ्च से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, तो जो पुरुष नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त है, वह गुणत्रयमूला सृष्टि पर निग्रह अनुग्रह करेगा, यह कब असम्भव है 'ईश्वर असिद्ध है" इस का तात्पर्य्य है-सृष्टि रचना की दृष्टि से वह सर्वथा पृथक् है। अस्तु इस तन्त्र का यह सिद्धान्त कहां तक मान्य है, इस की मीमांसा आगे की जायगी।

अभी इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि-"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरम्, बहुब्रह्मैकमक्षरम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार महदक्षर ही इस तन्त्र का मुख्य आत्मा है। पुरुष केवल भोक्ता है। उद्देश्य है-तत्त्वसमष्टि, विधेय है--अक्षरात्मा। यही इस तन्त्र का संक्षिप्त निदर्शन है।

—इतिप्राधानिकतन्त्रनिरुक्तिः—

—छ—

ज—शारीरकतन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा

* श्रीः *

ज—शारीरकतन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा

अधिभूतप्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाला वैशेषिकतन्त्र कहता है-ईश्वर स्वयं सृष्टि निर्माण नहीं करता, अपितु इच्छामात्र करता है। राजा के अनुचर जिस प्रकार राजा की इच्छानुसार तत्तत् कर्म्मों में प्रवृत्त होजाते है, तथैव ईश्वरेच्छा से प्रेरित नित्य निरवयव, जड़ परमाणु हीं सृष्टिकर्म के सञ्चालक बनते हैं। ईश्वर न कर्त्ता है, न भोक्ता है, अपितु नियन्तामात्र है।

परमाणुवादी वैशेषिक का सिद्धान्त उस के अपने धरातल से सर्वथा सुसङ्गत है। वह क्षरविशिष्ट अक्षर को ही ईश्वर समझता हुआ उसे नियन्ता समझ रहा है। सचमुच श्रुति भी अक्षर को ही नियन्ता मान रही है अब विवाद केवल परमाणुवाद का है। परमाणु अवश्य ही मूलकारण नहीं है। यदि उपादानदृष्टि से विचार किया जाता है तो आत्मक्षर को मूलकारण माना जासकता है। इसे मूलकारण न मानकर अणुपरमाणु को मूलकारण मानने का हेतु यह है कि, वैशेषिक का मुख्य उद्देश्य भौतिक प्रपञ्च है। एव सामान्यदृष्टि से भूतप्रपञ्च का पर्यवसान परमाणु पर ही होजाता है। इस दृष्टि से वैशेषिक के परमाणुवाद पर भी कोई आपत्ति नहीं उठाई जासकती। परमाणु मूल अवश्य है, परन्तु जड़ है। "ज्ञानजन्या भवेदिच्छा" इस सिद्धान्त के अनुसार इच्छा का मूल ज्ञान है। उधर ईश्वरस्थानीय नियन्ता अक्षर अव्ययज्ञान से सर्वज्ञ बन रहा है। वही क्षर सम्बन्ध से 'सोऽकामयत" इसके अनुसार सृष्टि की इच्छा करता है। उसकी इच्छा से जड़ परमाणु सृष्टिकर्म्म में प्रवृत्त होजाते हैं। कर्त्ता भोक्ता परमाणु हीं हैं। इच्छा अवश्य नियन्ता अक्षर की ही है। इसी दृष्टि से ईश्वरेच्छा से सृष्टि का सञ्चालन भी इस तन्त्र में आक्षेप से बचजाता है।

अब चलिए प्राधानिकतन्त्र की ओर। सांख्यमतानुसार वैशेषिकतन्त्र सम्मत ईश्वर (अक्षर) ईश्वर (पुरुष) नहीं है, अपितु प्रकृति है। वह स्वयं ही अपनी इच्छा से जगत् का निर्म्माण

करने के लिए व्यक्तरूप में आती है ईश्वर अव्यय है उस की इच्छा का कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि यह ठीक है कि प्रकृति स्वयं जड़ है, परन्तु यह अड़चन पुरुष के स्वाभाविक सहयोग से हट जाती है, जैसा कि पूर्वतन्त्रोपसंहार में बतलाया जाचुका है प्रधानवादी सांख्य का उक्त सिद्धान्त भी उसके अपने धरातल से सर्वथा दोषरहित है। प्रकृति करती है, यह कहना इस लिए ठीक है कि. प्रकृति ही निमित्तकारण है. एवं यही नियन्ता है। इस की इच्छा उस अव्यय पुरुष का सहयोग है। यह स्वयं अव्यक्तरूप से विश्वनिर्माण न कर व्यक्तरूप से विश्वरचना करती है। इसका यह व्यक्तरूप परमाणुवाद से समतुलित है। इस दृष्टि से इस तन्त्रसिद्धान्त में भी कोई भेद नहीं हैं। भेद है केवल निरूपणीया शैली में। वे जिसे नियन्ता कहते हैं, ये उसे प्रकृति कहते हैं। वे जिस से परमाणु कहते हैं, उसे ये व्यक्त कहते हैं। उन की ईश्वरेच्छा इनकी प्राकृतेच्छा है।

अब शारीरकतन्त्र का विचार कीजिए। यह अवश्य ही दोनों से आगे बढ़ा हुआ है। वैशेषिक-प्राधानिकसम्मत क्षराक्षरमात्र से ही वे (शारीरक) लोग सृष्टिप्रक्रिया में कृतकृत्यता नहीं मानते। उनकी दृष्टि में प्रकृति ही सर्वेसर्वा नहीं है। अपितु इनके मतानुसार अक्षर से भी उत्कृष्ट, अक्षर से भी परे जो एक अव्यय नाम का उत्तम आत्मा है, वही विश्व का आत्मा बना हुआ है। विश्व में जो कुछ "अस्ति" "है") कह कर व्यवहार में आता है, वह सब अव्यय का ही विवर्त्त है। अव्यय के बिना प्रकृति तृण के कुब्जीकरण में भी असमर्थ है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियों में जो ब्रह्म शब्द पढ़ा हुआ है, इनके सिद्धान्तानुसार वह एकमात्र अव्यय का ही वाचक है, क्योंकि सर्वता का एकमात्र अधिष्ठाता अव्यय ही है। यदि इस ब्रह्मशब्द को जगत्क्षरपरक माना जायगा, तो अव्याप्तिदोष होगा। कारण अक्षर क्षर से अव्यय का ग्रहण न होगा। इधर अव्यय से सब गृहीत हैं। क्योंकि अक्षर, क्षर, विश्व सब कुछ अव्ययगर्भ में मुक्त हैं। वही लोकत्रय का आलम्बन है, वही सर्वेश्वर है। अव्ययब्रह्म की इसी सर्वता का दिग्दर्शन कराता हुआ अव्ययशास्त्र (गीताशास्त्र) कहता है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (गी० १५।१६-१७) ।

"इस लोकप्रपञ्च में क्षर अक्षर नाम के दो पुरुष हैं । सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्च क्षर-पुरुष (अपराप्रकृति) है। इन भौतिक क्षरकूटों में एकरूप से प्रतिष्ठित रहने वाला कूटस्थ तत्त्व अक्षरपुरुष (पराप्रकृति है । क्षर नामक प्रथमपुरुष, अक्षर नामक मध्यमपुरुष दोनों से अतिरिक्त उत्तमपुरुष और है, जो कि परमात्मा कहलाता है । जो कि अव्ययेश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उन्हे अपने ऊपर धारण किए हुए है, एवं जिनका वह स्वयं पोषण कर रहा है" ।

अपिच—यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ [गी० १५।१८] ।

"क्योकि मैं (अव्यय) क्षर से भी अतीत हूं, एवं अक्षर नाम के मध्यमपुरुष से भी अतीत हूं । अतएव मैं लोक एवं वेद में (सामान्य मनुष्यो एवं विद्वानों में) पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हो रहा हूं" ।

वैशेषिक कहते हैं—सम्पूर्ण विश्व परमाणु से उत्पन्न हुआ है । विश्व का जो आत्मा (क्षरविशिष्ट अक्षर) है, वही ईश्वर कहलाता है, एवं वही जगत् का नियन्ता है । प्राधानिक कहता है-जगत् प्रकृति (अक्षरयुक्त क्षर) से उत्पन्न हुआ है, पुरुष भोक्तामात्र है । परन्तु शारी-रक तन्त्र कहता है-अव्यय ही विश्व का कर्त्ता है, वही भर्त्ता है, वही धर्त्ता है । कर्त्ता-भर्त्ता-धर्त्ता, सब दृष्टियों से वही विश्व का भाग्यविधाता है । संचरक्रम से वही सब कुछ बना हुआ है । सम्पूर्ण विश्व ऐतदात्म्य है । इस आत्मसत्ता से ही सब सत् (विद्यमान) बनें हुए हैं । प्रतिसंचरक्रम से वह स्वस्वरूप से शेष रह जाता है । यह सब कुछ--वह है-"सर्वं खल्विदं-ब्रह्म" । वही-यह सब कुछ है-"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" । अक्षर-क्षर-जीव-विश्व सब कुछ वही है, एवं वही सब कुछ है। जब ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है नहीं तो-"ब्रह्म-जगत्" यह द्वैत

कैसा। अतः मानना पड़ेगा कि, ब्रह्म ही जगत् है। वही प्रविविक्त सृष्टरूप में परिणत हो कर विश्व कहलाने लग गया है, वही प्रविष्टरूप में परिणत हो कर विश्वेश्वर कहलाने लग गया है। एवं वही अपने प्रविविक्तरूप से विश्वातीत बन बैठा है। विश्व--विश्वात्मा --विश्वातीत सब कुछ वही है। जिस प्रकार एक ऊर्णनाभि (मकड़ी) बिना किसी अन्य साधन का आश्रय लिए अपने अंश से ही जाल का वितान कर आप ही उस की अधिष्ठात्री बन जाती है, एवमेव वह ब्रह्म स्वयं अपने हीं कुछ अंश से विश्वस्वरूप में परिणत हो कर विश्व कहलाने लग गया है, अपने हीं कुछ अंश से अपने हीं इस सृष्टरूप में प्रविष्ट होकर विश्वेश्वर कहलाने लग गया है, एवं अपने हीं व्यापकरूप से पृथक रह कर विश्वातीत नामसे प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार "ऐत-दात्म्यमिदं सर्वम्" का घन्टाघोष करते हुए शारीरक "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"---"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह कह कर अव्यय की सर्वता प्रतिपादन करने में अणुमात्र भी संकोच नहीं करते।

बात है भी वास्तव मे यथार्थ। क्योंकि प्राधानिक तन्त्र जिस प्रकृति को संसार का मूल मानता है, वह प्रकृति पुरुष के बिना सर्वथा पङ्गु है। यही नहीं, स्वयं प्रकृति का आवि-र्भाव भी पुरुष के गर्भ में हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टि हमें बाध्य करती है कि हम अव्यय को ही विश्व का मूल मानें।

विश्व क्या है? यदि इस प्रश्न का उत्तर पूंछा जाता है तो प्राधानिक उत्तर देते हैं-सत्त्व-रज-तम की विषमावस्था। और उसी गुणत्रयाभिमान में पड़कर वे गुणाभिमानी प्रकृ-ति को ही विश्व का मूल कारण मान भी लेते हैं। परन्तु इन से यदि यह प्रश्न किया जाय कि, सत्त्वादि का क्या स्वरूप है? तो इन्हे विवश होकर यही उत्तर देना पड़ेगा कि, सत्त्व ज्ञान-मूर्त्ति है, रज क्रियामूर्त्ति है, एवं तम अर्थमूर्त्ति है। इस दृष्टि से इन गुणाभिमानियों को यह स्वीकार कर लेने में सम्भवतः कोई आपत्ति न होगी कि, सम्पूर्ण विश्व ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्तियों का ही विजृम्भण है। प्रकृति को यह गुणवादी जड़ भी मान रहे हैं, सत्त्वगुण भी उस का धर्म्म मान रहे हैं, सत्त्व को ज्ञानमूर्त्ति भी कह रहे हैं। कैसा वदतोव्याघात है। यदि प्रकृति

सत्त्वगुणोपेता है, एव सत्त्व ज्ञानमूर्त्ति है, तो प्रकृति का जड़त्व सिद्धान्त कहां सुरक्षित रहा, यह उन्हीं जड़वादियों से पूछना चाहिए। फलतः उन्हें विवश होकर इस बात पर आजाना पड़ेगा कि, प्रकृति के ज्ञान-क्रिया-अर्थमूर्त्ति सत्त्व—रज—तम नाम के तीन गुण हैं, वे अवश्य ही किसी दूसरे की देन है। ऐसा कोई अक्षय भंडार है, जिस से त्रिगुणमात्रमयी प्रकृति का विनिर्गम हुआ है। एवं उसी आविर्भावस्थान से ज्ञान-क्रिया-अर्थ लेकर, उन से अपने गुणों को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखती हुई प्रकृति विश्वनिर्म्माण का अभिमान कर रही है। वह स्थान वही शारीरकों का अव्यय पुरुष है। "तस्यैव मात्रामुपादाय" के अनुसार उसी से सब की जीवन-यात्रा का निर्वाह हो रहा है।

प्रकारान्तर से विश्वस्वरूप का विचार कीजिए। विश्वपदार्थों को हम पाच भागों में विभक्त मान सकते हैं। पहिला विभाग तो "१-भौतिकवर्ग [अन्न]" है। इन्द्रियगम्य स्थूल पदार्थों का एक स्वतन्त्र विभाग है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एक ऐसी शक्ति रहती है, जो उस भूतसंघ को एकसूत्र में बद्ध कर उसे स्वस्वरूप से सुरक्षित रखती है। उसी शक्ति को विज्ञानभाषा में "त्रिधर्त्ता" कहा जाता है। जब वह पदार्थ में से निकल जाती है, तो पदार्थ नष्ट हो जाता है। उस समय उस पदार्थ के लिए "अरे अब इस मे दम नहीं रहा" यह व्यवहार होता है। भूत पदार्थ मेटर MATTER है। प्रत्येक मेटर अपना एक फोर्स FORCE रखता है। यही फोर्स शक्ति है, इसी को "२-क्रियातत्त्व [प्राण]" कहा जाता है, एवं यही दूसरा स्वतन्त्र विभाग है। तीसरा विभाग ज्ञान (सामान्य ज्ञान) नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक प्राणी में (विज्ञानदृष्टि से सभी जड़ चेतन प्राणी हैं, एवं सभी में ज्ञानशक्ति विद्यमान है) ज्ञानमात्रा रहती है। इसी सामान्यज्ञान के प्रभाव से पशु पक्षी आदि सेन्द्रियप्राणी वस्तु का सामान्यज्ञान करने में समर्थ होते हैं। इसी सामान्यज्ञान को "३-मानसज्ञान [मन]" कहा जाता है। इस के अतिरिक्त एक चौथा विज्ञान विभाग है। इसी को विशेषज्ञान कहा जाता है। यद्यपि यह भी रहता (जड़—चेतन) सब में है। परन्तु इस का विकास विशेष पदार्थों में ही हुआ करता है, अतएव इसे विशेषज्ञान कहा जाता है। पक्षियों में कई पक्षी, पशुओं में कई पशु बड़े समझदार होते हैं। यही इन का विशेषज्ञान,

किंवा विज्ञान है। यही विज्ञान इन की माहात्म्यवृद्धि का कारण बनता है। प्राणी २ सब समान, परन्तु कोई पशु, कोई पक्षी, कोई मनुष्य। इन में भी परस्पर में विशेषता। एक सुग्गा राजमहल में, एक अन्न की चिन्ता में निमग्न। कोई राजा, कोई रङ्क। यह विशेषता इसी विज्ञानात्मक ज्ञान के तारतम्य से सम्बन्ध रखती है। सामान्यज्ञान जहां मानसज्ञान कहलाता है, वहां यह विशेषज्ञान "४–बौद्धज्ञान [विज्ञान]" नाम से प्रसिद्ध है। पांचवा विभाग "५–आनन्द" का है। सर्वानुभूत आनन्द के सम्बन्ध में तो कुछ विशेष वक्तव्य ही नहीं है। इस प्रकार विश्व क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में हमारे सामने भूतप्रपञ्च [अन्न], क्रियाप्रपञ्च [प्राण], ज्ञानप्रपञ्च [मन], विज्ञानप्रपञ्च [विज्ञान], आनन्दप्रपञ्च [आनन्द], ये पांच पदार्थ उपस्थित होते हैं।

त्रिगुणाभिमानी पांचों में से भूत-क्रिया-ज्ञान का तो अपने सत्त्व-रज-तम से यथाकथञ्चित् समाधान कर देंगे। परन्तु विज्ञान–आनन्द इन दो को कहां ढूंढेंगे? यह एक विचारणीय प्रश्न बन जायगा। वस्तुतस्तु पांचों हीं उनके लिए एक अर्गल है। इधर अव्ययानुगामी शारीरकों के लिए यह समस्या सुलझी सुलझाई है। अव्ययात्मा के आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय, यह पांच कोश सुप्रसिद्ध हैं, जिनका कि तैत्तिरीय उपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है। भूतवर्ग का विकास अव्यय के अन्नमय कोश से, क्रियाप्रपञ्च का विकास प्राणमय कोश से, मानसज्ञान का विकास मनोमय कोश से, बौद्धज्ञान का विकास उस के विज्ञानमय कोश से, एवं आमोद, प्रमोद, हर्ष, उल्लास, सुख, आदि भेद भिन्न सांसारिक समृद्धानन्द प्रपञ्च का विकास अव्यय के आनन्दमय कोश से हुआ है। इन पांचो में भी सर्वप्रधान आनन्दमय कोश ही है, जैसा कि–"आनन्दमयोऽभ्यासात्" (शा० १।१।१२। इस शारीरक सिद्धान्त से स्पष्ट है। इस दूसरी दृष्टि से भी हमें अव्यय को ही सर्वेसर्वा मानना पड़ेगा।

और आगे बढ़िए। अव्यय को हमनें सृष्टि–मुक्ति दोनों का अधिष्ठाता बतलाया है। सांख्यने साम्यावस्था–वैषम्यावस्था बतला कर यद्यपि इस सृष्टि–मुक्ति के समाधान की चेष्टा की है। परन्तु उसने यह न बतलाया कि, प्रकृति की समता–विषमता का मूल क्या है?। वह मूल

यही अव्यय पुरुष है। अव्यय पुरुष को हमने पञ्चकोशात्मक बतलाया है। इन पांचों में आनन्द-विज्ञान का एक स्वतन्त्र विभाग है, प्राण-वाक् का एक स्वतन्त्र विभाग है, मध्यमपतित मन दोनों ओर जाता है। इस प्रकार आनन्दविज्ञानमन, मनप्राणवाक् दो विभाग होजाते हैं। पहिला विभाग मुक्तिप्रवर्त्तक है, दूसरा विभाग सृष्टिप्रवर्त्तक है। मुक्तिप्रवर्त्तक भाग विद्या-मूर्त्ति कहलाता है, सृष्टिप्रवर्त्तक भाग कर्म्ममूर्त्ति कहलाता है। थोड़ी देर के लिए मुक्तिप्रवर्त्तक विद्याव्यय को छोड़ दीजिए, केवल सृष्टिप्रवर्त्तक मनः-प्राणवाङ्मूर्त्ति कर्म्माव्यय को अपने सा-मने रखिए।

अपनी स्वाभाविक सृष्टिकामना का उदय अव्यय के मनोभाग में होता है। इच्छा के अनन्तर प्राणव्यापार होता है, अनन्तर वाग्व्यापार होता है। मानस व्यापार काम [इच्छा] है, प्राणव्या-पार तप है, एवं वाग्व्यापार श्रम है। काम-तप-श्रम तीनों की समष्टि ही सृष्टि का सामान्य अनु-बन्ध है। संसार में जितनें कर्म्म हैं, जितनीं सृष्टिएं है, सब में [प्रत्येक में] मन-प्राण-वाक् से विनिर्गत काम-तप-श्रम अपेक्षित हैं। वैदिक परिभाषानुसार तीनों क्रमशः काम-क्रतु-दक्ष इन अन्य नामो से भी प्रसिद्ध हैं। न्यायपरिभाषानुसार इन्हे इच्छा-कृति-कर्म्म कहा जाता है। तीनों अव्यय-प्रजापति के व्यापार है, अतएव सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियो में पद पद पर "सोऽकामयत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत" यह उपलब्ध होता है। "सः" शब्द उसी प्रजापति का वाचक है। यदि प्रकृति ही इन सब व्यापारों की अधिष्ठात्री होती तो, सः के स्थान में "सा" रहता। इन्हीं सब कारणों से हम एकमात्र अव्यय ही को "सर्वम्" कहने के लिए तय्यार हैं। प्राधानिक कहते हैं-अव्यय पुरुष का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं। उधर सर्वमान्य गीतातन्त्र कहता है-गति, भर्त्ता, प्रभव, प्रलय, भर्त्ता, भोक्ता, द्रष्टा, अनुमन्ता सब कुछ अव्यय ही है। देखिए! भगवान् क्या कहते हैं—

> गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
> प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१॥ [गी॰ ९।१८]।
> उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
> परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२॥ [गी॰ १३।२२]।

क्रियात्मक वही अव्ययमन मुक्तिसाक्षी है, एवं कर्म्मात्मक वही अव्ययमन सृष्टिसाक्षी है, जैसा कि—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इच्छा मन का धर्म्म है। वह अपने इच्छा-तप-श्रम तीनों को स्वांशभूत प्रकृति के समर्पित कर देता है। अव्यय के मन से ज्ञानमूर्त्ति सत्त्वभाव, अव्यय के प्राण से क्रियामूर्त्ति रजोभाव, एवं अव्यय के वाक् से अर्थमूर्त्ति तमोभाव से युक्त होकर सत्त्वरजस्तमोमयी बनकर ही प्रकृति सब कुछ करने में समर्थ होती है। प्राधानिक कहते हैं-अव्यय की इच्छा का भी सृष्टिप्रक्रिया में समावेश नहीं। उधर शारीरक कहते हैं—प्रकृति के पास अपनी निज की कुछ भी सम्पत्ति नहीं। उस के पास जो कुछ [गुणविभूति] है, वह अव्यय की ही देन है। "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इस सिद्धान्त के अनुसार अव्यय की अध्यक्षता में, उस की सम्पत्ति ले कर ही प्रकृति विश्व-निर्म्माण में जब समर्थ होती है, तो ऐसी दशा में अव्यय को दूध में से मक्खी की तरह कैसे बाहर निकाल फैंका जासकता है।

सब से बड़ा हेतु प्राधानिकों का यह था कि—अव्यय आप्तकाम है, निष्काम है। उसे इच्छा करने की आवश्यकता ही क्या है? रही बात ज्ञानसहयोग की। वह तो प्रकृति अपने आप बिना उस की इच्छा के ही प्राप्त कर लेती है। उत्तर में अव्ययवादी कहता है कि—'यह सच है—अव्यय निष्काम है। फिर भी कर्म्म उस का स्वरूपधर्म्म है। निष्कामभाव से कर्म्म करता हुआ ही तो वह अकर्त्ता, निर्लेप कहलाता है- 'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि"। रही बात स्वाभाविक प्रकाश की। यह भी केवल वाग्जाल ही है। स्वभाव भी तो एक प्रकार की इच्छा ही है। जिस की इच्छा स्वभावतः अनुग्रह निग्रह करने की है, उस की इच्छा उसके स्वभाव में ही अन्तर्भूत है। वह इच्छा रखता है कि—मेरी स्वाभाविक ज्ञान—क्रिया अर्थशक्तियों से प्रकृति विश्वनिर्म्माण करे। जिस सूर्य्यदृष्टान्त को सामने रक्खा था, वह भी इसी उत्तर से गतार्थ हो जाता है। सूर्य्य की यह स्वाभाविक इच्छा, किंवा प्रकृति है कि—उस से प्राणी अपने अपने कर्म्म का संचालन करे।

एक विप्रतिपत्ति प्राधानिकों की यह थी कि-यदि उस की इच्छा का इस कर्म्म में समावेश माना जायगा तो उसे कर्म्मफल भोगना पड़ेगा। उत्तर यही पर्य्याप्त होगा कि—आप उस की इच्छा न

मानते हुए भी उसे भोक्ता कह रहे हैं। उधर हमारी दृष्टि में इच्छा रखता हुआ भी वह अपने उदितिकाङ्क्षारूप निष्कामभाव से भोगलेप से स्वतन्त्र बनता हुआ निर्लिप्त है। गुणभाव का प्रवर्त्तक गुणभाव में रहता हुआ भी निर्गुण है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते॥ [गी० १३।३१]।

अव्यय सब कुछ करता है, परन्तु निष्कामभाव से। वह कर्त्ता बनता हुआ भी अकर्त्ता है। "तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्" का भी यही रहस्य है। इस प्रकार सर्वात्मना अव्यय पर ही सृष्टि का पर्यवसान मानना पड़ता है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि—अव्यक्त वादियों का—"सम्पूर्ण विश्व अव्यक्तसार है, संचरदशा में अव्यक्त से ही विश्व उत्पन्न हुआ है, प्रतिसंचरदशा में अव्यक्त पर ही विश्रान्त होजायगा। जगत् प्रपञ्च का उपक्रमोपसंहार प्रकृति ही है। पुरुष का सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है" यह सिद्धान्त सर्वथा नगण्य है। वस्तुतः पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय ही सृष्टि का उपक्रमोपसंहार है। स्वयं श्रुति भी इसी पक्ष का समर्थन कर रही है। देखिए।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि, विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ [मुण्डक० ३।२।७]।

हमारी शरीरसंस्था में प्रत्यगात्मा, शरीराभिमानी शारीरक आत्मा नाम के दो आत्मविवर्त्त हैं। इन दोनों में पहिला पुरुषात्मा [अव्ययात्मा] है, यही परमात्मा है, एवं यही अद्वैतभाव की मूलप्रतिष्ठा है। दूसरा प्राकृतात्मा [अक्षरात्मा] है, यही जीवात्मा है। वस्तुतः जीवात्मा भी वही है। परन्तु अविद्यादि प्रतिबन्धक धर्म्मों के आजाने से वह अपने उस व्यापक अव्ययभाव को भुलाकर दुःखमूलक द्वैतका अनुगामी बन रहा है। प्रकृततन्त्र इसी शारीरक आत्मा को उद्देश्य बनाकर इसे उस व्यापक का बोध कराता है। यही उस का विधेय है। चूँकि उद्देश्य इसका शारीरक आत्मा है, अतएव यह शारीरक नाम से सम्बोधित हुआ है। साथ ही में यह वेदान्त

[उपनिषत्] सम्मत व्यापक औपनिषद पुरुष [अव्यय] की प्राप्ति का उपाय बतलाता है, अतएव इसे—"वेदान्तदर्शन" कहा जाता है। तीनों दर्शनतन्त्रों में यह वेदान्तकेसरी ही गर्ज रहा है। यही इस तन्त्र का संक्षिप्त निदर्शन है।

—इति-शारीरकतन्त्रनिरुक्तिः—

—श्री—

क-गीतातन्त्रसम्मत, किंवा गीताशास्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा -

➳—गीतातन्त्र, किंवा गीताशास्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा—➳

शारीरक तन्त्र का जो अव्यय पुरुष विधेय है, वही विधेय गीतातन्त्र, किंवा गीताशास्त्र का है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर गीता दर्शनशास्त्र है। इस दृष्टि से इस का शारीरक तन्त्र में ही अन्तर्भाव मानना पड़ेगा, एवं उस दशा में हम इसे स्वतन्त्र शास्त्र न कह कर एक ही दर्शनशास्त्र का तीसरा (शारीरक गर्भित होने से) तन्त्र कहेंगे। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा जा चुका है, न गीता दर्शनशास्त्र है, एवं न दर्शनशास्त्र के इतर तन्त्रों से गीताशास्त्र गतार्थ ही है। अपितु गीता एक स्वतन्त्र शास्त्र है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि "जिस अव्ययात्मा का शारीरकतन्त्र ने निरूपण किया है, जब गीता उसी अव्यय का निरूपण करती है तो इस समानविषयनिरूपण से गीता को दर्शनतन्त्र से पृथक् कैसे माना गया" ? इस प्रश्न का उत्तर तो स्वयं मूलभाष्य ही देगा। प्रकरणसङ्गति के लिए यहां केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि, दर्शनशास्त्र का सम्बन्ध जहां वाचिकभाव से है, वहां विज्ञानशास्त्र का सम्बन्ध व्यावहारिकभाव से है। "ब्रह्म ऐसा है, वैसा है, निर्विकार है, निर्गुण है, निष्क्रिय है, निरञ्जन है, ब्रह्मज्ञान से परामुक्ति होती है" इस शब्दप्रपञ्चैकसार वाचिकभाव को दर्शन कहा जाता है। एवं—"ब्रह्म की प्राप्ति का अमुक उपाय है, ब्रह्म का अमुक वैज्ञानिक स्वरूप है, संसार में रहते हुए, सांसारिक कर्म्मों का सम्यक् अनुष्ठान करते हुए भी अमुक उपायों से ब्रह्मविभूति प्राप्त की जासकती है" इस व्यावहारिकभाव का नाम विज्ञान है। इस प्रकार दर्शन एवं विज्ञानशास्त्र के मूल उद्देश्यों में अहोरात्र का अन्तर होजाता है।

(आत्मस्वरूप दिखलाने वाला शास्त्र दर्शन है, उसकी प्राप्ति का व्यावहारिक उपाय बतलाने वाला शास्त्र विज्ञान है। दृष्टि दर्शन है, चिति विज्ञान है। ब्रह्म दर्शन है, यज्ञ विज्ञान

है। फिजिक्स PHYSICS दर्शन है, केमेस्ट्री CHEMISTRY विज्ञान है। ऋक् दर्शन है, यजु विज्ञान है। थ्योरेटिकिकल नॉलेज THEORETICAL KNOWLEDGE दर्शन है, प्रेक्टिकल नॉलेज PRACTICAL KNOWLEDGE विज्ञान है, फिलासफी PHILOSOPHY दर्शन है, सायन्स SCIENCE विज्ञान है। थ्योरिटिकलनॅालेज से हम केवल सिद्धान्तवादी बन सकते हैं। इससे लाभ कुछ नहीं होता। लाभ होता है-प्रेक्टिलवर्क PRACTICAL WORK से। दर्शन एवं विज्ञानशास्त्र में यही एक बहुत बड़ा अन्तर है।

शारीरकतन्त्र चूंकि आत्मा का थ्योरी बतलाता है, केवल वाचिकस्वरूप बतलाता है, इस में केवल अव्यय के दर्शन हैं। वही अव्यय कैसे, किन उपायो से प्राप्त हो सकाता है? इस सम्बन्ध में शारीरकतन्त्र तटस्थ है, अतः हम इसे दर्शनशास्त्र ही कहने के लिए तय्यार हैं। परन्तु गीताशास्त्र ब्रह्म के केवल वाचिकभाव पर ही विश्राम नहीं कर लेता। अपितु गीताशास्त्र वाचिकभाव के साथ साथ उस का व्यावहारिक स्वरूप भी हमरे सामने रखता है। गीता हमें सिखाती है कि, यदि तुम उस अध्यात्मा से कुछ लाभ उठाना चाहते हो तो बुद्धियोग का आश्रय लो। तुह्मारी बुद्धि में वैराग्य–ज्ञान–ऐश्वर्य–धर्म्म ये चार स्वाभाविक गुण हैं। बुद्धि के ये चारों स्वाभाविक गुण[इन के] प्रतिद्वन्द्वी आसक्ति, मोह अस्मिता अभिनिवेश इन अविद्याभावों के आक्रमण से तिरोहित हो रहे हैं।। आत्मा एवं विद्याबुद्धि के बीच में आकर इन्होंनें तुह्मे बुद्धियोगसम्पत्ति से वञ्चित कर रक्खा है। अतएव तुम नित्य प्रतिष्ठित भी उसआत्मानन्दप्राप्ति में असमर्थ रहते हुए क्लेशवान् बन कर दुःखी हो रहे हो। इस लिए आत्मा के साथ विद्याबुद्धि का योग करने के लिए पहिले तुह्मे चतुर्विध बुद्धियोगो में से किसी एक का आश्रय लेना पड़ेगा। यदि चारों में से एक भी योगानुष्ठान में तुम सफल हो गए, तो तुम जीवन्मुक्त बन जाओगे। बस भगवान् ने गीताशास्त्र में इन्हीं चारों बुद्धियोगों का निरूपण करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि, गीताशास्त्र एक व्यावहारिक शास्त्र होने से विज्ञानशास्त्र है। यह सर्वात्मना निश्चित है कि, बिना बुद्धियोग के अव्यय का साक्षात्कार नहीं हो सकता, एवं साथ ही में यह भी ध्रुव सत्य है कि, गीता के अतिरिक्त अन्य दर्शनतन्त्रों में बुद्धियोगनिरूपण का सर्वथा अभाव है।

अत. हम अवश्य ही इस शास्त्र को अपूर्वार्थप्रतिपादक शास्त्र मानने के लिए तय्यार हैं, जैसा कि भूमिका प्रथमखण्ड में विस्तार से बतलाया जा चुका है। [देखिए भू०प्र०खं०१६४पृष्ठ]।

वस्तुतः देखा जाय तो हमें यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होता कि, अव्यय का स्वरूप बतलाने वाले शारीरकतन्त्र ने उन्मुग्धभाव का ही समाश्रय लिया है। हम अनुमान से ही इस निश्चय पर पहुचते हैं कि शारीरक ने दर्शनदृष्टि से अव्यय का निरूपण किया है। वहां कहीं भी विस्पष्टरूप से अव्ययस्वरूप प्रतिध्वनित नहीं होता। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि, वैशेषिकतन्त्र ने जिस प्रकार क्षरद्वारा अक्षर पर, प्राधानिकतन्त्र ने अक्षरद्वारा अव्यय पर साधारण दृष्टि डाली है, एवमेव शारीरकतन्त्र ने भी अक्षरद्वारा ही हमारा ध्यान अव्यय की ओर आकर्षित किया है। वहां सोपाधिक ही अव्यय का निरूपण हुआ है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। इस दृष्टि से तो शारीरकतन्त्र बुद्धियोग के साथ साथ विशुद्ध अव्यय के स्पष्टीकरण में भी अधिकांश में असमर्थ ही रहा है। इस आधार पर प्रथमखण्ड में हमनें शारीरक को अक्षरनिरूपकतन्त्र मान लिया है—(देखिए भू०प्र०खं० १५६ पृ०)। शारीरक की निरूपणीया शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि, या तो वह अक्षरद्वारा अव्यय पर पहुँच रहा है, अथवा अव्यय अक्षर दोनों को एक वस्तु समझ रहा है। [पृ०सं०१७०]। "अक्षरधियां त्ववरोधः, सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्" (शा० ३।३।३३) यह शारीरक सूत्र उक्त शैली की ही घोषणा कर रहा है। यदि इस अक्षरदृष्टि से शारीरक तन्त्र, एवं गीताशास्त्र की तुलना की जाती है, तो गीताशास्त्र कहीं आगे बढ जाता है। फिर तो अव्ययदर्शन, अव्ययविज्ञान, बुद्धि-योगशास्त्र इन सब अपूर्व नामों का अधिकारी एकमात्र गीताशास्त्र ही ह जाता है। गीता ने जिन विस्पष्ट शब्दो में अव्यय—अक्षर—क्षर तीनों का स्पष्टीकरण करते हुए विशुद्ध अव्यय का; एवं तत् प्राप्त्युपायभूत बुद्धियोग का निरूपण किया है, वैसा अन्यत्र अदृष्ट है। अव्यक्तवादी प्राधानिकों का जैसा दमन अव्ययानुगामी गीताशास्त्र के द्वारा हुआ है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अपने इसी विशुद्ध अव्ययविज्ञान के बल पर गीता अव्यक्तवादियों की भर्त्सना करती हुई एक स्थान पर कहती है—

१.—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ [गी० ७।२४] ।

"बुद्धिहीन मनुष्य (प्राधानिक) अव्यक्त (अक्षर) को ही व्यक्ति (विश्व) रूप में परिणत हुआ समझते हैं। अर्थात् मेरी जो पराप्रकृति नाम की अक्षररूपा अव्यक्त प्रकृति है, मूर्खलोग समझते हैं कि, वही जगद्रूपेण व्यक्त हुई है। इस भ्रम का कारण यही हुआ है कि, मेरा जो सर्वोत्तम अव्यय नामक पर भाव है, उसे उन्होंने नहीं पहिचाना है"। उक्त श्लोक में उपात्त—"अबुद्धयः" पद बड़ा ही चमत्कार रखता है। पूर्वप्रतिपादित प्राधानिकतन्त्र में बतलाया गया है कि, इन की दृष्टि में २४ तत्त्व हैं। उन चौबीसों में बुद्धि की गणना नहीं है। महानूरूप मन ही इन का मुख्य लक्ष्य बना है। आगे जाकर यद्यपि व्याख्याताओं ने अन्तःकरण शब्द से बुद्धि का ग्रहण करते हुए महान् में उस का अन्तर्भाव मानने की चेष्टा की है। परन्तु सूत्रकार के द्वारा कहीं स्पष्ट शब्दों मे महान् (सत्त्वमन) से अतिरिक्त बुद्धितत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। वस्तुतः देखा जाय तो अन्तःकरण मन ही का नाम है। इन्द्रिएं बहिष्करण हैं, इन्द्रियसञ्चालक महन्मन अन्तःकरण है। इसे बुद्धि नहीं कहा जा सकता। अधिक से अधिक यह माना जा सकता है कि, मनोमयी बुद्धि अन्तःकरण है। बुद्धि का प्राधान्य नहीं है, मन का प्राधान्य है। बुद्धि मन का अनुगमन करती हुई अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खो बैठी है। ऐसी मनोमयी बुद्धि को बुद्धि कहना सर्वथा असङ्गत है।

मानसज्ञान जीवस्वरूपसमर्पक अक्षर पर विश्रान्त है। मन की दौड़ अक्षर पर ही समाप्त हो जाती है। उधर- 'यो बुद्धेः परतस्तु सः" के अनुसार अव्यय बुद्धिद्वारा ही गम्य है। प्राधानिकों के पास आत्मयोगा—(अव्यययोगा)-नुगामी इस बुद्धियोग का अभाव था। उन के तत्त्ववाद में केवल मन का, अथवा अधिक से अधिक मनोमयी बुद्धि का समावेश था। अतः उन की दृष्टि मानसज्ञान सम्बन्धी अक्षर तक ही सीमित रह गई। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—"अबुद्धयः" कहा गया है। सांख्यतत्त्ववाद की समालोचनापूर्वक मीमांसा करने के लिए "अबुद्धयः" से बढ़कर दूसरा शब्द नहीं है।

इसी प्रकार अव्ययज्ञानाभाव का एक दूसरा कारण बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

२—नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ [गी० ७।२५।] ।

"योगमाया से आवृत होने के कारण मैं सर्वसाधारण के लिए (योगमायानुगामियों के लिए) प्रकट नहीं हूँ । [योगमाया से] मूढ बना हुआ यह लोक विश्व–क्षर–अक्षर से परे रहने वाले मुझ अव्यय को नहीं जानता है" ।

उक्त श्लोक में "योगमायासमावृतः" वाक्य ही अव्ययज्ञानाभाव का प्रधान हेतु है। मायाविवर्त्त महामाया, योगमाया भेद से दो भागों में विभक्त है। सम्पूर्ण विश्व में अविभक्तरूप से व्याप्त उस व्यापक अव्यय का स्वरूप सम्पादन करने वाली माया "महामाया" नाम से प्रसिद्ध है । इसी को विशुद्धाद्वैतवादी 'चिच्छक्ति" कहा करते है । यह शक्ति उस व्यापक चिदात्मा से अभिन्न है । अतएव इसके रहते हुए भी अद्वैत में कोई आपत्ति नहीं होती । यही वाल्लभों का शुद्धाद्वैत है । यही भगवान् की माया है। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" (७।१४) इस सिद्धान्त के अनुसार यही महामाया, यही आद्या चिच्छक्ति उस चिदात्मा की प्राप्ति का अन्यतम द्वार है । विशुद्ध सत्त्वमूर्त्ति अव्यय की भांति यह भी विशुद्धसत्त्वस्वरूपा ही है ।

दूसरी योगमाया है । महामाया के गर्भ में महामाया से युक्त रह कर जीवसृष्टि का सञ्चालन करने वाली माया ही योगमाया है । यही त्रिदेवभेद से त्रिगुणस्वरूपा बन कर विश्व का सञ्चालन कर रही है । महामाया का जहां अव्यय से सम्बन्ध है, वहां इस योगमाया का अक्षर से सम्बन्ध है । अक्षर के ब्रह्मा–विष्णु–महेश ये तीन विवर्त्त हैं । अर्थमूर्त्ति महेश तमोगुण के, क्रियामूर्त्ति विष्णु रजोगुण के, एवं ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्मा सत्त्वगुण के अधिष्ठाता हैं । "जिस के पास जो शक्ति रहती है, वह स्वयं उसका उपयोग नहीं कर सकता" यह विज्ञानशास्त्र का सामान्य सिद्धान्त है । महेश अर्थपति हैं, विष्णु क्रियापति हैं, ब्रह्मा चिद्पति है । ब्रह्मा की इस सत्त्वज्ञानविभूति का उपयोग शिव करते हैं । उस ज्ञान से शिव ही मुक्ति के अधिष्ठाता

बनते हैं। उधर शिव की अर्थशक्ति से ब्रह्मा सृष्टि रचना में समर्थ होते हैं। मध्यस्थ विष्णु शिव की अर्थशक्ति, ब्रह्मा की ज्ञानशक्ति, एवं अपनी क्रियाशक्ति से विश्व का पालन करते हैं। इस व्यतिक्रम से ब्रह्मा-विष्णु-शिव तीनों क्रमशः उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग के सञ्चालक बन रहे हैं। तीनों की समष्टि एक अक्षर है। यही अक्षर प्राधानिकों का अव्यक्त है। इसकी शक्ति ही योगमाया है। यह त्रिगुणभावमयी है। अक्षर भेद से इस के **ब्रह्ममाया, विष्णुमाया, शिवमाया** ये तीन विवर्त्त होजाते हैं।।

विष्णु सोमवंशी हैं, एव सोम संकोचधर्म्मा है। संकोचभाव विकास का प्रतिद्वन्द्वी धर्म्म माना गया है। अग्नि विकासमूर्त्ति है, इसका प्रभव सूर्य्य है। सोम संकोचमूर्त्ति है, इसका प्रभव चन्द्रमा है। विकासभावात्मक सौर अग्नि बुद्धि की प्रतिष्ठा है, एवं संकोचभावात्मक चान्द्रसोम मन की प्रतिष्ठा है। मन के प्राबल्य से बुद्धि का स्वाभाविक विकास दब जाता है। बुद्धि का विसिकृत न रहना ही मोह है, यही सम्मोह है। इसके प्रवर्त्तक सोमवंशी विष्णु, किंवा विष्णु-सहचारिणी योगमाया ही है। **"तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि"** इस के अनुसार यह विष्णुमाया प्रज्ञा की स्थिरता हर लेती है, अतएव इसे **हरिमाया** कहा जाता है। इसी हरि-मायारहस्य को लक्ष्य में रख कर रहस्यशास्त्र कहता है—

"योगमाया हरेश्चैनत् तया सम्मोह्यते जगत्" [सप्तशती]

वक्तव्य यही है कि, त्रिगुणभाव का सम्बन्ध इसी योगमाया से है। यही योगमाया अक्षर द्वारा जीव की, एवं क्षरद्वारा जगत् प्रपञ्च की अधिष्ठात्री बनी हुई है, जैसा कि-**"इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्"** इत्यादि वचन से स्पष्ट है। यह गुणमयी माया दुरत्यया मानी गई है-**"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"**। जीव एवं जगत् नानात्व से युक्त हैं। इस नानात्व का मूल वही योगमाया है। अपने गुणभाव से वही असंख्यरूप धारण किए हुए है। महामाया जहां ईश्वरस्थानीय 'एक अव्यय' के सम्बन्ध से एक है, वहां योगमाया जीवस्थानीय अक्षर, एवं जगत् स्थानीय क्षर के नानाभावसम्बन्ध से असंख्य है। इन असंख्य योगमायाओं के त्रिगुणभाव का ऐसा विस्तार होगया है कि, इससे वि-

शुद्धसत्त्वमूर्त्ति वह महामायी अव्यय तिरोहितसा होगया है। जबतक हमारी दृष्टि गुणभावमयी योगमाया पर रहेगी, तबतक सिवाय क्षर-अक्षर के उस क्षराक्षरातीत अव्यय के दर्शन न होंगे। भगवान् का अभिप्राय यही है कि–अव्यय का स्वरूप गुणभावमयी योगमामा से ढंका हुआ है। एवं प्राधानिकों का मुख्य लक्ष्य यही गुणप्रकृति है। अतएव वे मूढ बने हुए उस अव्यय के दर्शन करने में असमर्थ रहे हैं। "अबुद्धयः" से जहां भगवान् उन्हे बुद्धियोग से वञ्चित बतलाते हैं, वहा "मूढोऽयं" से उन्हें मन के चक्र में फँसा हुआ बतला रहे हैं। इसीका स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—

३—त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ [गी० ७।१३।]।

"सत्त्व–रज–तम इन तीन गुणों से युक्त जो अव्यक्त प्रकृति है, उसी से इस दृश्यमान प्रपञ्च का वितान (विस्तार–फैलाव–उत्पत्ति) हुआ है। परिणाम इस का यह हुआ है कि, इस गुणत्रयसम्बन्ध से वह अव्यय भी मुग्धभाव में परिणत होगया है। यह विवेक करना कठिन हो गया है कि, इस विश्वप्रपञ्च में अव्यय कौनसा है? अक्षर कौनसा है? एवं क्षर कौन सा है?। सब गुणभाव से रञ्जित हैं। इसीलिए वे प्राधानिक इन गुणों से अतीत उस पर अव्यय को पहिचान ने में असमर्थ रहे हैं"। सांख्यतन्त्र गुणत्रय में ही चंक्रमण करता फिरता है। अतएव उसे अव्यय के दर्शन नहीं हो पाते, यही तात्पर्य्य है। अव्यय के दर्शन होंगे कब? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—

४—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ [गी० ७। १४।]।

"यह मेरी दैवीमाया गुणमयी है, अतएव यह अत्यन्त दुस्तरा है। इससे पीछा छुड़ा लेना बड़ा कठिन है। जो धीर मुझ को ही प्राप्त होते हैं (अनन्यभाव से अव्यय में ही प्रपत्ति लक्षण आत्मसमर्पण करते हैं), वे इस माया का तरण करने में समर्थ होते हैं"।

अव्ययतत्त्व 'ब्रह्म' है, अक्षरतत्त्व 'देव' है, क्षरतत्त्व 'भूत' है। देवता का विकास अक्षर से ही हुआ है। गुणभावमयी योगमाया अक्षरमाया है, अतएव इसे दैवीमाया कहा गया है। महामाया अव्यय की ब्राह्मीमाया है, तो योगमाया उसकी दैवीमाया (अक्षरमाया) है। इसका मानस प्रपञ्च से सम्बन्ध है। मानसभाव ही आसक्ति की मूलप्रतिष्ठा है। आसक्ति का निराकरण साधारण काम नहीं है। अतएव आसक्तिमूला इस दैवीमाया को दुरत्यया कहा गया है। इससे बचने का एकमात्र उपाय है-अव्ययात्मा में अनन्यनिष्ठा, अनन्यशरणागति। प्रपत्ति का ही नाम शरणागति है। सर्वत्र अव्यय की भावना करते जाइए, इस भावना को सुरक्षित रखने के लिए बुद्धियोग का अनुगमन करते जाइए। इस प्रकार बुद्धियोग द्वारा ज्यों ज्यों आपका शारीरक आत्मा प्रत्यगात्मलक्षण हृदयस्थ अव्यय की ओर प्रपन्न होता जायगा, त्यों त्यों मायाग्रन्थि शिथिल होती जायगी। अन्ततोगत्वा जिस दिन अव्यय में ही आप की पूर्णप्रपत्ति होजायगी, उस दिन माया अपने आप निवृत्त होजायगी। जबतक सर्वधर्म्म-(क्षराक्षरधर्म्म)-परित्याग-पूर्वक अनन्ययोग का आश्रय न लिया जायगा, तबतक अव्ययबोध न होगा, एवं जबतक अव्यय की प्रपत्ति न होगी, तबतक प्रकृति से छुटकारा न मिलेगा। भगवान् एक प्रकार से प्राधानिकों पर कटाक्षरूप यह आक्षेप ही कर रहे हैं कि, "जब सिवाय प्रकृति के अव्यय नाम के तत्त्वपर तुह्मारी दृष्टि ही नहीं है, तो तुम उसे पहिचान भी कैसे सकते हो।"

तुह्मारा प्रधान लक्ष्य तत्त्ववाद है। इधर इस भौतिक तत्त्ववाद की समाप्ति अव्यक्त पर होजाती है। फलतः तुह्में यह जानने का अवसर ही नहीं मिलता कि, इस अव्यक्त से भी परे कुछ और है या नही। न तुह्में यही विचारने का अवसर मिलता कि, अव्यक्त किसी अन्य तन्त्रायी से तन्त्रायित होकर व्यक्त विश्वरचना में समर्थ हो रहा है। इन सूक्ष्म मीमांसाओं के अभाव से ही वे अव्यक्तातीत उस सनातन अव्यय पर नहीं पहुँच सके हैं। इसी अभिप्राय से अव्ययेश्वर कृष्ण कहते हैं—

५—अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१॥ [गी० ८। १८।]।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२॥ (गी० २।२८॥ ।
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥३॥ [गी ८।२०] ।

"अहरागमोपलक्षित - संचरदशा में अव्यक्त से ही सम्पूर्ण व्यक्तिएं प्रकट होतीं हैं। एवं रात्र्यागमोपलक्षित प्रतिसंचरदशा में उसी अव्यक्त में सब व्यक्तिएं विलीन होजातीं हैं। सम्पूर्णभूत अव्यक्त से उत्पन्न होने के कारण अव्यक्तादि [अव्यक्त है आदि में जिनके] हैं, उत्पन्न होकर अव्यक्त के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहनेके कारण अव्यक्तमध्य हैं एवं अन्त में अव्यक्त में हीं विलीन होजाने के कारण अव्यक्तनिधन हैं। फिर शोक करना व्यर्थ है। इस अव्यक्त से भी परे एक सनातन अव्यक्त और है, जो कि इन नाशवान पदार्थों का आलम्बन रहता हुआ भी, इन के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता"।

भगवान् एक प्रकार से अव्यक्तवादियों का उपहास करते हुए कहते हैं कि, मानते हैं कि तुह्मारा अव्यक्तशब्द से विशेष प्रेम है। कोई हानि नहीं। हम तुह्मारे इस अव्यक्ताभिनिवेश का हृदय से अभिनन्दन करते हैं। परन्तु इसमें थोड़ासा संशोधन यह करना चाहते हैं कि, यदि तुह्में अव्यक्त ही मानना है तो इस अव्यक्त (अक्षरप्रकृति) से भी परे जो एक सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वथा अविनाशी अव्यक्त (अव्ययपुरुष) है, उसे क्यों नहीं मान लेते। किसी को आम्रशब्द से प्रेम है। अब यदि उसे उत्तम आम्र मिलते हैं, तो वह उसे ही लेगा। जब तुम अव्यक्तभक्त हो तो, अव्यक्त से भी अव्यक्त, अतएव श्रेष्ठ सनातन अव्यक्त को ही क्यों नहीं मान लेते।

कदाचित् तुम कहो कि, अक्षररूप अव्यक्त से जीवात्मा की परागति (उत्तमगति) होजाती है। इसी सद्गति के लिए अक्षर हमारा परमाराध्य बन रहा है। इस प्रकार यदि तुम परागति के लक्ष्य से ही अव्यक्ताक्षर पर मोह करते हो, तो इस सम्बन्ध में भी हम तुह्में श्रेष्ठ मार्ग बतलाते हैं। सुनो—

अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ (गी० ८।२१) ।

'जिसे तुम (प्राधानिक) अव्यक्त समझ रहे हो, वह अक्षर नाम से प्रसिद्ध है। एवं विद्वान लोग इस अक्षर को परागति कहते हैं। परन्तु ध्यान रहे, जिसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् पुनरावर्त्तन नहीं होता, वह परमधाम मेरा (अव्यय का) ही है"। तात्पर्य्य यह हुआ कि, क्षर का संसारगति से सम्बन्ध है, अक्षर का स्वर्गगति से सम्बन्ध है। इसी को पारलौकिकगति कहा जाता है। परन्तु—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति" इस सिद्धान्त के अनुसार अक्षरगति से [पुण्यातिशयक्षीण होजाने पर] पुनः संसार में आगमन होजाता है। यद्यपि अव्ययुक्त अक्षर-गति में पुनरावर्त्तन नहीं हैं। परन्तु सांख्याभिमत क्षरसंश्लिष्ट अक्षरगति अवश्य ही पुनरावर्त्तन का कारण बन जाती है। उधर अव्ययधाम ऐसा है कि उसे प्राप्त कर लेने पर, वहां पहुचने पर सदा के लिए पुनरागमन बंद होजाता है। ऐसी दशा में भी परागति के लुब्धक प्राधानिकों को अव्यय की ही आराधना करनी चाहिए। अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि, उस अव्यय की प्राप्ति का उपाय क्या है? यद्यपि सामान्यरूप से "मामेव ये०"इत्यादि श्लोकद्वारा इस प्रश्न का समाधान किया जाचुका है। फिर भी स्पष्ट उत्तर की जिज्ञासा बनी ही रहती है। उसी जिज्ञासा को शान्त करते हुए भगवान् कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (गी० ८। २२।)।

"हे अर्जुन! वह पुरुष अनन्यभक्ति से ही प्राप्त किया जासकता है। जिस अव्यय पुरुष के गर्भ में सम्पूर्ण भूत प्रतिष्ठित हैं, उसी से इस दृश्यमान प्रपञ्च का वितान हुआ है"।

भक्तिकाण्ड के सकाम-निष्काम भेद से दो विवर्त्त हैं सकामभक्ति में फलाशा रहती है। अतः अव्यय के साथ साथ फलसमावेश से यह भक्ति अनन्यभाव से वञ्चित रह जाती है। भगवान इस साम्प्रदायिक भक्तिकाण्ड के घोर विरोधी हैं, जैसा कि आगे आने वाले भक्तिप्रकर-ण में में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। कामना का मन से सम्बन्ध है। मानसभाव बुद्धियोग का विरोधी है। अनन्यतामूला निष्कामभक्ति में ही बुद्धियोग का उदय होता है। बुद्धियोगरूपा यह अनन्यभक्ति ही उस की प्राप्ति का मुख्य उपाय है। बस श्लोकपूर्वार्द्ध से भगवान् ने बुद्धियोग की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

"अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति"—"अव्यक्तादीनि भूतानि-अव्यक्तनिधनानि" इत्यादि पूर्वोपात्त वाक्यों से प्राधानिकों को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि, जिस प्रकार हम अव्यक्ताक्षर [प्रकृति] को जगत् की उत्पत्ति—स्थिति—भङ्ग का कारण मानते हुए प्रकृतितन्त्र पर विश्राम करते हैं, एवमेव स्वयं गीताशास्त्र ने भी "अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति" इत्यादि कहते हुए हमारे प्राकृतिक सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। साङ्ख्यों के इस भ्रम का आमूलचूड खण्डन करने के के लिए ही श्लोक का उत्तरार्द्ध हमारे सामने आया है। भगवान् का कहना है कि, यह ठीक है कि अव्यक्त ही जगत् का कारण है, परन्तु उसे मूल कारण मानना सर्वथा भ्रान्ति है। सामान्यकारणता बतलाने के लिए ही "अव्यक्ताद्" इत्यादि कहा गया है। वस्तुतः मूल कारण तो अव्यय ही है। सम्पूर्णभूत उसी अव्यय के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं, एवं उसी से भूतों का वितान हुआ है।

यदि सांख्यानुसार भगवान् की दृष्टि में भी प्रकृति ही मूलकारण होता तो वे कभी "अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः" इन शब्दों में प्राधानिकों का तिरस्कार न करते। "अव्यक्त को निमित्त बनाकर मैं ही सबका निर्म्माण करता हूं" इस बात का—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना" इन शब्दों से अन्यत्र भी स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार गीताशास्त्रने बड़े अभिनिवेश के साथ सांख्यमत का खण्डन कर इतर तन्त्रो से अगतार्थ विशुद्ध अव्यय का, एवं तत् प्राप्त्युपायभूत सर्वथा अपूर्व चतुर्विध बुद्धियोग का व्यावहारिक स्वरूप हमारे सामने रखते हुए अपना विज्ञानशास्त्रत्वसिद्ध किया है। यही इस शास्त्र की संक्षिप्त आत्मपरीक्षा है।

—इति—गीताशास्त्रनिरुक्तिः—

——४——

——**——

अ-समष्टिरूप से आत्मपरीक्षा

श्रीः
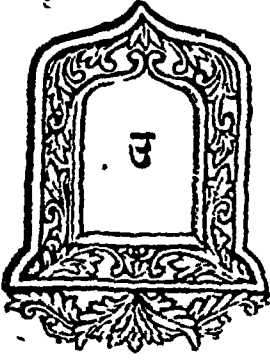
—समष्टिरूप से आत्मपरीक्षा—

उचित था कि इस दार्शनिक आत्मपरीक्षा प्रकरण को यहीं समाप्त कर वैज्ञानिकआत्मपरीक्षा प्रकरण आरम्भ कर दिया जाता। परन्तु दर्शन-सम्मत आत्मा के सम्बन्ध में अभी कुछ एक प्रश्न ऐसे रह गए हैं, जिनका समाधान किए बिना यह दर्शनप्रकरण अपूर्ण रह जाता है। इसी अपूर्णता को दूर करने के लिए समष्टिरूप से आत्मविचार करना आवश्यक हो गया है। एतदर्थ ही निम्न लिखित प्रकरण आरम्भ किया जाता है। आशा है, विषय की गहनता को लक्ष्य में रखते हुए पाठक इस विस्तार के लिए हमें क्षमा करेंगे।

समष्टि में वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरक इन तीन दर्शनतन्त्रों का, एवं गीता नामक विज्ञानशास्त्र का चारो का समावेश है। आरम्भ से अबतक क्रमशः वै०—प्रा०—शा०—गी०-इस क्रम से आत्मपरीक्षा हुई है। अब विपरीत क्रम से आत्मस्वरूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। अर्थात इस समष्टिप्रकरण में पहिले गीता का, अनन्तर तीनो तन्त्रो का, एवं मध्य मध्य में समालोचनात्मिका दृष्टि से चारों के समन्वितरूपो का दिग्दर्शन कराया जायगा। इस विपरीत क्रमानुसार क्रमप्राप्त पहिले गीताशास्त्र को ही लीजिए।

गीता का प्रधान आत्मा अव्यय है, यह पूर्व में कहा जाचुका है। साथ ही में गीता अव्यय का प्रतिपादन करती है, यह सिद्ध करने के लिये "अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्०"-"परं भावमजानन्तो"० इत्यादि कुछ एक वाक्य उद्धृत हुए हैं। इन श्लोकों के "मम" शब्द से अव्यय का ग्रहण करते हुए इसी आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि, गीता अव्ययात्मशास्त्र है। परन्तु इस सम्बन्ध में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति रह जाती है। बिना उसका निराकरण किए उक्त सिद्धान्त को सुरक्षित नहीं रक्खा जासकता। ध्यान दीजिए निम्न लिखित श्लोक पर, एवं उस के शब्दार्थ पर—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (गी० ७। २४)।

"मूर्ख लोग मुझे अव्यक्त समझ कर उसी को व्यक्तिभाव में आया समझते हैं मुझ अव्यय अनुत्तम के पर भाव को न जानते हुए"–इस श्लोक में पठित "मम परं भावमजानन्तः" यह वाक्यांश विचारणीय है। पूर्व में हमने मम का झटिति अव्यय अर्थ कर लिया है। परन्तु यहां का "मम" ऐसा सीधा साधा नहीं है। यदि मम से अव्यय का ग्रहण किया जायगा तो उस समय "मुझ अव्यय का जो पर अव्यय है" यह अर्थ होगा, जो कि सर्वथा अशुद्ध है। भला अव्यय का [मम का] परभाव अव्यय ही कैसे होसकता है। अव्यय अक्षर का परभाव अवश्य होसकता है, एवं इसी दृष्टि से–"अव्यक्तात् पुरुषः परः" इत्यादि रूप से अव्यक्त की अपेक्षा वह पर शब्द से सम्बोधित भी हुआ है। हां यदि दो अव्यय होते तो अवश्य ही "मुझ अव्यय का जो पर अव्यय है" यह वाक्य समन्वित होजाता। स्व से स्व कभी पर नहीं बन सकता। आपही अपने से परे क्योंकर होसकता है। इस प्रकार जब मम का अर्थ अव्यय नहीं होसकता, तो मम को अव्ययपरक मानते हुए कभी गीता की अव्ययपरता सुरक्षित नहीं रक्खी जासकती।

इस आक्षेप का समाधान करें, इससे पहिले तो उन प्राधानिकों से हम यही प्रश्न करेंगे कि, यदि यहां का अस्मच्छब्द (मम) अव्यय का वाचक नहीं है तो किस का वाचक है ? आप इसे अव्यक्त क्षर का वाचक तो कह नहीं सकते। क्योंकि पूर्वार्द्ध में "अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्०" इत्यादि रूप से अव्यक्ताक्षर को पहिले से ही अस्मच्छब्द मर्य्यादा से पृथक् कर रक्खा हैं। इसी प्रकार "मम" क्षर का भी वाचक नहीं माना जासकता। क्योंकि क्षर से परभाव तो अक्षर है, न कि अव्यय। यहां मम से पर अव्यय माना जारहा है। ऐसी दशा में अगत्या इस इस अस्मच्छब्द का अव्यय पर ही पर्य्यसान मानना पडेगा। रही बात भाषादोष की, यह भी भाषाविज्ञानानुसार सह्य है।

हम देखते हैं कि, कितनें हीं व्यक्ति अपने आपसे ही–"हम ऐसा नहीं करेंगे। नहीं जी हम कभी ऐसा नहीं करसकते" इस प्रकार बात चीत किया करते हैं। उक्त वाक्य का दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध है, एवं अपने आप बात करने में दूसरे व्यक्ति का अभाव है। फिर भी

ऐसा व्यवहार देखा जाता है बस इसी व्यवहार के अनुसार यहां अस्मच्छब्द की द्विरुक्ति हुई है। स्वयं अव्यय अपना ही परभाव प्रकट कर रहा है। "मेरा पर भाव अव्यय है" इसका तात्पर्य्य है- "मै पर हूँ"—एक समाधान।

पूर्व के चतुर्थ प्रकरण में बतलाया गया है कि-विश्व, विश्व का उपादान आत्मक्षर, निमित्त कारण अक्षर सब अव्यय पुरुष के ही विशेषभाव हैं। सृष्टिसाक्षी अव्यय के अवर वाक्भाग से अवर क्षर का [अपराप्रकृति का] अव्यय के परावर प्राणभाग से परावर अक्षर का (पराप्रकृति का) विकास हुआ है। "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !"—अहं सर्वस्य प्रभवः"-"मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इत्यादि सिद्धान्तो के अनुसार मनःप्राणवाङ्मूर्त्ति एक ही अव्यय मनोऽवच्छेदेन पर अव्ययभाव में, प्राणावच्छेदेन परापर अक्षरभाव में, एवं वागवच्छेदेन अपर क्षरभाव में परिणत हो रहा है। उसका वाक्भाग उसका अवरूप है, इसी से क्षर का विकास हुआ है, अतएव क्षर को अवर कहा जाता है। उसका प्राणभाग उसका परावररूप है, इसी से अक्षर का विकास हुआ है, अतएव अक्षर को परावर कहा जाता है। उसका मनोभाग उसका पररूप है, इसी से अव्यय का विकास हुआ है, अतएव अव्यय को पर कहा जाता है। अस्मच्छब्द [अहंशब्द] आत्मा का बोधक है। एवं—"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" के अनुसार वह अस्मदात्मा मन-प्राण-वाक्रूप से त्रिभावापन्न है। इस एक ही मम [अव्यय] के क्षर—अक्षर—अव्यय तीनों क्रमशः अवर-परावर—परभाव हैं, तीनों ममभाव हैं। इस ममभाव का परभाव अव्यय ही है। भगवान् कहते हैं—"मूर्खलोग मेरे अवर क्षरभाव, परावर अक्षरभाव पर ही विश्राम कर लेते हैं। क्योंकि उन्हें मेरे पर अनुत्तम अव्ययभाव का पता नहीं है"। इस दृष्टि से "परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्" इस वाक्य में उक्त दोष भी नहीं आता, साथ ही में—"अव्यक्त ही सब कुछ बना है" प्राधानिकों का यह सिद्धान्त भी खण्डित होजाता है। जिस अव्यक्त को प्राधानिक अव्यय से पृथक् कर रहे हैं, भगवान् कहते हैं, वह भी अव्यय का ही प्राणमूर्त्ति परावरभाव है। त्रुटि यही है कि, वे मेरे परावर भाव को तो वे जानते हैं, किन्तु परभाव को नहीं जानते। यदि मेरे उस पर अव्यय-

भाव को वे जान लेते तो कभी यह कहने का साहस न करते कि, प्रकृति ही सब का मूल है—दूसरा समाधान ।

तुष्यदुर्जनन्याय से हम थोड़ी देर के लिए भाषाविज्ञान की उपेक्षा कर यह मान लेते हैं कि, चूँकि—"स्वयं अव्यय अव्यय से पर नहीं होसकता, अतः प्रकृत अस्मच्छब्द को अव्यय का वाचक नहीं माना जासकता" ऐसी दशा में वह प्रश्न ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है कि, न यह मम अव्यय का वाचक बनसकता, न अक्षर का, न क्षर का। फिर यहां के मम का क्या अर्थ ?, फिर किस आधार पर गीता को अव्यय का प्रतिपादक माना गया ?।

उक्त विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए हमें प्रज्ञानात्मा की शरण में चलना पड़ेगा। आध्यात्मिक दृष्टि से "अहं पदार्थ" प्रज्ञानात्मा ही माना जासकता है। "मैं हूं" यह अभिमान देहाभिमानी आत्मा को ही होता है। 'मेरा हाथ, मेरे पैर, मेरा मुख' इस प्रकार अहं की व्याप्ति देहपर्य्यन्त देखी जाती है। फलतः देहाभिमानी आत्मा ही अहंशब्दवाच्य माना जासकता है। इस देहाभिमानी, अतएव "देही" नाम से प्रसिद्ध आत्मा के वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-प्रज्ञान ये चार पर्व हैं। आरम्भ के तीन पर्वों की समष्टि कर्म्मात्मा है, प्रज्ञानमन इन्द्रिय द्वारा कर्म्म सञ्चालक बना हुआ है। सेन्द्रिय प्रज्ञान, एवं कर्म्मात्मा [वै० तै० प्रा०] की समष्टि ही भोक्तात्मा है, जैसा कि—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। इसी चतुष्पाद भोक्तात्मा को शारीरक आत्मा कहा जाता है, एवं इसी में अहत्वाभिमान है। प्रकृत श्लोक के मम से थोड़ी देर के लिए इसका भी ग्रहण किया जासकता है।

इस शारीरक-देहाभिमानी आत्मा [जीवात्मा] के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस आत्मा का आत्मत्व किंमूलक है ?, किस तत्त्व के सम्बन्ध से इसे आत्मा कहा जाता है ?, दूसरे शब्दो में मेरा [शारीरक का] परभाव [आत्मभाव, अन्तिम भाव] कौन है ?। इस प्रश्न के उत्तर में प्राधानिक लोग अव्यक्त प्रकृति [अक्षर] को ही आगे करते हैं। कारण इसका वे यह बतलाते हैं कि, शारीरक आत्मा क्षरप्रधान है। इस का (अन्तिम प्रतिष्ठारूप) परभाव अक्षर ही बन सकता है। श्लोकपूर्वार्द्ध में भगवान् ने सांख्याभिमत परभाव का ही दिग्दर्शन

कराया है। "मूर्ख लोग मुझे (शारीरक) का अव्यक्त [अक्षर] का ही व्यक्तरूप समझते हैं"। अर्थात् "मम" [शारीरक] तत्त्व का अहंत्त्व अव्यक्त अक्षर पर ही विश्रान्त मानते हैं। सांख्य ने अहं का विकास महत् से माना है, एवं महत् का मूल अव्यक्त माना है। इस दृष्टि से तो 'माम्"–उस अव्यक्त का ही व्यक्तीभाव सिद्ध होता है।

इस पर भगवान् को यह कहना पड़ा कि–"प्राधानिकों को यह पता न था कि मेरा (शारीरक का) परभाव एकमात्र अनुत्तम अव्यय ही है"। यह ठीक है कि, महान् ही अहं (आत्मा) की योनि है। यह भी ठीक है कि, अव्यक्त से ही महान् का विकास हुआ है। परन्तु एतावता ही अव्यक्त को 'मम" का परभावत्व सिद्ध नहीं होजाता। अव्यक्त अक्षर प्रकृति है, एवं वह सांख्यानुसार भी जड मानी गई है। जड़ प्रकृति अहंलक्षण चेतनद्रव्य का परभाव कैसे बन सकती है। इस प्रकार मम को शारीरक आत्मपरक मानने से भी—"परं भावम-जानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्" इस वाक्य का समन्वय होजाता है।

वस्तुतस्तु गीतोक्त अस्मच्छब्द सर्वत्र एकमात्र अव्यय का ही वाचक है। गीता में "अहं-मम-मयि-मत्तः-मया-" इत्यादिरूप से जहा जहा भी अस्मच्छब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र उसका एकमात्र लक्ष्य अव्यय पुरुष ही है। अस्मच्छब्द की इस सामान्य परिभाषा के अनुसार हम प्रकृत श्लोक के "मम" को भी अव्ययपरक ही मानेंगे। साथ ही में इसे अव्यय-परक मानते हुए भी सांख्योक्त भाषादोष का निराकरण करेंगे। सांख्य ने कहा था कि, यदि दो अव्यय होते तो "अव्यय से पर जो अव्यय" यह व्यवहार समीचीन बन सकता। एवं उस दशा में–"अव्यय दो नहीं है" यह स्वीकार करते हुए हमने सांख्य की इस विप्रतिपत्ति का का दूसरी तरह से निराकरण किया था। परन्तु आज हम अपने पूर्वकथन के ही सर्वथा विरुद्ध यह कहने का साहस करते हैं कि, अव्यय एक नहीं, दो हैं। एवं उस दशा में भगवान् का "अव्यय से परे जो अव्यय' यह कथन सर्वथा समीचीन बन जाता है। कैसे? सुनिए।

आप दो अव्यय की कहते हैं, यदि सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाता है तो तीन अव्यय हमारे सामने आते है। पहिले दो अव्यय मान कर ही विचार कीजिए। हमनें जिस

शारीरक आत्मा का पूर्व में दिग्दर्शन कराया है, उसके पर आत्मा का अव्यय पर विश्राम माना है। स्वयं शारीरक क्षर पदार्थ है, इसका आलम्बन अक्षर है, सर्वालम्बन अव्यय है। इसी अव्यय के योगात्मक सम्बन्ध (अन्तर्यामसम्बन्ध) से शारीरक तत्त्व "अहं" बन रहा है। अहंभाव एकमात्र अव्यय पर ही निर्भर है। "शारीरक" का अर्थ है, शरीर का आत्मा। इस में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-प्रज्ञान-पाञ्चभौतिकस्थूलप्रपञ्च-इन पांचों का शरीर में अन्तर्भाव है। कारण पांचों हीं क्षरमूलक हैं। इन पांचों का विधर्त्ता अक्षर है। अब शेष रह जाता है-आत्मा। वह यही अव्यय है। इसीका महत् पर प्रतिविम्ब हुआ है। यही चिदाभास है। यह साक्षात अव्यय है। ज्ञानमूर्त्ति इसी अव्ययात्मा की कृपा से शारीरक आत्मा "अहं करोमि-अहं जानामि" यह कहने में समर्थ होता है। इस प्रकार प्रत्येकदशा में हमें यह स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि, शारीरक आत्मा का आत्मत्त्व, किंवा अहंत्त्व एकमात्र अव्ययपुरुषसहयोग पर ही निर्भर है। शरीर दो प्रकार का माना गया है। एक क्षुद्रशरीर है, एक महाशरीर है। सम्पूर्ण विश्व एक महाशरीर है, अस्थिमांसादि सप्तधातुमय प्रपञ्च एक क्षुद्रशरीर है। अव्यय चूँकि शरीराभिमानी है, एवं शरीर दो हैं, अतः उस एक ही अव्यय को महामाया-योगमाया भेद से दो स्वरूप धारण करने पड़ते हैं। यह जो महाविशाल विश्व दिखलाई पड़ रहा है, उस का अभिमानी, अतएव विश्वेश्वर, विश्वात्मा, जगदीश्वर आदि विविध नामों से प्रसिद्ध महाअव्यय परमाव्यय कहलाता है। इस परमाव्यय का शरीर यही महाविश्व है, यही पहिली अव्ययसंस्था है, एवं महामाया ही इस की स्वरूपसमर्पिका है।

पाञ्चभौतिक प्राणिशरीर का अभिमानी, अतएव शारीरक, देही आदि नामों से प्रसिद्ध अव्यय जीवाव्यय कहलाता है। यही उस अव्यय की दूसरी संस्था है। परमार्थतः दोनों एक हैं, उपाधिभेद से दोनो पृथक् पृथक् हैं। यह जीवाव्यय योगमायावच्छिन्न है। योगमाया अक्षर सम्बन्धिनी है। इसी भ्रम में पड़ कर प्राधानिकों ने इस मां [जीवाव्यय] को अव्यक्त [अक्षर] का व्यक्तीभाव मान लिया है। यद्यपि यह ठीक है कि, जीवसंस्था में अक्षर की ही प्रधानता रहती है, जैसा कि-"जीवभूतां महाबाहो मयेदं धार्य्यते जगत्" इस गीतासिद्धा-

न्त से भी स्पष्ट है। फिरभी जब हम जीव के परभाव का विचार करेंगे तो, उस समय हमें उस पराव्यय पर ही विश्राम करना पड़ेगा। योगमायात्त्वेन अक्षर भी परभाव होसकता है, परन्तु अहंत्त्वेन परभाव अव्यय ही होसकता है। क्योंकि जीवसंस्था का अहं एकमात्र अव्यय है, एवं इस जीवाव्यय का परभाव प्रत्येक दशा में ईश्वराव्यय ही होसकता है, न कि प्रकृति। इधर हमारे प्राधानिक गुणमयी योगमाया से आगे बढना पाप समझते हैं। अतः फिरफिराकर उनकी बार बार अव्यक्त [अक्षर] पर ही दृष्टि जाती है। इसी का खण्डन करते हुए भगवान् कहते हैं कि–"चूंकि वे मेरे [शारीरकाव्यय के] उस पर अनुत्तम अव्ययभाव (ईश्वराव्यय) को नहीं जानते, अतएव वे मुझे (शारीरकाव्यय को) अव्यक्त [अक्षर] का ही व्यक्तीभाव समझते हैं। जीवाव्यय का परभाव ईश्वराव्यय ही है, यही सिद्धान्त—"परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति" इस श्रुति से भी स्पष्ट होरहा है। यही प्राधानिकाक्षेप का तीसरा समाधान है।

अब तीन अव्ययों की दृष्टि से विचार कीजिए। वे तीनों अव्यय विज्ञानशास्त्र में क्रमशः चिदात्मा, प्रत्यगात्मा, शारीरकात्मा इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीनों अव्ययविवर्त्तों के स्वरूप परिज्ञान के लिए सूर्य्यसंस्था को अपने सामने रखिए। एक स्फटिकशिला पर सूर्य्य का प्रतिविम्ब प्रतिष्ठित है। महासूर्य्य ही परिच्छिन्न स्फटिक के परिच्छेद से प्रतिविम्बरूप में परिणत होरहा है। स्फटिक एक प्रकार का शरीर है। इस में यह प्रतिविम्ब योगसम्बन्ध से प्रतिष्ठित होरहा है। योगसम्बन्धावच्छिन्न यही प्रतिबिम्ब पहिला शारीरक आत्मा है। प्रतिविम्ब के साथ साथ इसी प्रतिविम्ब पर सूर्य्य का प्रकाश [आतम–धूप] भी सम्बन्ध कर रहा है। स्फटिकशिलावच्छिन्न इस प्रकाश और स्फटिक का विभूतिसम्बन्ध है। यही दूसरा प्रत्यगात्मा है। इन दोनों से अतिरिक्त तीसरा त्रैलोक्य में व्यापक स्वयं सूर्य्यप्रकाश है। उस व्यापक का परिच्छिन्न के साथ न विभूति सम्बन्ध हो सकता, न योगसम्बन्ध। वही तीसरा चिदात्मा है। ठीक यही परिस्थिति अव्यय के सम्बन्ध में समझिए।

कर्म्मात्मयुक्त प्रज्ञानात्मा एक स्फटिकशिला है। इस में रहने वाला सोम महान् है। इसमें सूर्य्यस्थानीय चिदात्मा का जो प्रत्यंश योगसम्बन्ध से प्रतिबिम्बित होरहा है, वही चि-

दाभासलक्षण पहिला शारीरक आत्मा है। जो अंश विभूतिसम्बन्ध से इसी हृदयस्थान में प्रतिष्ठित होरहा है, वह दूसरा प्रत्यगात्मा है। शारीरकआत्मा आध्यात्मिकसंस्था में ही रहने वाला जीवात्मा है, प्रत्यगात्मा इसी संस्था में रहने वाला ईश्वरात्मा है। दोनों सुपर्ण सयुक् हैं एक साक्षी है, दूसरा भोक्ता है। एक गुणभावाक्रान्त है, दूसरा निर्गुण है। तीसरा वही व्यापक विश्वात्मा है, जो न इस परिच्छिन्न अध्यात्मसंस्था में विभूतिसम्बन्ध से समासक्त, न योगसम्बन्ध से। देहाभिमानी देही अव्ययात्मा शारीरक आत्मा है। यही देहाभिमानी पर (अव्यय) है। इसी के लिए गीता कहती है—

१–भोक्ता–अव्ययः (चिदाभासः)—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ (गी० १३।२२)॥

देह में रहता हुआ भी अपने विभूतिसम्बन्ध के प्रभाव से देहाभिमान से रहित हृदयस्थ परमात्मा (ईश्वर) प्रत्यगात्माव्यय है। इसी के लिए गीता कहती है—

२–साक्षी–अव्ययः–(चिदंशः)–

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥१॥ [गी० १३।३१]॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ २॥[गी १८।६१]।

तीसरा व्यापक ईश्वराव्यय व्यष्टि से सम्बन्ध न रखता हुआ समष्टि का सञ्चालक बन रहा है। शारीरक–एवं प्रत्यगात्माव्यय जहां अपनी २ व्यष्टियों के सञ्चालक हैं, वहां यह व्यापक चिदात्मा सम्पूर्ण व्यष्टियो की समष्टिरूप विश्व का सञ्चारस्थान (गति) है, भरणपोषण करने वाला (भर्त्ता) है, नियन्ता (प्रभु) है, द्रष्टा (साक्षी) है, आधार (एकतः आधार रूप-

निवास) है, आश्रयप्रदाता [शरण] है, सन्मार्गप्रदर्शक [सुहृद्] है, मूलोत्पत्तिस्थान [प्रभव] है, संहारक [प्रलय] है, प्रतिष्ठाभूमि [स्थान] है, आवपन [सर्वतः आधाररूप—निधान] है, मूलकारण (बीज है । इन १२ धर्म्मों से वह व्यापक चिदात्मा सर्वेसर्वा बन रहा है । इसी तीसरी अव्ययसंस्था का दिग्दर्शन कराती हुई गीता कहती है—

३—विश्वाव्ययः (चिदात्मा)—

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ [गी०९।१८] ।

इस प्रकार एक ही अहं, किंवा मम तीन संस्थाओं परिणत हो रहा है । हमारे प्राधानिक महोदय अध्यात्मसंस्था के विशेष पक्षपाती हैं । एवं इस संस्था का स्थूल कारण प्रकृति है । अतः जब इन से आध्यात्मिक मम के परभाव के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है, तो तत्काल यह अव्यक्त प्रकृति को आगे कर देते हैं । इस पर भगवान् को यह कहना पड़ता है कि, विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न प्रत्यगात्मलक्षण ईश्वराव्यय से नित्य सम्बद्ध, योगसम्बन्धावच्छिन्न शारीरकात्मलक्षण शारीरकाव्यय का [मम का] परभाव वस्तुतः द्वादशलक्षणावच्छिन्न व्यापक, अनुत्तम, पर अव्यय [चिदात्मा] ही है । यही साङ्ख्य आक्षेप का चौथा समाधान है । गीताशास्त्र इसी अपूर्व अव्यय का स्वरूप हमारे सामने रखती हुई, साथ ही में बुद्धियोगरूप उस की प्राप्ति का उपाय भी बतलाती है । अतएव हम इसे दर्शन से गतार्थ न मानते हुए एक स्वतन्त्र, अपूर्व, विज्ञानशास्त्र कहते हैं ।

पूर्व में जिन तीन अव्ययात्मसंस्थाओं का दिग्दर्शन कराया गया है, उन में पहिली चिदात्मसंस्था का तो आधिदैविकसंस्था से सम्बन्ध है, शेष दोनों प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय, एवं शारीरकात्मलक्षण अव्ययों का सम्बन्ध अध्यात्मसंस्था है । इन दोनों का स्वरूप योगमाया से आवृत है । योगमाया का चूंकि अक्षर से सम्बद्ध है, अतएव ये दोनों अक्षर में ऐसे ओतप्रोत हो गए हैं कि, जिन को पृथक् कर के देखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, जैसा कि—

"मम माया दुरत्यया" से स्पष्ट है। अध्यात्मसंस्थारूप एक ही धरातल में प्रतिष्ठित रहने वाले इन अव्ययाक्षरों का उसी प्रकार विशकलन नहीं किया जा सकता, जैसे कि एक ही पात्राधार पर प्रतिष्ठित शर्करा एवं पानी का विशकलन नहीं हो सकता। पानी में शर्करा डाल कर दोनों का पर्य्याप्त मिश्रण कर दीजिए। अब आप इन दोनों की छांट न कर सकेंगे। क्योंकि दोनों एक दूसरे में ओतप्रोत होकर एकरूप बन गए हैं।

बात यथार्थ है। जबतक दर्शन का अनुगमन है, तब तक शर्करा एवं पानी का भेद प्रतीत नहीं होसकता। शर्करामिश्रित जल, किंवा जलमिश्रित शर्करा को खब देखते रहिए, जीवन भर देखिए, केवल इस दर्शन से आप कभी यह पता नहीं लगा सकते कि, इस पानी में शर्करा है। परन्तु उस पानी को मुख में डालिए, अनुभव कीजिए, विज्ञान का अनुगमन कीजिए, तत्काल दोनों के भेद का साक्षात्कार होजायगा। विज्ञान से ही [व्यावहारिक ज्ञान से ही] पदार्थस्वरूप की प्रतिपत्ति होती है। दर्शन केवल वाचिकभाव पर विश्रान्त है, जैसा कि समष्टि प्रकरण के आरम्भ में कहा जा चुका है। सांख्यतन्त्र दर्शनतन्त्र है। यदि वह अक्षरानुस्यूत अव्यय का साक्षात्कार करने में असमर्थ, है तो इस में उस बेचारे का क्या दोष है।

दर्शनभाव को प्रधान मानने वाले प्राधानिक के लिए अव्यय को अक्षर से परे समझते हुए उसे मूल कारण मानना दुरूह है। अतएव वह सब प्रपञ्च का परभाव अक्षर को ही मान बैठता है। परन्तु—"अक्षर का भी आलम्बन जो अत्यन्त निगूढ अव्यय है, वही इस मम[शारीरक] की पर्य्यवसानभूमि है" यह गीता का आदेश है। गीता ने हीं, एकमात्र इस विज्ञान—शास्त्र ने हीं बुद्धियोगद्वारा हमें अव्यय का साक्षात्कार कराया है। क्या इतने पर भी गीता की अपूर्वशास्त्रता, एवं विज्ञानशास्त्रता में कोई सन्देह रह जाता है ?

इति—समष्टिनिरुक्तिः

—अ—

ट—दार्शनिक आत्मपरीक्षा का समन्वय

* श्रीः *

८—दार्शनिक आत्मपरीक्षा का समन्वय

त्मपरीक्षा समाप्त हुई। अब दर्शन-विज्ञानतन्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा का समन्वय कीजिए। जिन तीनो दर्शनतन्त्रों का पूर्व में क्रमिक निरूपण किया गया है, उनके देखने से सहसा हमें यह भ्रान्ति होजाती है कि, तीनों हीं दर्शनतन्त्र चक्र में फँसे हुए हैं। किसी को वास्तविकता का पता नहीं है।

कोई [वैशेषिक] कहता है-"सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण अणुपरमाणु है, एवं ई-श्वर की इच्छामात्र का सृष्टिप्रक्रिया में समावेश है। वह आत्मा क्षराक्षरविशिष्ट है। क्षरविशिष्ट अक्षरात्मा ईश्वर है, अक्षरविशिष्ट क्षरात्मा जीव है। ईश्वर एक है, जीव नाना हैं। "सर्व खल्विदं ब्रह्म"-"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में पठित ब्रह्म शब्द क्षरविशिष्ट अक्षरात्मा [ईश्वर] का ही वाचक है"।

दूसरा [प्राधानिक] दल कहता है कि-"जो तुह्मारा [वैशेषिकों का] ईश्वर है, उसका व्यक्त क्षरभाग तो जगत् की उपादानता से सम्बन्ध रखता हुआ जगत् में हीं चला जाता है। शेष रहता है-अक्षर। यह ईश्वर नहीं, अपितु प्रकृति [अव्यक्त] है। तुम कहते हो-ईश्वर कुछ नहीं करता हमारी दृष्टि में तुह्मारा ईश्वर ईश्वर ही नहीं है, अपितु प्रकृति है, एवं उसी से (मूल-प्रकृति) से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है। भला परिच्छिन्न व्यक्त परमाणु भी कहीं विचित्रभावो-पेत जगत् का कारण बना है।" इस प्रकार इस दूसरे दल का तत्त्ववाद प्रकृति पर ही समाप्त है। इन्हें पुरुष (अव्यय का पता नहीं है। यदि यथाकथंचित् है भी, तो ये इसका सृष्टिप्रक्रिया में कोई सहयोग नहीं मानते। यहांतक कि-उसकी इच्छा को भी वे दूरसे ही प्र-णाम्य बतला रहे हैं।

दूसरे दल के प्राकृतिक सिद्धान्त को सहन न करता हुआ एक तीसरा दल [शारी-रक हमारे सामने आता है। प्रकृतिवाद का आमूलचूड खण्डन कर यह ब्रह्मवाद को ही

सामने रखता है। "विना ब्रह्म के सहयोग के जड़ प्रकृति कुछ नहीं करसकती। वस्तुतस्तु ब्रह्म-प्रकृति-विकृति-विश्व इन भेदवादों का इस ब्रह्मवाद में कोई महत्त्व ही नहीं है। सर्वत्र एकमात्र अद्वय ब्रह्म का ही साम्राज्य है। वही ब्रह्म अव्ययात्मा है।"

उक्त निरूपण से यह भी सिद्ध होजाता है कि, तीनों ही तन्त्रो के उद्देश्य-विधेय पृथक् पृथक् हैं। तीनों के उपक्रमोपसंहार एक दूसरे से विभिन्न हैं। स्थूलजगत् उद्देश्य, क्षरात्मा विधेय, यह वैशेषिक का सिद्धान्त है। क्षरप्रपञ्च उद्देश्य. अक्षरात्मा विधेय, यह प्राधानिक का तन्त्रार्थ है। एवं अक्षर विवर्त्त उद्देश्य, तत्सम्बद्ध अव्यय विधेय, ये शारीरक के उद्गार हैं। इस प्रकार तीनों तन्त्र भेदवादमूलक मतवादो से ग्रस्त वनते हुए संशयनिवृत्ति के स्थान में संशयोत्तेजना के ही कारण वन रहे हैं। यही नहीं, परस्पर में एक दूसरे का खण्डन करना भी इनका उद्देश्य वन रहा है। इस खण्डनभाव से तो हमें यही कहना पड़ता है कि, ये तीनों एक दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र नहीं हैं, अपितु तीनों पृथक् पृथक शास्त्र हैं। ऐसी दशा में "एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानं संशयः" इस न्याय के अनुसार एक ही आत्मतत्त्वजिज्ञासा के सम्बन्ध में एक जिज्ञासु के सामने जब सर्वथा विरुद्धार्थों का प्रतिपादन करने वाले पृथक् पृथक् तीन शास्त्र उपस्थित होते हैं, तो वह और भी अधिक संशय में पड़ता हुआ सत्यज्ञान से वञ्चित रह जाता है। सत्य वस्तु एक है, तीन, अथवा अनेक नहीं। इधर हमारे सामनें तीन सत्य उपस्थित होते हैं। साथ ही में हमारे लिए कणाद-कपिल-व्यास तीनों ही समानभाव से पूज्य हैं। किसे सत्योपदेष्टा कहें, किस का सिद्धान्त सत्य मानें? इसी विप्रतिपत्ति से किसी एक सत्य सिद्धान्त पर पहुँचना हमारे लिए असम्भव होजाता है।

दर्शनतन्त्रों के उक्त वैषम्य को देख कर ही कल्पनारसिक कुछ एक पश्चिमी विद्वान्, एवं तदनुयायी उच्छिष्ट भोगी कुछ एक भारतीय विद्वान् दर्शनशास्त्र की समालोचना करते हुए यह कहने का साहस कर वैठते हैं कि—"भारतीयदर्शन किसी एक निश्चित सत्यसिद्धान्त का प्रतिपादन करने में सर्वथा असमर्थ है"। इन विद्वानों की दृष्टि में भारतीय दर्शन उपादेय नहीं, अपितु हेय है, त्याज्य है। यदि स्थूलदृष्टि से विचार किया जाता है तो, हमें भी इन विद्वानों

की हां में हां मिलाना पड़ता है। परन्तु विज्ञानदृष्टिमूलक सूक्ष्मदृष्टि से जब हम दर्शनतन्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों की परीक्षा आरम्भ करते हैं, तो हमारी भ्रान्ति का समूल विनाश होजाता है। तीनों तन्त्रों का भेदवाद एकान्ततः विलीन हो जाता है। साथ ही में जो सामान्य भेदवाद स्थूलदृष्टि की अपेक्षा से दर्शनशास्त्र पर अनास्था उत्पन्न करता है, विज्ञानदृष्टि का आश्रय लेने के पश्चात् वही भेदभाव सर्वथा उपयोगी सिद्ध होता है।

आत्मधर्म्म स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेद से तीन भागों में विभक्त हैं, जैसा कि तन्त्रारम्भ-प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इन में स्थूल आत्मधर्म्मों का क्षर से, सूक्ष्म आत्मधर्मों का अक्षर से, एवं कारणभूत आत्मधर्म्मों का अव्यय से सम्बन्ध है। तीनो पुरुषो में अव्ययतत्त्व ही पारमार्थिक तत्त्व है, एवं यही मुख्य आत्मा है। अव्यय को पहिचानना ही आत्मपरिज्ञान है। भारतीयदर्शनशास्त्र का एकमात्र मुख्य उद्देश्य है—"स्थूल, सूक्ष्म, कारण से परे जो एक नित्य, असङ्ग, अव्ययतत्त्व है, उस का परिज्ञान करवा देना"। दूसरे शब्दों में आत्मज्ञान करा देना ही दर्शन का चरम लक्ष्य है।

जिस आत्मा का दर्शनशास्त्र परिचय कराना चाहता है, उस के निरुपाधिक, सोपाधिक भेद से दो विवर्त्त हैं। सपरिग्रह वही अव्ययात्मा सोपाधिक आत्मा है, एवं परिग्रहशून्य वही आत्मा निरुपाधिक है। लक्ष्य है—निरुपाधिक, निर्गुण, निराकार आत्मा। परन्तु इस लक्ष्य की सिद्धि तबतक नहीं हो सकती, जबतक कि इस के सोपाधिकरूपों को उद्देश्य नहीं बना लिया जाता। कारण इस का यही है कि, जिस जीवात्मा को आत्मबोध कराना है, वह नित्य सोपाधिक है। शरीरायतन में प्रतिष्ठित, अतएव शरीराभिमानी जीवात्मा ज्ञाता है, एवं वह निरुपाधिक ज्ञेय है। ज्ञेय निरुपाधिक जहा निराकार एव असीम है, वहां यह ज्ञाता जीव साकार एवं ससीम है। ससीम का असीम के साथ, साकार का निराकार के साथ सम्बन्ध नहीं होसकता। परिच्छिन्न तत्त्व कभी अपरिच्छिन्न तत्त्व का संग्राहक नहीं बन सकता। ज्ञाता जीव के पास ज्ञानप्राप्ति के लिए मन एवं बुद्धि ये दो साधन हैं। मन प्रज्ञान है, बुद्धि इसी प्रज्ञान मन पर प्रतिष्ठित है। मन भौतिक है, ससीम है। ऐसी दशा में यह ज्ञाता को उसी ज्ञेय का ज्ञान करवा सकेगा, जो

कि ज्ञेय ससीम एवं भौतिक होगा। साकार मन के द्वारा ज्ञाता, किंवा उपासक जीवात्मा उस निराकार व्यापक का ध्यान, किंवा उपासना करले, यह सर्वथा असम्भव है। उपासना प्रत्येक दशा में सगुण, साकारब्रह्म की ही हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में निरुपाधिक ज्ञेय पर पहुँचाने के लिए दर्शनशास्त्र के लिए यह आवश्यक होजाता है कि, वह साधनरूप से, उपायरूप से निरुपाधिक साकारब्रह्म के मायामय सोपाधिक–सगुणरूप को आलम्बन बनावे। ज्ञेय निरुपाधिक एवं ज्ञाता सोपाधिक के मध्य में जबतक सोपाधिक आत्मरूप को प्रतिष्ठित नहीं किया जायगा, तब तक इसे यह प्राप्त करने में समर्थ न हो सकेगा। उधर निरुपाधिक आत्मा के ये सोपाधिकरूप भी [अध्यात्मसंस्था की तरङ्ग] क्रमशः स्थूल–सूक्ष्म–कारणशरीर भेदसे तीन भागों में विभक्त हैं।

इसी उपाधिभेद से उस एक ही के मुक्तिसाक्षी, सृष्टिसाक्षी दो रूप होजाते हैं। आनन्द, विज्ञान-मनोमय वही निरुपाधिक आत्मा है। मन–प्राण–वाङ्मय वही सोपाधिक आत्मा है। इस सोपाधिक की प्रतिष्ठा वही निरुपाधिक है। यह सोपाधिक आत्मा अपने ज्ञानशक्तिघन मन से सोपाधिक अव्ययात्मा बना हुआ है क्रियाशक्तिघन प्राण से अक्षरात्मा बना हुआ है, एवं अर्थशक्तिघन वाक्तत्त्व से क्षरात्मा बना हुआ है। उसका मनोरूप ही सोपाधिक अव्यय है, उसका प्राणरूप ही सोपाधिक अक्षर है, एवं उसका वाग्रूप ही सोपाधिक क्षर है। अपने इस क्षर-रूप से विकार उत्पन्न कर वही विश्व बन रहा है। इस प्रकार मन-प्राण-वाङ्मूर्त्ति सोपाधिक अव्ययात्मा ही (आनन्द-विज्ञान-मनोमूर्त्ति निरुपाधिक अव्ययात्मा पर प्रतिष्ठित रहता हुआ) अव्यय–अक्षर–क्षर–विश्व इन चार रूपों में परिणत होरहा है। इन सोपाधिकरूपों में अव्यय अक्षर–क्षर इन तीनो का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं विश्व का एक स्वतन्त्र विभाग है।

यह विश्व आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक भेद से तीन भागों में विभक्त है। विश्व के इन तीन रूपों के कारण ही अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा के आगे जाकर तीन रूप होजाते हैं। जिस महाविश्व के स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी ये पांच वर्ष हैं, वही आधिदैविक विश्व है। इस में भी त्रिमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा प्रविष्ट होरहा है। इस महाविश्वसंस्था में प्रविष्ट आत्मा यद्यपि त्रिमूर्त्ति है, तथापि तीनो में अव्यय ही प्रधान है,

क्षरांक्षर गौण हैं, एवं अव्यय को "विभर्त्यव्यय ईश्वरः" के अनुसार ईश्वर माना गया है। अतएव इस महाविश्वात्मा को हम–"ईश्वर" कह सकते हैं।

पञ्चमहाभूतात्मक (शरीर) विश्व के सात पर्व हैं। वे सातों पर्व क्रमशः रसासृग्मांसमेदअस्थिमज्जाशुक्र नामों से प्रसिद्ध हैं। यही आध्यात्मिक विश्व है। इस में भी त्रिमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा प्रविष्ट है। इस आत्मा में अक्षर प्रधान है, अव्यय क्षर गौण हैं, एवं "जीवभूतां महाबाहो" के अनुसार अक्षर जीव माना गया है। अतएव इस आध्यात्मिक विश्वात्मा को हम "जीव" कह सकते हैं।

पञ्चभूतात्मक जड़ विश्व के (भौतिक पदार्थों के) पांच पर्व गुहा (आकाश), आप (वायु), ज्योति (तेज), अमृत [जल,] रस [पृथिवी]- इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यही आधिभौतिक विश्व है। इस में भी सोपाधिक त्रिमूर्त्ति आत्मा प्रतिष्ठित है। इस आत्मसंस्था में क्षर प्रधान है, अव्ययाक्षर गौण हैं, एवं–"क्षरः सर्वाणि भूतानि" के अनुसार क्षर ही भौतिक जगत् माना गया है। अतएव इस आधिभौतिक विश्वात्मा को हम "जगत्" कह सकते हैं। ध्यान रहे, यह जगत्संस्था उस महाविश्व से सर्वथा भिन्न वस्तु है। महाविश्व एक है, जगत् अनेक हैं। प्रत्येक भौतिक पदार्थ [जड़ पदार्थ] एक एक स्वतन्त्र जगत् है। महाविश्व के गर्भ में अनन्त अध्यात्मसंस्थाएं [चेतन पदार्थ] हैं, एवं असंख्य ही आधिभौतिकसंस्थाएं [जड़ पदार्थ] हैं। दोनों का मूलाधार प्रजापति [महाविश्वविशिष्ट ईश्वर] ही है। इस प्रकार विश्वत्रयी भेद से सोपाधिक आत्मा की तीन संस्था बन जातीं हैं। तीनों में [प्रत्येक में] आत्मा-विश्व ये दो दो पर्व हैं। आत्मा सर्वत्र त्रिकल है, विश्व सर्वत्र पञ्चकल है। इस प्रकार ईश्वर ने हमारे साथ तीन पांच कर रक्खी है। सच है, ईश्वर से अतिरिक्त और किस का सामर्थ्य है, जो हमसे तीन-पांच कर सके। यही समष्टि अष्टादशा गायत्री है, गायत्री ही "सर्वम्"है, एवं यही द्विजाति का सर्वोत्कृष्ट उपास्य देवता है।

उक्त संस्थाविवेचन से पाठकों को यह भी विदित होगया होगा कि–त्रिमूर्त्ति आत्मा का अव्ययभाग आधिदैविकसंस्था में, अक्षरभाग आध्यात्मिकसंस्था, में एवं क्षरभाग आधिभौतिक-

संस्था में प्रधान है। साथ ही में यह भी गतार्थ है कि-प्रत्येक संस्था में गौण-मुख्यरूप से प्रत्येक संस्था में अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों हैं। ऐसी अवस्था में हमें मानना पड़ता है कि, प्रत्येक संस्था में देव-आत्मा-भूत तीनों संस्थाओं का भोग होरहा है। तीनों में यद्यपि तीनों हैं, अतएव समष्टिरूप से नवाक्षरविराट् का स्वरूप सम्पन्न होजाता है, जैसा कि भूमिकाप्रथमखण्डान्तर्गत नामरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है। तथापि प्रधानता तीनों में क्रमशः अधिदेव, अध्यात्म, एवं अधिभूत की है। अतएव तीनों तीनों नामों से व्यवहृत न होकर एक एक नाम से ही सम्बोधित हुए हैं। सब से पहिले आधिदैविकसंस्था को ही लीजिए।

१—महाविश्व के स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पांच पर्व बतलाए गए हैं, इसी को आधिदैविक विश्व कहा गया है, एवं इसी में अव्ययप्रधान त्रिमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा की प्रतिष्ठा बतलाई गई है। विश्व के पांचों पर्वों के अमृत-अमृतमृत्यु-मृत्यु ये तीन विभाग हैं। स्वयम्भू-परमेष्ठी की समष्टि अमृतसंस्था है, इसमें अव्यय का विकास है। "निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" इस मन्त्रवर्णन के अनुसार सूर्य्य अमृत-मृत्युसंस्था है; इस में अक्षर का साम्राज्य है। "तद्यद् किंचार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" के अनुसार सूर्य्य से नीचे प्रतिष्ठित पृथिवी-चन्द्रमा की समष्टि मृत्युसंस्था है, इस में क्षर की प्रधानता है। अमृतसंस्था आधिदैविक संस्था है, इसका साक्षी अव्ययरूप कारणशरीर है। अमृतमृत्युसंस्था आध्यात्मिक संस्था है, इसका निमित्त अक्षररूप सूक्ष्मशरीर है। मृत्युसंस्था आधिभौतिक संस्था है, इस का उपादान क्षररूप स्थूलशरीर है। इस प्रकार पञ्चपर्वात्मिका केवल आधिदैविक संस्था में ही तीनों संस्थाओं का भोग सिद्ध हो जाता है। तीनों में प्रधानता अव्यय-की-है, अतः इसे ईश्वरसंस्था नाम से सम्बोधन करना ही न्यायसङ्गत होता है। अध्यात्म-एवं अधिभूत सम्बन्धिनी तीनों संस्थाओं की मूलप्रतिष्ठा संस्थात्रयमूर्त्ति यही आधिदैविक संस्था, किंवा ईश्वरसंस्था है, जैसा कि अग्रिम परिलेख से स्पष्ट होजा है।
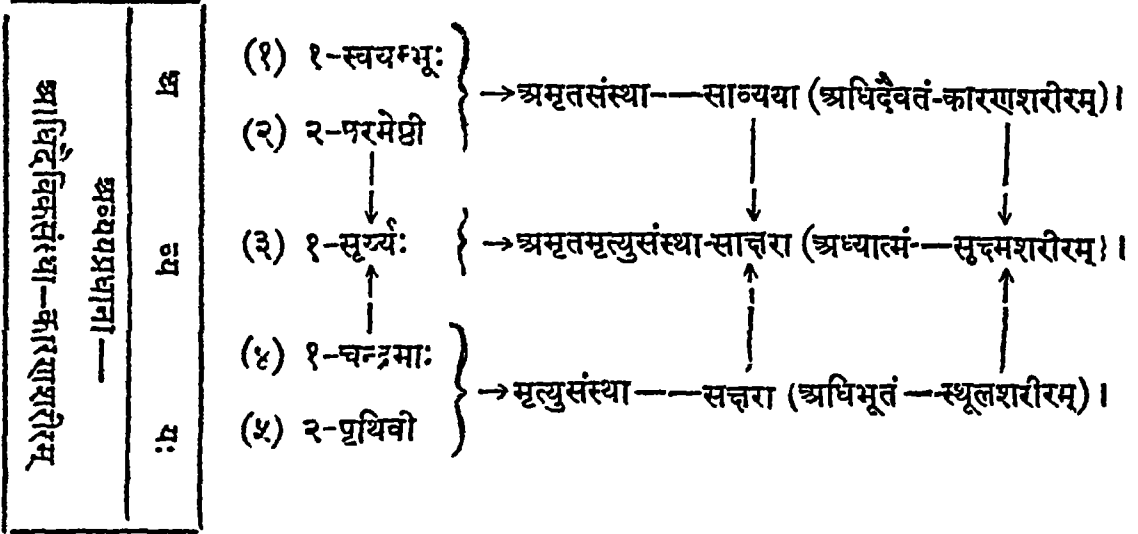
—१—

२—दूसरी अक्षरप्रधाना आध्यात्मिक संस्था है। जो तीन संस्थाएं पूर्वसंस्था में थीं, वे ही तीन संस्थाएं यहा हैं। अन्तर दोनो में केवल यही है कि, वहां अव्यय की प्रधानता थी, एवं यहा अक्षर की प्रधानता है। सप्तधातुमय पाञ्चभौतिक शरीर मृत्युसंस्था है, इस में क्षर का विकास है। सेन्द्रिय, एवं विज्ञान-(बुद्धि)-गर्भित, प्रज्ञानयुक्त, वैश्वानर--तैजस—प्राज्ञमूर्त्ति शारीरक कर्म्मात्मा अमृत- मृत्युसंस्था है, इस में अक्षर का प्रभुत्त्व है। एवं अव्यक्त--महद्युक्त प्रत्यगात्मा अमृतसंस्था है। इस में अव्यय का साम्राज्य है। अमृतसंस्था आधिदैविक संस्था है, इस का मूल आधिदैविक संस्था की साऽव्यया अमृतसंस्था है। अमृत-मृत्युसंस्था आध्यात्मिकसंस्था है, इस का मूल आधिदैविक संस्था की साक्षरा अमृत-मृत्युसंस्था है। मृत्युसंस्था आधिभौतिक संस्था है, इस का मूल आधिदैविक संस्था की सक्षरा मृत्युसंस्था है। ये ही तीनों अवान्तर संस्थाएं इस आध्यात्मिकसंस्था के क्रमशः कारण—सूक्ष्म—स्थूल शरीर हैं, जिन का कि प्रकारान्तर से पूर्वप्रकरणो में भी दिग्दर्शन कराया जा चुका है। इस प्रकार केवल अध्यात्म-संस्था में ही तीनों सस्थाओ का भोग सिद्ध हो जाता है। इन तीनो संस्थाओं का मूल योग-माया है, योगमाया अक्षरमाया है। अक्षर जीवसंज्ञक है, अतएव इस पर्वत्रयोपेत आध्यात्मिक प्रपञ्च को हम- 'जीव" शब्द से सम्बोधन करना ही न्यायसङ्गत समझते हैं। आगे के परि-लेख से इस संस्था का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

३—तीसरी क्षरप्रधाना आधिभौतिक संस्था है। इस संस्था के असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ भेद से दो विवर्त्त हैं। जो भौतिकवर्ग स्वस्थान से प्रवृद्ध होता है, वह अन्तःसंज्ञवर्ग है। लता, गुल्म, वृक्षादि, ओषधि--वनस्पतिएं हीं अन्तःसंज्ञ नामक भौतिकसर्ग है। इस में आंशिक रूप से प्रज्ञान विज्ञान रहते हैं, एवं इन्द्रियो में से केवल त्वगिन्द्रिय का विकास रहता है, कर्म्मात्मा इन का वैश्वानर---तैजसात्मक है, प्राज्ञ इन में उन्मुग्ध है, दृश्य स्थूल भाग पाञ्चभौतिकपिण्ड है, प्रत्यगात्मसंस्था समानरूप से प्रतिष्ठित रहता है, जैसा कि—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति" --"ईशावास्यमिदं सर्वम्" से सिद्ध है। जीवविद्यापरिभाषा में इस आधिभौतिक प्रपञ्च को वैश्वानर—तैजस सम्बन्ध से "द्व्यात्मक जीव" कहा जायगा।

दूसरा विभाग असंज्ञभूतवर्ग का है। जो सदा एकरूप रहते हैं, जिन में प्रज्ञान, विज्ञान, इन्द्रियादि के विकास का अत्यन्ताभाव है, जिन का आत्मा अर्थशक्तिघन केवल वैश्वानर है, वे ही असंज्ञ (सर्वथा जड़) भूत कहलाते हैं। इन्हे जीवविद्याप्रकरण में एकात्मक जीव कहा जाता है। साङ्ख्यपरिभाषानुसार द्व्यात्मक, एकात्मक दोनों तमोविशालसर्ग हैं। दोनों में क्षर का ही प्राधान्य है।

प्रथमवर्ग में प्रत्यगात्मा अमृत है, वैश्वानर-तैजसमूर्त्ति कर्म्मात्मा अमृत--मृत्यु है, एवं स्वयं भूतपिण्ड मृत्यु है। एवमेव द्वितीयवर्ग में प्रत्यगात्मा अमृत है, वैश्वानरमूर्त्ति कर्म्मात्मा अमृत-मृत्यु है, स्वयं भूतपिण्ड मृत्यु है। तीनों क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षरभावापन्न हैं। तीनों में प्रधानता क्षर की ही है, अतएव इस विभाग को "क्षरः सर्वाणि भूतानि" के अनुसार जगत् कहना ही न्यायसङ्गत बनता है। दोनों का संस्था विभाग आगे के दोनों परिलेखों से स्पष्ट होजाता है।

३-(१)-आधिभौतिकसंस्थापरिलेखः-(अधिभूतं-जगत्-अन्तःसंज्ञवर्गः)।

स्थूलशरीरम्
आधिभौतिकसंस्था
क्षरप्रधाना
अ---ः

१-प्रत्यगात्मा-----अमृतसंस्था—साव्यया(अधिदैवतं-का०शरीरम्)।

२--वै०तै०कर्म्मात्मा-अ०मृ०संस्था—साक्षरा (अध्यात्मं-सूक्ष्मशरीरम्)।

३--दृश्यपिण्डः----मृत्युसंस्था----सक्षरा (अधिभूतं-स्थूलशरीरम्)।

३–(२)–आधिभौतिकसंस्थापरिलेखः—(अधिभूतं–जगत्–असंज्ञवर्गः)

आधिभौतिकसंस्था क्षरप्रधाना स्थूलशरीरम् — अ — क्षः

१–प्रत्यगात्मा———अमृतसंस्था——साव्यया (अधिदैवतं–कारणशरीरम्)
२-वै०मूर्त्तिःकर्म्मात्मा अमृतमृत्युसंस्था-साक्षरा (अध्यात्मं—सूक्ष्मशरीरम्)
३–दृश्यपिण्डः———मृत्युसंस्था —— सक्षरा (अधिभूतं—स्थूलशरीरम्)

—३—

समष्ट्यात्मकसंस्थानपरिलेखः
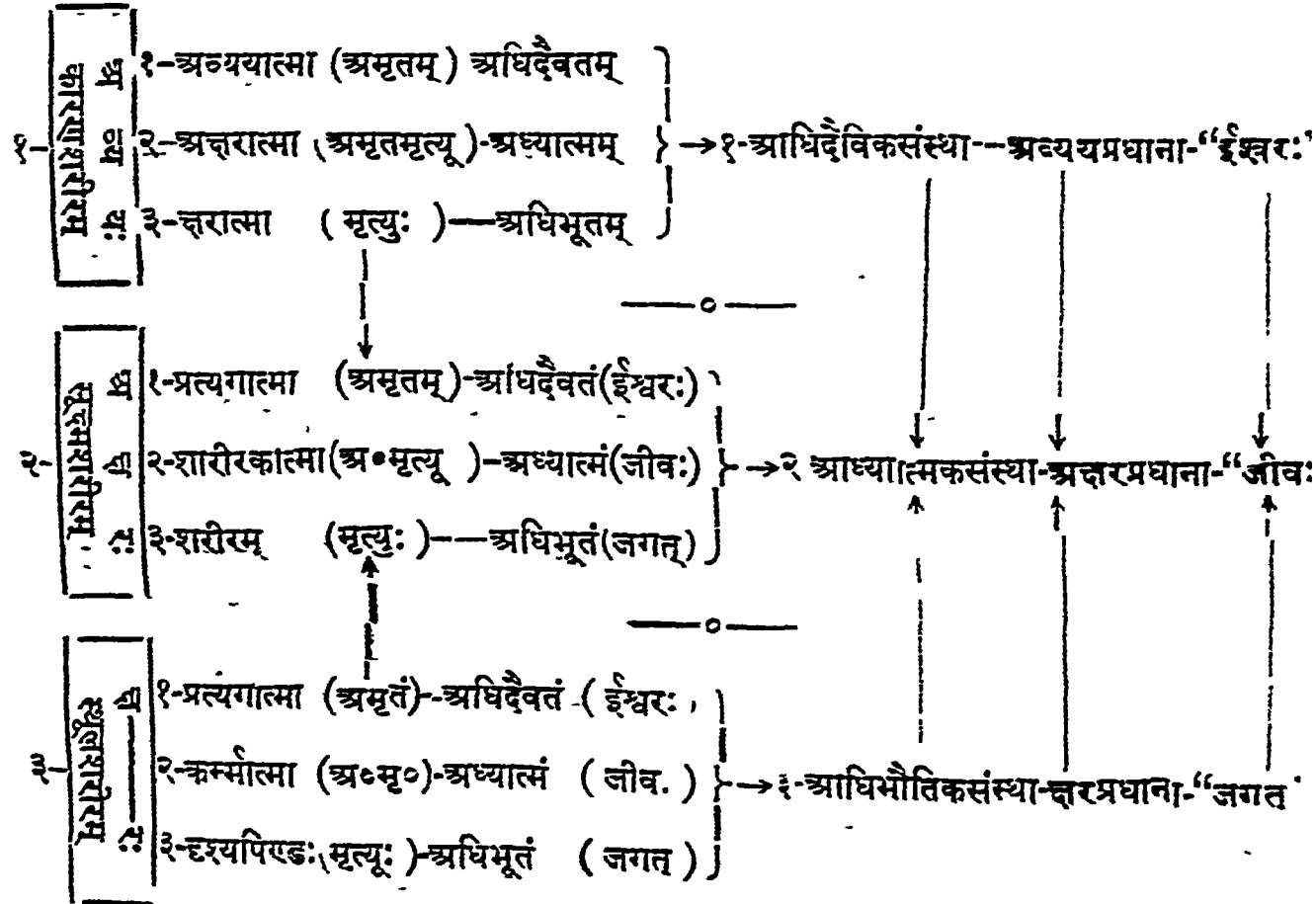
पाठक न भूले होंगे कि-हमनें दर्शनप्रकरण के आरम्भ में (देखिए पृ०सं० ५३ से ५६। यह बतलाया है कि–शब्दशास्त्रोपदेश केवल आध्यात्मिक संस्था के लिए इस में भी केवल भारतीय द्विजाति के लिए) ही प्रवृत्त हुआ है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि–दर्शनशास्त्र का मुख्य लक्ष्य पूर्वपरिलेखप्रदर्शित मध्य की जीवात्मसंस्था नाम की आध्यात्मिक संस्था ही है। इस आध्यात्मिक संस्था के सम्बन्ध में दर्शनशास्त्र को केवल यह बतलाना है कि–तुम्हारा लक्ष्यस्थान एकमात्र निरुपाधिक, आनन्द–विज्ञान–मनोमूर्त्ति, निर्गुण अव्ययात्मा ही है। चूंकि बिना सगुण के निर्गुणप्राप्ति असम्भव थी अतएव दर्शन को आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाली तीनों सगुणात्मसंस्थाओं का प्रतिपादन करना आवश्यक होगया। सगुणात्मधर्म्म तीन थे, अतएव उसे अपने आप को हमारे बोधसौकर्य्य के लिए) तीन तन्त्रों में विभक्त करना पड़ा। वे ही तीनों सोपाधिकात्मनिरूपक आध्यात्मिकतन्त्र आगे जाकर वैशेषिक प्राधानिक–––शारीरक नामों से प्रसिद्ध हुए। अध्यात्मसम्बन्धी अव्ययप्रधान अधिदैवत का निरूपण शारीरक ने किया। अध्यात्मसम्बन्धी अक्षरप्रधान अध्यात्म का स्पष्टीकरण प्राधानिक ने किया।। एवं अध्यात्मसम्बन्धी क्षरप्रधान अधिभूत का प्रतिपादन वैशेषिक ने किया। इस प्रकार तीनों तन्त्रों नें विषय विभक्त कर क्रम क्रमशः ऊपर की ओर लेजाते हुए (जीवात्मा को) लक्ष्यीभूत निरुपाधिक पर पहुंचा दिया, जैसा कि निम्न लिखित प्रकरण से विस्पष्ट होजायगा।

आध्यात्मसंस्था के सामने भौतिक विश्व प्रलोभन के लिए मुँह बाए खड़ा है। जहां उस का यह कर्त्तव्य था कि–वह भौतिक प्रपञ्चाधार क्षर का परिज्ञान कर, तद्द्वारा अक्षर पर पहुँच कर, तद्द्वारा सोपाधिक अव्यय पर पहुँचता हुआ, तदभिन्न निरुपाधिक आनन्दघन अव्यय पुरुष को प्राप्त कर अपने पुरुषार्थ को, पुरुष नाम को सार्थक करता, वहां यह विषयासक्ति में पड़कर केवल बहिरङ्ग भौतिक विषयों का अनुयायी बनता हुआ, निरुपाधिक की कौन कहे–आत्मा के तीनों सोपाधिकरूपों से भी वञ्चित हो रहा है। यह विषयासक्त कामकामी अन्ततोगत्वा अशान्ति से संत्रस्त बनकर शान्ति की खोज के लिए जिज्ञासाभाव से बाहर निकलता है। उस समय सब से पहिले इस के सामने परमकारुणिक भगवान् कणाद उपस्थित होते हैं।

भगवान् कणाद यदि चाहते तो उसे एक हेला में उस निरुपाधिक पर पहुँचा देते। साथ ही में यह भी सम्भव है कि–जो भाग्यशाली जिज्ञासु इस जिज्ञासा को लेकर कणाद के समीप पहुँचा होगा, उसे क्रमधारा में न डाल कर साक्षात्रूप से निरुपाधिक पर ही पहुँचा दिया होगा। परन्तु शब्दशास्त्र में वे इस क्रम का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। वे जानते थे कि–अधिकारी की योग्यता के तारतम्य से सम्बन्ध रखने वाला क्रम ही उसका कल्याण कर सकता है।

बात वास्तव में यथार्थ है। चौथी मंजिल पर एक व्यक्ति जाना चाहता है। संभव है, कोई बलशाली योगी अपने योगबल से नीचे की तीनों मंजिलों से सम्बन्ध न कराता हुआ एकदम सीधे उसे चौथी मंजिल पर ही पहुंचा दे। परन्तु साधारण व्यक्ति यदि अपनी शक्ति के बल पर वहां पहुंचना चाहेगा, तो उसे क्रमशः पहिली, फिर दूसरी, फिर तीसरी, इस क्रम से तीनों मंजिल पार करनीं पड़ेंगीं। यदि कोई मूर्ख अभिनिवेशवश छलाँग मारेगा तो वह अपना रहा सहा स्वरूप भी खो बैठेगा। ठीक यही अवस्था यहां समझनी चाहिए। आप को पहुँचना है निरुपाधिक अव्यय पर। इसके लिए आपको पूर्वोक्त अव्यय–अक्षर–क्षर ये मंजिलें तय करनीं पड़ेंगीं। अभी आप मंजिल पार करना तो दूर रहा, सब से अन्त की क्षर मञ्जिल पर भी नहीं पहुँचे हैं। अभी मञ्जिल से बाहर के भौतिक विषयों में ही आप आसक्त हैं। आप तो सचमुच बिना क्रमधारा के लक्ष्यस्थान पर पहुँच ही नहीं सकते। बस वैकारिक विश्व से हटाकर आपको आत्मक्षरस्वरूप पहिला मञ्जिल पर पहुँचाने के लिए ही वैशेषिकतन्त्र आप के सामने आया है।

वैशेषिक ने स्थूलशरीरसम्बन्धी भूतों के व्याज से सांसारिक पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य का निरूपण किया है। पदार्थों का विश्कलन समझाता हुआ वह क्रमशः रेणुभूत पर पहुँच कर आपको परमाणु पर पहुँचा देता है। स्थूलभूत से हटा कर सूक्ष्मभूत पर लेजाता है। आपकी स्थूलबुद्धि को उस स्थूलभूत के द्वारा ही सूक्ष्मतमभूत पर प्रतिष्ठित करता हुआ आपको सूक्ष्मदर्शी बना देता है। वैशेषिकप्रदत्त इसी सूक्ष्मदृष्टि के द्वारा आप आगे के सूक्ष्म-

जगत् को देखने में समर्थ होते हैं। परमाणु सूक्ष्म है, भौतिक जगत् स्थूल है। परमाणु ही इस स्थूलभौतिक जगत् का उपक्रमोपसंहार है। अतः इसने परमाणुवाद पर ही अपने स्थूल-कारणतावाद को समाप्त कर डाला है। परमाणु से परे का सारा प्रपञ्च क्षर में, एवं क्षर अक्षर में प्रतिष्ठित है। वह दोनों का पार्थक्य न कर दोनों की उन्मुग्धावस्था को ईश्वर कह बैठता है। आत्मक्षर ही उसकी दृष्टि में परमाणुवादादिविश्रान्त प्रपञ्च का नियन्ता है। इस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म परमाणु पर लाके वह हमें प्रथम सोपानभूत आत्मक्षर पर लाता हुआ कृतकृत्य होजाता है। पहिली मञ्जिल पर पहुँचा देना ही इसकी कृतकृत्यता है।

कदाचित् आप प्रश्न करें कि-"विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जब अव्यय ही सर्वेसर्वा है, तो वैशेषिक ने आत्मक्षर को, किंवा अक्षरात्मक्षर की उन्मुग्धावस्था को ही सर्वेसर्वा किस आधार पर बतला दिया ?" तो उत्तर में हम निवेदन करेंगे कि एक दृष्टि से वैशेषिक का आत्मक्षर को ही विश्वेश्वर बतलाना उचित होसकता है, होता है, और होना चाहिए।

उस एक दृष्टि को समझने के लिए वर्णशिक्षापद्धति पर दृष्टि डालिए। एक पांच वर्ष का अबोध बालक वर्णशिक्षा के लिए चटशाला जाता है। वर्णसमाम्नायोपदेष्टा जोशी मृण्मय लेप से लिप्त काष्ठपट्ट पर काष्ठलेखिनी से अक्षराभ्यास आरम्भ कराता है। "क—च—ट—त—पादि वर्ण पहिले स्वयं लिखता है, फिर उस से लिखवाने का अभ्यास कराता है। इस अभ्यासक्रम के साथ साथ ही—"बच्चे ! इसे ककार नाम का अक्षर समझो, इसे खकार समझो" यह अभ्यास कराता जाता है। बच्चा उस लिपिरूप पट्टलिखित वर्णसमुदाय को ही अक्षर समझता हुआ आगे बढ़ता जाता है।

बात ठीक इस से उलटी है। वर्ण, किंवा अक्षर का लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है। अक्षर श्रोत्रग्राह्य है, निराकार है। पट्टलिखित आकार सर्वथा कल्पित है, मिथ्या है। पट्टाक्षर हाथ से मिट जाते हैं, वह श्रोत्रग्राह्य अक्षरप्रपञ्च नित्य है। वास्तव में सत्य परिस्थिति यह है। अब यदि शिक्षक इस सत्य परिस्थिति के अभिमान से उस अबोध को वर्णशिक्षारम्भकाल में ही——"देखो भाई ! पट्ट पर जो अक्षर लिखे हैं, वे कल्पित हैं। इन्हें अक्षर मत समझना।

अक्षर तो श्रोत्रग्राह्य हैं, नित्य हैं" इस उपदेश का आश्रय लेता हुआ वर्णशिक्षा आरम्भ करेगा तो एक जन्म में क्या—सहस्र जन्म में भी वह इसे वर्णबोध न करा सकेगा। उसे जानते हुए भी अपने सत्यज्ञान को कोने में रखते हुए लिपिमय वर्णों को ही अक्षरशब्द से सम्बोधन करना पड़ेगा। इस मिथ्या उपाय से ही वह कालान्तर में उसे सत्यतत्त्व पर पहुंचा सकेगा। यही रहस्य प्रतिमापूजन से सम्बन्ध रखता है। इस रहस्य की उपादेयता बतलाते हुए अभियुक्त कहते हैं-

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥१॥
उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥२॥

अस्तु आगे आने वाले उपासनाकाण्ड में उक्त दृष्टि का विस्तार से निरूपण होने वाला है। प्रकृत में उक्त उदाहरण से हमें केवल यही बतलाना है कि—इस समय कणाद के सामने मुख्य उद्देश्य है-"सांसारिक मनुष्य संसार से हट कर प्रथम सोमानरूप आत्मक्षर पर आ-जांय"-यह। अपनी इसी लक्ष्यसिद्धि के लिए उपलालनभाव का आश्रय लेते हुए दूरदर्शी कणाद ने क्षर को ही सर्वेसर्वा बतला दिया है। अब यदि पदार्थविद्या के प्रतिपादन के साथ ही कणाद अव्यय अक्षर-क्षर आदि सब आत्मप्रपञ्चों की गाथा गाने लगें, तो पदार्थविद्यारूप चट-शाला में प्रविष्ट होने वाला वह अबोध जिज्ञासु कुछ न समझे। साथ ही में कणाद का कर्त्तव्य यहीं समाप्त नहीं होजाता। शब्दशास्त्रद्वारा श्रुत अव्यय-अक्षर शब्दों के सम्बन्ध में यदि जि-ज्ञासु प्रश्न करेगा कि—भगवन्! अव्यय अक्षर क्या हैं ?, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "सत्यं—ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में पठित ब्रह्म कौन पदार्थ है ?, तो उस समय वास्तविक परि—स्थिति को एक ओर रखते हुए जिज्ञासु की सामान्य योग्यता की अपेक्षा से कणाद यही कहेंगे कि- "अव्यय, अक्षर, ब्रह्म सब कुछ यही क्षर है। ये सब इसी के नाम है। अभी तुम क्षर को ही सब कुछ समझो। यही ब्रह्म है, यही ईश्वर है, यही आत्मा है"। यदि ऐसा न कर कणाद अव्ययाक्षर की चर्चा आरम्भ कर दें तो-"इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" इस शास्त्रीय आभाणक, एवं-"एकं

साध्यां सत्र सध, सत्र साध्यां सत्र जाय" इस लौकिक आभाणक के अनुमसार वह कुछ भी सिद्धान्त न कर सके। इसी आभाणकसिद्धान्त का श्रुति ने भी "एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञात भवति" इत्यादिरूप से पूर्ण समर्थन किया है। यही नहीं, यदि कणाद के सामने क्षरप्रतिपादन करते समय कोई अक्षर-अव्ययवादी उपस्थित होगा, तो उन्हें अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए उसका आवश्यकतानुसार खण्डन भी करना पड़ेगा। क्योंकि वे लौकिक भूत नुयायी साधारण अधिकारियो के कल्याण के लिए ही तन्त्ररूप से प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार अपने धरातल से (सोपाधिक तीनों आत्मविवर्त्तों में से) अक्षरात्मा का प्रतिपादन करता हुआ, परमाणुवादी वैशेषिकतन्त्र जो कुछ कहता है, वह यथार्थ, उपादेय एवं लोककल्याणकर ही है।

वैशेषिकतन्त्र के अनुग्रह से एक जिज्ञासुने परमाणुवाद का रहस्य समझते हुए सोपाधिक आत्मा के क्षररूप को यथावत् समझ लिया। क्षर पर विश्राम कर वह अपने आप को जहां कृतकृत्य समझने का अभिमान करता है, तत्काल महर्षि कपिल अपने प्राधानिकतन्त्र को साथ लेकर उसके सामने उपस्थित होजाते हैं। कपिल कहते हैं, सावधान! अभी कृतकृत्यता दूर है। और आगे बढ़ो। क्षर को ही सर्वेसर्वा मत समझो। विश्वास करो-अक्षर नाम की अव्यक्त प्रकृति ही मूलप्रकृति है, यही जगत् की अधिष्ठात्री है, एवं यही तुह्मारा (जीव का) मूलाधार है। यदि क्षराभिमानी जिज्ञासु क्षर की सर्वता कपिल के सामने रखता है, तो उस समय वे उस क्षरवाद का आमूलचूड खण्डन करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझ लेते हैं। लिखित लिपि से अक्षरबोध होजाने पर भी जो उसी को वास्तव में अक्षर समझने का अभिमान करता रहता है, विश्वास कीजिए, उसे अक्षरबोध नहीं हुआ। अक्षर पर आके क्षरवादी को अपना क्षराभिमान छोड़ देना चाहिए। इसी लक्ष्यसिद्धि के लिए अक्षरशिक्षक कपिल ने वैशेषिकसम्मत क्षरात्मवाद का, एवं अणुवाद का जीभर कर खण्डन किया है, जो कि सर्वथा न्यायसङ्गत है। इस प्रकार वैशेषिक के अनुग्रह से स्थूलजगत् से हट कर सूक्ष्मक्षर पर आने वाला अधिकारी प्राधानिकतन्त्र के अनुग्रह से क्षर को पार कर सुसूक्ष्म अक्षर नाम के दूसरे सोपान पर पहुँच जाता है। इसी समय शारीरकतन्त्र इसके सामने उपस्यत होता है।

व्यासदेव कहते हैं, सावधान ! तुह्मारी जिज्ञासा अभी शान्त नहीं हुई है। अब तक तुमने जिसे आत्मजिज्ञासा समझ रक्खी थी, विश्वास करो--वह विकृतिरूप क्षर, एवं प्रकृतिरूप अक्षर की जिज्ञासा थी। वैशेषिक एवं प्राधानिक ने तुह्मारी ब्रह्म-- आत्म)--जिज्ञासा के उत्तर में योग्यता के अनुसार क्षर एवं अक्षर नाम की ब्रह्म की। अपरा--परा प्रकृति को ही तुह्मारे सामने रक्खा है। आज तुमने ब्रह्म (अव्यय) का प्राकृतिक विवर्त्त समझ लिया है। आज तुम उत्तमाधिकारी बन गए हो। अब तुम को अपने पहिचाने हुए प्रकृतिवाद से परे रहने वाले ब्रह्म अ-व्यय) की जिज्ञासा करनी चाहिए। और साथ ही में-"प्रकृति ही विश्व के जन्म--स्थिति--भङ्ग का कारण है" इस उपलालन को छोड़ कर विजिज्ञास्य उस अव्ययब्रह्म को ही जन्म--स्थिति--भङ्ग का कारण समझना चाहिए। यह ठीक है कि--स्वयं निरुपाधिक ब्रह्म (अव्यय) सृष्टि-निर्म्माण करने की अपेक्षा नहीं रखता। उसे अपने इस कार्य्य में प्रकृति का समन्वय अपेक्षित है। पुरुष एवं प्रकृति के समन्वय से ही विश्ववितान हुआ है। फिर भी तुह्म स्मरण रखना चाहिए कि--साक्षात् न सही, परम्परा से ही सही, एकमात्र विजिज्ञास्य अव्ययब्रह्म ही सब का मूलकारण है। भगवान् व्यास ने अपने तन्त्र के आरम्भ में हीं निम्न लिखित सूत्रों के द्वारा अपनी अव्यय-ब्रह्मप्रतिपादकता सिद्ध करदी है--

१--"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"* ।
२--"जन्माद्यस्य यतः" ।
३--"शास्त्रयोनित्वात्" ।
४--"तत्तु समन्वयात्" ।

जिस प्रकार वैशेषिक-प्राधानिकतन्त्रों नें स्वस्वसिद्धान्त के महत्त्व को अधिकारी की योग्यतानुसार सुव्यवस्थित रखने के लिए तन्त्रान्तरों के खण्डन की आवश्यकता समझी है, ठीक

* अथ--प्रकृतिज्ञानानन्तरं, अतः,--सोपाधिकात्मभावतः, ब्रह्म जिज्ञासा (अव्यय-जिज्ञासा), कार्या कर्त्तव्या।

उसी तरह व्यासदेव ने भी तन्त्रान्तर का खण्डन किया है। व्यास का विशेष लक्ष्य प्राधानिक तन्त्र ही रहा है। कारण स्पष्ट है। प्राधानिक ही शारीरक के समीप पड़ता है, एवं यही अव्ययलक्षण ब्रह्मवाद का प्रबल विरोधी है। अतः शारीरकतन्त्र में प्राधानिक का ही परमतरूप से निष्कासन हुआ है। वक्तव्य यही है कि–यह तीसरा तन्त्र आत्मा के उस अव्यय नामक तीसरे सोपाधिक तन्त्र पर पहुंचाने के लिए ही हमारे सामने आया है। यह भी अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रहता हुआ जो कहता है, बावन तोला पावरत्ती सही है।

भचक्र के उत्तरादिक् में सुप्रसिद्ध सप्तर्षिमण्डल है। इन में त्रिकोण बनाते हुए तीन तारे पूर्व की ओर हैं, एवं ४ तारे (चतुष्कोणात्मक) इन तीनों से पश्चिम की ओर हैं। इन तीनों में सब से पूर्व का तारा मरीचि नाम से, उस से पश्चिम का वसिष्ठ नाम से, एवं उस से पश्चिम का तीसरा तारा अत्रि नाम से प्रसिद्ध है। वसिष्ठ नक्षत्र के अधोभाग में एक सूक्ष्म नक्षत्र और है इसे नक्षत्रविद्या में "अरुन्धती" कहा जाता है। एवं यह उस नाक्षत्रिक वसिष्ठ-ऋषिप्राण की पत्नी मानी जाती है, जैसा कि अन्यत्र (ऋषिरहस्य में) स्पष्ट है। यदि कोई व्यक्ति अरुन्धती नक्षत्र को देखना चाहता है, तो पहिले उस की दृष्टि सप्तर्षिमण्डल पर डलवाई जाती है। फिर वसिष्ठ की ओर उस का ध्यान आकर्षित किया जाता है। सर्वान्त में सुगमता से उसे अरुन्धती का परिचय करा दिया जाता है। इस प्रकार स्थूल से सूक्ष्म क्रमद्वारा उसे अरुन्धती का ज्ञान हो जाता है। यदि ऐसा न कर उसे सीधे सूक्ष्म अरुन्धती ही दिखलाने का प्रयास किया जाता है, तो वह इस प्रयास में असमर्थ रहता है। स्थूल के द्वारा ही बुद्धि सूक्ष्म पर जा सकती है, यही रहस्य समझाने के लिए संस्कृतसाहित्य मे–"स्थूलारुन्धती" न्याय प्रसिद्ध । इसी न्याय के अनुसार दर्शनशास्त्र उक्त तीन तन्त्रों में विभक्त हुआ है। क्षर स्थूल, उस से सूक्ष्म अक्षर, सर्वसूक्ष्म अव्यय, एवं यही प्रधान लक्ष्य। इसी बोधसौकर्य्य के लिए वैकारिक जगत् से आरम्भ कर क्षरपर्य्यन्त वैशेषिकतन्त्र विश्राम करता है। क्षर से आरम्भ कर अक्षर पर्य्यन्त प्राधानिक का साम्राज्य है। अक्षर से आरम्भ कर अव्यय पर्य्यन्त शारीरक का प्रतिपाद्य विषय है। इस स्थूला-

रुन्धतीन्याय से तीनों आत्मधर्म्मों का भी सम्यक् अवग्रह हो जाता है, साथ ही में लक्ष्य पर भी दृष्टि चली जाती है।

वैशेषिक क्षरब्रह्म को स्रष्टा मानता है, प्राधानिक अक्षरब्रह्म को स्रष्टा कहता है एवं शारीरक अव्यय को सर्वेसर्वा मान रहा है। इन तीनों तन्त्रों में जो समानधर्म्म हों उनका ग्रहण कर लेना चाहिए, एवं वैषम्य का परित्याग करदेना चाहिए। वैशेषिक कहता है-"वैकारिकजगत् का आत्मा आत्मक्षर है"। यह सिद्धान्त तीनों तन्त्रों को ग्राह्य है। परन्तु—"क्षर ही सब कुछ है' यह सिद्धान्त प्राधानिक, एवं शारीरक दोनों को मान्य नहीं हैं। यह वैषम्य औपाधिक है। क्षरोपाधि से यह वैषम्य आता है। जहां क्षर को छोड़कर आगे बढ़े कि क्षरोपाधिवैषम्य का स्वतःएव परित्याग हुआ। यही बात इतर दोनों तन्त्रों में समझनी चाहिए।

सम्पूर्ण प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि, वैशेषिकतन्त्र में अतिविस्तार से निरूपित क्षरब्रह्म से, प्राधानिकतन्त्र में सुविशद निरूपित अक्षरब्रह्म से अवशिष्ट, दोनों से सर्वथा विलक्षण जो अव्ययब्रह्म है, उसका अक्षरोद्देश्येन निरूपण करने के लिए ही तीसरा शारीरकतन्त्र प्रवृत्त हुआ है।

दर्शनभक्त पाठकों को याद दिलाया जाता है कि, अव्ययात्मा के अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीन सोपाधिकरूपों सेसर्वथा पृथक् आनन्दघन एक निरुपाधिक अव्यय और बतलाया गया था। यद्यपि शारीरक ने सोपाधिक अव्ययनिरूपणद्वारा उसकी ओर भी हमारा (आंशिकरूप से) ध्यान आकर्षित किया है, परन्तु अभी वह सर्वात्मना अविज्ञात ही बना हुआ है। शारीरक ने अव्यय के साथ साथ अक्षर को उद्देश्य बनाकर एक प्रकार से विशुद्ध अव्ययसम्पत्ति से हमें वञ्चित रख रहा है। बस इसी कमी की पूर्त्ति के लिए आनन्दाव्ययावतार, अतएव आनन्दकन्द (आनन्दघन) नाम से प्रसिद्ध भगवान् कृष्ण का उपदेशामृतरूप यह अपूर्वविज्ञानशास्त्र (गीताशास्त्र) प्रवृत्त हुआ है।

उक्त तन्त्रसमन्वयप्रकरण से विज्ञ पाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि, एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र बना कर ऋषियोंनें हमें सन्देह में नहीं डाला है, सत्यसिद्धन्त से

हमें वञ्चित नहीं किया है, अपितु हमारे कल्याण के लिए ही उन परमकारुणिक व्यास-कपिल कणाद नामके दर्शनाचार्यों नें आत्मदर्शन को तीन तन्त्रो में विभक्त कर दिया है। यदि तीनों आत्मधर्म्मों का एक ही ग्रन्थ में समावेश होजाता, तो हम आत्मबोध से सर्वथा वञ्चित रहजाते। ऐसी दशा में हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि, जो महानुभाव भारतीय दर्शनशास्त्रो पर मतभेद का मिथ्या कलङ्क लगाने का मिथ्या उपक्रम करते हैं, वे अभी हमारे विचार से दर्शन-शास्त्र की परिभाषा से भी अपरिचित हैं। बिना देखे ही केवल अपने महाप्रभुओं के वाग्विलास-जनित अभिनिवेश से ही उन्हें यह भ्रान्ति होगई है। यदि दोषदृष्टि से एकबार भी वे दर्शन-ग्रन्थो का पारायण करने का कष्ट करलेते, तो सम्भवतः उनसे यह अक्षम्य अपराध करने की कुत्सित धृष्टता न होती।

आधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत सम्बन्धी अव्ययात्मानुगत सूक्ष्म-कारण-धर्म्म, अक्षरात्मा-नुगत सूक्ष्मधर्म्म, क्षरात्मानुगत स्थूलधर्म्म, इन तीन संस्थाओ की दृष्टि से एक ही दर्शनशास्त्र के तीनो तन्त्रों का समन्वय किया गया। अब एक दूसरी दृष्टि से (जो कि सम्भवतः दर्शनभक्तो के सामने अबतक न आयी होगी), उसी स्थूलारुन्धतीन्याय का आश्रय लेते हुए औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार तीनों तन्त्रों का समन्वय किया जाता है। जिस त्रिमूर्त्ति सोपाधिक आत्मा का पूर्व में दिग्दर्शन कराय गया है, उसे श्रुति ने अमृत–ब्रह्म–शुक्र इन तीन भागों में विभक्त माना है। एवं सोपाधिक आत्मा के इन तीनों विवर्त्तों की समष्टि उपनिषत् में "अश्वत्थ" (ब्रह्माश्वत्थ) नाम से सम्बोधित हुई है, जैसा कि महर्षि कठ कहते हैं—

> ऊर्ध्वमूलोऽवाकशाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
> तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते ॥
> तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
> एतद्वै तत् ॥ (कठ० ६।१।)

तीनों एक ही आत्मा के तीन विवर्त्त हैं, तीनो अभिन्न हैं, यही सूचित करने के लिए श्रुति ने "तदेव"–"तत्" "तदेव" "एतद्वै तत्" यह कहा है। इस दृष्टि से अव्यय, अक्षर,

क्षर तीनों की समष्टि अमृतात्मा है। यद्यपि पूर्व के संस्थाविभागों में हमनें अव्यय को अमृत, अक्षर को अमृतमृत्यु, एवं क्षर को मृत्यु कहा है, परन्तु वस्तुतः तीनों अमृत हीं हैं। शाश्वत-तत्व को ही अमृत कहा जाता है। अव्यय की दृष्टि से अक्षर अमृत-मृत्यु है, अक्षर की दृष्टि से क्षर मृत्यु है, परन्तु ब्रह्म की अपेक्षा से अव्ययवत् अक्षर-क्षर भी अमृत ही मानें जायेंगे। अव्यय का व्ययीभाव नहीं है, इसलिए अव्यय का तो अमृततत्त्व स्पष्ट ही है। अक्षर का भी क्षरणारूप क्षयभाव नहीं होता। इसलिए यह भी अमृत ही है, जैसा कि "अमृतस्याव्ययस्य च" इत्यादि गीतासिद्धान्त से भी स्पष्ट हैं। अब शेष रहता है क्षर। क्षर परिणामी अवश्य है। परन्तु इस के सम्बन्ध में भी पूर्व में यह बतलाया जाचुका है कि, विकार उत्पन्न करता हुआ भी क्षर स्वस्वरूप से अविकृत रहता है। अतएव इसे "आत्मक्षर" कहते हुए अमृतात्म-कोटि में अन्तर्भूत माना गया है। इस नित्यस्वरूपस्थिति के सम्बन्ध से हम क्षर को भी अमृत ही कहेंगे। इस प्रकार अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों की समष्टि "अमृत" शब्द की अधिकारिणी बन जाती है। यह पहिला अमृतसत्यात्मविवर्त्त है।

अमृतसत्यात्मा के क्षरभाग से क्रमशः प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद ये पांच विकार क्षर उत्पन्न होते हैं। यही विकारक्षरसमष्टि वैकारिक विश्व का उपादान (शुक्रद्वारा) उपादान बनती है। उपादानकारण को ही विज्ञानभाषा में "ब्रह्म" कहा जाता है। अतएव हम उपादानभूत विकारक्षर को ब्रह्म कह सकते हैं। उस अमृतसत्यात्मा का ब्रह्मसत्य नामक यही दूसरा विवर्त्त है।

यही ब्रह्मसत्य आगे जाकर देवसत्य का जनक बनता है। इस देवसत्यात्मा का ही नाम शुक्र है। इस के वाक्-आप-अग्नि ये तीन विवर्त्त हैं, जिनका कि ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य की शुक्रनिरुक्ति में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। शुक्र देवसत्य है, ब्रह्म ब्रह्मसत्य है, एवं अमृत अमृतसत्य है। इसी अमृतसत्य को "सत्यस्य सत्यम्" कहा जाता है।

आत्मा को मन-प्राण-वाङ्मय कहा गया है। इन तीनों का परस्पर में त्रिवृद्भाव सम्बन्ध है। अर्थात् जिस प्रकार पृथिव्यादि पांचों भूतों में दर्शनशास्त्रसम्मत पञ्चीकरणप्रक्रिया

के अनुसार प्रत्येक में पांचों भूतों का समावेश है, एवमेव उपनिषच्छास्त्रसम्मत त्रिवृत्करण-प्रक्रिया के अनुसार आत्मा की उक्त तीनों कलाओं में मन-प्राण-वाक् तीनों का समावेश है। इसी त्रिवृद्भाव से एक ही आत्मा की अमृत-ब्रह्म-शुक्र ये तीन संस्थाएं होजातीं हैं, जिनका कि विशद निरूपण मूलभाष्य में अनेकरूप से होने वाला है यहां प्रकरणसङ्गति के लिए केवल उनके नाममात्र जान लेना ही पर्य्याप्त होगा।

प्राणवाग्गर्भित मन का नाम ही अमृत[1] है। इस मनका मनोभाग आनन्दमूर्त्ति अव्यय है, प्राणभाग विज्ञानमूर्ति अक्षर, है, वाग्भाग मनोमूर्त्ति क्षर है। तीनों की समष्टि अमृतात्मा है। इन तीनो में अव्यय की प्रधानता है, अतः हम इस प्रथमात्मसंस्था को अव्ययसंस्था भी कह सकते हैं।

मनोवाग्गर्भित प्राण का ही नाम ब्रह्म[2] है। इस प्राण का मनोभाग मनोमूर्त्ति प्राण आपः है, प्राणभाग प्राणमूर्त्ति वाक् है, वाक्भाग वाङ्मूर्ति अन्न-अन्नाद है। पांचों की समष्टि ब्रह्मात्मा है। इन तीनों में अक्षर ही प्रधान है, अतः हम इस द्वितीयात्मसंस्था को अक्षरसंस्था भी कह सकते हैं।

मनःप्राणगर्भिता वाक् का ही नाम शुक्र है। इस वाक् का मनोभाग मनोमयी वाक् है, प्राणभाग प्राणमय आपः है, एवं वाक्भाग वाङ्मय अग्नि है। तीनों की समष्टि शुक्रात्मा है। इन तीनों में क्षरतत्त्व की प्रधानता है, अतः हम इस तृतीयात्मसंस्था को क्षरसंस्था भी कह सकते हैं।

मनोऽवच्छेदेन अमृतात्मा ज्ञानतन्त्र का अध्यक्ष है। प्राणावच्छेदेन ब्रह्मसत्यात्मा क्रियातन्त्र का प्रभु है, एवं वागवच्छेदेन शुक्रात्मा अर्थतन्त्र का प्रभवप्रतिष्ठापरायण है। तीनों मिलकर एक आत्मा है। एक ही के ये तीन रूप हैं। निम्नलिखित परिलेख से उक्तसंस्था विभाग स्पष्ट होजाता है।

——:०:——
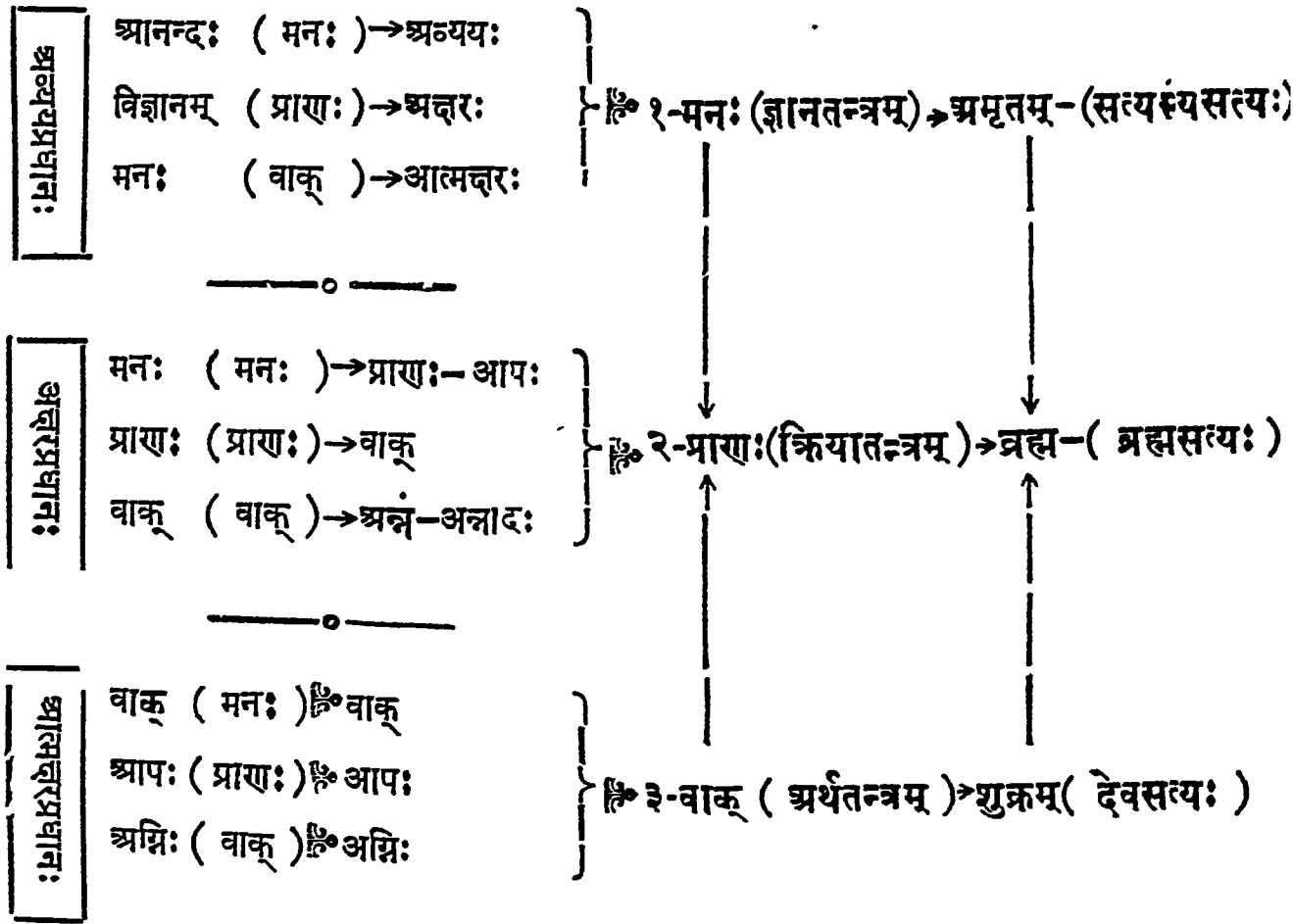
ये ही तीनों आत्मविवर्त्त अध्यात्मसंस्था के प्रत्यक्, शारीरक, शरीर इन तीन विवर्त्तों के मूलस्तम्भ हैं। शुक्रावच्छिन्न देवसत्यात्मा का निरूपक चतुर्वेदसंहितायुक्त ब्राह्मणभाग है। ब्रह्मावच्छिन्न ब्रह्मसत्यात्मा का निरूपक **आरण्यक** भाग है। एवं अमृतावच्छिन्न निगूढतम सत्यस्यसत्यात्मा का निरूपक **उपनिषत्** भाग है। इस प्रकार चार भागों में विभक्त एक ही वेदशास्त्र तन्त्र भेद से अश्वत्थपुरुष के तीन तन्त्रों का स्थूलारुन्धतीन्याय से निरूपण करता हुआ अपने वेदशास्त्रत्व को सिद्ध कर रहा है।

वेदसिद्ध उक्त तीनों आत्मतन्त्रों के उपबृंहण के लिए ही त्रितन्त्रदर्शनशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। वैशेपिकतन्त्र स्थूलदेवसत्यात्मात्मधर्म्मों का, प्राधानिकतन्त्र सूक्ष्मब्रह्म सत्यात्मधर्म्मों का, एवं

शारीरकतन्त्र निगूढ सत्यसत्यात्मधर्म्मों का निरूपण करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। जिस प्रकार अवान्तरतन्त्रों के रहने पर भी वेदशास्त्र एक है, एवं उसके अवान्तर तन्त्रों में कोई विरोध नहीं है। एवमेव अवान्तर तन्त्रों के रहने पर भी दर्शनशास्त्र एक है, एवं उसके अवान्तर तन्त्रों में कोई विरोध नहीं है।

१— १—सत्यस्यसत्यात्मा (अमृतम्) ☞ पुरुषः षोडशी
२—ब्रह्मसत्यात्मा (ब्रह्म) ☞ प्रकृतिः-अव्यक्तम्
३—देवसत्यात्मा (शुक्रम्) ☞ प्रकृतिविकृतिः-व्यक्तम्
— ☞ "अश्वत्थः"

—:—

२— १—संहितानुगतो ब्राह्मणभागः— ☞ शुक्रात्मनिरूपकः— ☞ अर्थतन्त्रं वाङ्मयं-क्षरप्रधानम्।
२—............ आरण्यकभागः— ☞ ब्रह्मात्मनिरूपकः — ☞ क्रियातन्त्रं प्राणमयं-अक्षरप्रधानम्।
३—............ उपनिषद्भागः ☞ अमृतात्मनिरूपकः- ☞ ज्ञानतन्त्रं मनोमयं-अव्ययप्रधानम्

—०—

३— १—वैशेषिकतन्त्रम्— ☞ शुक्रात्मनिरूपकम्- ☞ स्थूलशरीरपरकम्-वाङ्मयम्।
२—प्राधानिकतन्त्रम्- ☞ ब्रह्मात्मनिरूपकम्- ☞ सूक्ष्मशरीरपरकम्—प्राणमयम्।
३—शारीरकतन्त्रम्— ☞ अमृतात्मनिरूपकम् ☞ कारणशरीरपरकम्—मनोमयम्।

—:०:—

४— १—ब्राह्मणम्- ☞ तदनुगतं वैशेषिकतन्त्रम्
२—आरण्यकं: ☞ तदनुगतं प्राधानिकतन्त्रम्
३—उपनिषत् ☞ तदनुगतं शारीरकतन्त्रम्
— ☞ त्रीणि तन्त्राणि, एकं दर्शनशास्त्रम्।
(त्रीणि वेदतन्त्राणि-एकं वेदशास्त्रम्)।

—०—

अव्ययात्मा हमारा (जीवात्मा का) मुख्य लक्ष्य है। वस्तुतः यही शारीरक आत्मा है। इस शारीरक अव्यय का निरूपण करने वाले दो तन्त्र हैं। पहिला वेदान्ततन्त्र (व्याससूत्र) है, दूसरा गीतातन्त्र है। शारीरक (अव्यय) निरूपक उपनिषत् के तात्पर्य्यार्थ को स्फुट करने के लिए ब्रह्मसूत्र, एवं भगवद्गीता ये दो तन्त्र हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इस दार्शनिकदृष्टि से यद्यपि दोनों समानतन्त्र बनते हुए, दोनों मिलकर एक शारीरकशास्त्र है। परन्तु ब्रह्मसूत्र की प्रधानदृष्टि अक्षर पर है, किंवा अक्षरविधयात्मक अव्यय पर विश्राम करता है। एवं गीता की प्रधानदृष्टि अव्यय पर है। इस विज्ञानदृष्टि से गीता को शारीरकतन्त्र न कह कर हम स्वतन्त्र-शास्त्र ही कहेंगे, जैसा कि प्रकरणोपसंहार में स्पष्ट हो जायगा। अभी हमें सिंहावलोकनदृष्ट्या-ब्रह्मसूत्र सम्मत ब्रह्मपदार्थ की ही जिज्ञासा करनी है।

शारीरक तन्त्रनिरूपण में हमने यह बतलाया है कि–ब्रह्मसूत्र का ब्रह्मपदार्थ अव्यय-पुरुष है। परन्तु जब इस सम्बन्ध में हम प्रामाणिकता का अन्वेषण करने चलते हैं, तो हमारे सामने कई पूर्वपक्ष उपस्थित होते हैं। एवं उन पूर्वपक्षों के आघात से सहसा हमें रुकजाना पड़ता है। "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र का ब्रह्म शब्द अव्यय परक है" यह कहते ही वादी पूर्वपक्ष कर बैठता है कि–यह कथन सर्वथा असङ्गत है।

वादी का कहना है कि "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के अनन्तर क्रमशः "जन्माद्यस्य-यतः"–"शास्त्रयोनित्वात्"–"तत्तु समन्वयात्"–ये तीन सूत्र हमारे सामने और आते हैं। चारों सूत्र समानाधिकरण से सम्बन्ध रखते हैं। चारों से किसी एक ही वस्तुतत्त्व का स्वरूप बतलाया जारहा है। अतएव पाठ्यप्रणाली में चारों की समष्टि "सूत्रचतुष्टयी" नाम से प्रसिद्ध है। व्यासदेव इन चारों सूत्रों से ब्रह्म नाम का कोई तत्त्वविशेष बतलाना चाहते हैं। जिस ब्रह्म की सूत्रकार जिज्ञासा प्रकट कर रहे हैं, वह ब्रह्म कौन सा है? यह जिज्ञासा भी साथ साथ ही में प्रकट होरही है। ब्रह्मतत्त्व अव्ययब्रह्म, अक्षरब्रह्म, क्षरब्रह्म, भेद से तीन भागों में विभक्त है। तीनों में से प्रकृत सूत्र का ब्रह्म शब्द किसका संग्राहक है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। परन्तु यह प्रश्न उस समय गतार्थ बन जाता है, जब कि हमारी दृष्टि सूत्रोपात्त उप-

सर्गरहित ब्रह्म शब्द पर पहुँचती है। बिना किसी विशेषण के एकाकीरूप से प्रयुक्त ब्रह्मशब्द एकमात्र क्षरब्रह्म का ही वाचक बन सकता है। उदाहरण के लिए मुण्डकोपात्त "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इस वाक्य पर दृष्टि डालिए। इस वाक्य का ब्रह्मशब्द अनुपसर्ग (उपसर्गरहित) है। एवं इस अनुपसर्गब्रह्म के लिए "जायते" (उत्पन्न होता है) इस क्रिया का प्रयोग हुआ है। विकाररूप से उत्पन्न होना, उपादानत्वेन उत्पत्तिक्रम में समाविष्ट होना न अव्यय का काम है, न अक्षर का। उत्पत्ति एकमात्र क्षरब्रह्म का ही स्वरूपधर्म्म है। ऐसी दशा में—"एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रोपकारको भवति" इस न्याय के अनुसार "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" वाले अनुपसृष्ट ब्रह्म शब्द को (उपनिषन्निर्णयानुसार) क्षरब्रह्मपरक ही माना जासकता है।

अपि च—गीताशास्त्र स्वपरिभाषानुसार अव्यय को परब्रह्म कहता है, अक्षर को परमब्रह्म कहता है, एवं अक्षर से विकसित होने वाले आत्मक्षर को केवलब्रह्म शब्द से सम्बोधित करता है, जैसा कि—"परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः"—"अक्षरंब्रह्मपरमम्" "ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। तृतीय वाक्यमें ब्रह्म को अक्षर से समुद्भूत बतलाया है। एवं क्षर ही अक्षर से समुद्भूत माना गया है। उस क्षर के लिए जब गीता ने अनुपसृष्ट ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया है, तो श्रौती उपनिषत्वत् (मुण्डक) एवं स्मार्त्ती उपनिषत्वत् (गीतावत्) उक्त ब्रह्मसूत्र के अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द से भी क्षरब्रह्म का ही ग्रहण न्यायसङ्गत बनता है।

यह तो हुआ युक्तिवाद। अब यदि वस्तुस्थिति की दृष्टि से भी विचार किया जाता है तो हम इस ब्रह्म शब्द से क्षर का ही ग्रहण कर सकते हैं। "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र का ब्रह्म शब्द एकमात्र क्षरब्रह्म का ही वाचक है" अपने इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए अव्यवहितोत्तर काल में ही सूत्रकारने "जन्माद्यस्य यतः" यह कहा है। पहिले सूत्रकार ने—"ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए" यह कहा। एवं आगे जाकर "वह विजिज्ञास्य

ब्रह्म कौन है, उसका क्या लक्षण है" यह बतलाने के लिए– "जन्माद्यस्य यतः" यह कहा। "जिस तत्त्व से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, नाश होता है, वही विजिज्ञास्य ब्रह्म है" यही सूत्रार्थ है। जन्मादि शब्द जन्म–स्थिति–भङ्ग तीनों का उपलक्षण माना गया है (देखिए शां० भा० १।१।)।

जिस तत्त्व से यह सारा भौतिक प्रपञ्च संचरक्रम में उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिस तत्त्व के आधार पर भौतिक जगत् स्वस्वरूप से स्थित रहता है, एवं प्रतिसंचरदशा में जो तत्त्व इसका नाशक बनता है, दूसरे शब्दों में जो तत्त्व इस विश्व का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण है, वही ब्रह्म है, एवं वही विजिज्ञास्य है–(यतः अस्य जगतः--जन्मादिः– जन्म-स्थिति-भङ्गाः भवन्ति तद् ब्रह्म) यही तात्पर्य्य है।

सृष्टिविज्ञान के अनुसार परिणामी आत्मक्षर ही विश्व के जन्मादि का अन्यतमकारण है। कार्य्य का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण उपादानकारण ही माना गया है। घट का जन्म भी मिट्टीरूप उपादान से ही हुआ है, उत्पन्न घट की प्रतिष्ठा भी मिट्टी ही है, एवं अन्त में घटका विलयन भी मिट्टी में हीं होता है। ठीक यही बात यहां समझिए। आत्मक्षर ही विश्व का उपादान है, क्योंकि यही परिणामी है। अव्यय एवं अक्षर दोनों अपरिणामी हैं, नित्य है। तभी तो उन्हें अव्यय (न बिगड़नेवाला) अक्षर (क्षीण न होने वाला) नाम से व्यवहृत किया गया है। चूँकि अव्ययाक्षर सर्वथा अपरिणामी हैं, अतः इन से कथमपि वैकारिक विश्व के जन्मादि नहीं बन सकते। उधर ग्रन्थकार जब स्वयं–"जन्माद्यस्य यतः" कहते हैं, तो कहना पड़ता है कि शारीरक तन्त्र का ब्रह्म पदार्थ क्षरब्रह्म ही है।

जब कि "तस्मादेतद्ब्रह्म०" इस श्रौत प्रमाण से, गीताप्रतिपादित "ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" इस निदर्शन से, एवं स्वयं ग्रन्थकार के–'जन्माद्यस्य यतः" इस ब्रह्मलक्षण से सर्वात्मना अनुपसृष्ट ब्रह्म क्षरब्रह्म का ही वाचक बनता है, तो ऐसी दशा में इस शारीरकतन्त्र को अव्ययब्रह्म का प्रतिपादक कैसे माना जासकता है।

इस प्रकार शारीरकतन्त्र के ब्रह्म शब्द से गृहीत अव्ययात्मा पर वादी की ओर से उक्त पूर्वपक्ष उपस्थित होता है। विज्ञान दृष्टि से इस आक्षेप का कोई मूल्य नहीं है। अपितु सूत्रकार का ब्रह्मपदार्थ, एवं ब्रह्मलक्षण हमारे अव्यय सिद्धान्त को ही दृढ बना रहे हैं। हमने कहा है कि- एक ही अव्ययात्मा के अव्यय अक्षर क्षर ये तीन सोपाधिकरूप है। जहां प्राधानिक लोग अक्षर-क्षर को अव्यय से पृथक् मानने का अभिमान कर रहे थे, वहां शारीरक तीनों का अद्वैत सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों तीन ब्रह्म नहीं हैं, अपितु एक ब्रह्म है। वही क्षरभाग से जन्मादि का उपादान कारण बनता है, अक्षर भाग से जन्मादि का निमित्त कारण बनता है, एवं अव्ययरूप से जन्मादि का आलम्बन कारण बनता है। जिस प्रकार वैशेषिक केवल क्षर को, प्राधानिक अक्षर को कारण मानता हुआ पुरुष को सर्वथा तटस्थ मानकर भेदवाद की पुष्टि करना अपना परमपुरुषार्थ समझता है, भेदवाद के अन्यतम शत्रु व्यासदेव ने इस त्रित्ववाद का खण्डन कर तीनों को एक ही अद्वयब्रह्म मानने की घोषणा करते हुए अनुपसृष्ट ब्रह्म को ही जन्मादि का कारण बतलाया है। यदि क्षर जन्मादि का हेतु है, तो यह भी अव्यय ब्रह्म का ही अनुग्रह है। यदि अव्यक्त अक्षर मूलप्रकृति है, तो यह भी अव्ययसमन्वय का ही फल है। अपने इस अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिए ही व्यास ने अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द का प्रयोग किया है, एवं इसी लिए उसे जन्मादि का कारण बतलाया है।

यदि अभ्युपगमवाद से ब्रह्म को थोड़ी देर के लिए केवल क्षर का वाचक मान भी लिया जायगा तो-"तत्त समन्वयात्" का क्या अर्थ होगा। समन्वय प्रत्येक दशा में प्रकृतिपुरुष का ही होता है. जन्मादि की आलम्बनकारणता अव्ययदृष्टि से, निमित्तकारणता अक्षरदृष्टि से सिद्ध है। एवं उपादानकारणता क्षरसमन्वय से सिद्ध है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर व्यास को-"तत्तुसमन्वयात्" यह कहना पड़ा है। फलतः यह सिद्ध होजाता है कि शारीरक का ब्रह्मपदार्थ न क्षर है, न अक्षर है, न अव्यय है। अपितु जिस एक के यह तीन रूप हैं, एवं जो एक अपने तीन अभिन्न रूपों से जन्मादि का उपादान, निमित्त, एवं आलम्बन कारण बना हुआ

हैं, वह सच्चिदानन्द ही ब्रह्मपदार्थ है। चूँकि तीनों एक ही अव्यय के तीन विवर्त्त हैं, अतः इस अव्ययदृष्टि से हम अवश्य ही शारीरक को अव्ययप्रतिपादक कह सकते हैं। अव्यय ही सच्चिदानन्द है। इस से सब गृहीत हैं। यहीं आकर "एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति" यह श्रुति चरितार्थ होती है। यदि ब्रह्म से क्षर ही अभिप्रेत मानलिया जायगा, तो इससे अक्षरा व्ययरूपों का ग्रहण न होगा। न अक्षर से ही अव्यय का ग्रहण होगा। क्योंकि क्षराक्षर अव्यय के गर्भ में हैं। अव्यय अक्षर क्षर के गर्भ में नहीं है। यदि क्षर ही शारीरक का ब्रह्मपदार्थ होता, तो व्यास के मुख से कभी इस प्रतिपाद्य ब्रह्म के लिए- "आनन्दमयोऽभ्यासात्" ये अक्षर न निकलते। आनन्द ही अव्यय का प्रातिस्विकरूप है, जैसा कि पूर्व की अश्वत्थसंस्था में दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इन्हीं सब कारणों को लक्ष्य में रखते हुए हमनें शारीरक ब्रह्मपदार्थ को अव्ययपरक माना है।

अब इस सम्बन्ध में केवल एक आक्षेप बचजाता है। गीता, एवं मुण्डक ने अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द से केवल क्षर का ग्रहण किया है। अतः यहां भी समानतन्त्रभूत ब्रह्म को क्षरपरक ही मानना चाहिए। यही आक्षेप है। इस के सम्बन्ध में भी हमें यह कहना है कि-प्रकरण सङ्गति को लक्ष्य में न रखते हुए केवल एक हेला से अनुपसृष्ट यच्चयावत् ब्रह्मशब्दों को क्षरपरक मान लेना दुःसाहसमात्र है। अन्न-नामरूप भौतिक प्रपञ्च है। इस के साथ पड़ाहुआ अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द प्रकरण सङ्गति की दृष्टि से अवश्य ही क्षरपरक माना जासकता है। एवं इसीलिए श्रुति ने "जायते" कहने की भी आवश्यकता समझी है। अनुपसृष्ट ब्रह्म सच्चिदानन्द का वाचक है। वह यहां संगृहीत न होजाय, इस लिए श्रुति को "जायते" कहना पड़ा। इसी प्रकार-'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" इस वचन में अक्षरप्रकरण के साथ पढ़ेहुए ब्रह्म को यदि क्षर कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं है। स्वयं अनुपसृष्ट रहताहुआ भी ब्रह्म शब्द उक्त दोनों स्थलों में नाम- रूप-अन्न, एवं अक्षर प्रकरण से सम्बन्ध रखता हुआ सोपसृष्ट बनकर प्रकरण-दृष्टि से क्षरका वाचक बन रहा है। ऐसी दशा में विना किसी अक्षर किंवा क्षर प्रकरण के-विशुद्ध अनुपसृष्टरूप से पठित "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" के ब्रह्मशब्द को भी "एकत्रनि-

र्णीतः०" इस न्याय को आगे करते हुए क्षरपरक मानलेना दुःसाहस नहीं है, तो और क्या है।

जाने दीजिए इस विवाद को "ब्रह्मशब्द सर्वत्र क्षर का ही वाचक है" आप के इस सिद्धान्त को मानकर ही हम विचार करते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"-"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इन तीनों श्रुतिवचनों में ब्रह्मशब्द सर्वथा अनुपसृष्ट है। इस अनुपसृष्ट ब्रह्म को श्रुति सच्चिदानन्दघन एवं सर्वमूर्त्ति बतला रही है। उधर आपका क्षरब्रह्म न सच्चिदानन्द है, न सर्वमूर्त्ति है। अब यदि "सर्वत्र अनुपसृष्टब्रह्म से क्षरब्रह्म का ही ग्रहण करना चाहिए" इस नियम का आश्रय लिया जायगा तो प्रयत्नसहस्रों से भी आप उक्त श्रुतियों का समन्वय न कर सकेंगे। कहीं श्रुतिएं चरितार्थ न होगी। हमारी दृष्टि के अनुसार यदि ब्रह्म को अव्ययपरक मानलिया जाता है, तो सारी आपत्ति हटजाती है। अव्यय की आनन्दकला आनन्द है, विज्ञानकला चित् है, मनप्राणवाक् की समष्टि सत् है। तीनों का समुच्चितरूप ही सच्चिदानन्द है। यही उक्त तीनो रूपों से सर्वरूप बनरहा है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हमें इसी निश्चय पर पहुँचना पड़ता है की–प्रकरणविशेषों में पठित अक्षर–भूत सम्बन्धी अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द को छोड़कर विशुद्धरूप से पठित अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द केवल त्रिमूर्त्ति अव्ययप्रधान अद्वयब्रह्म का ही वाचक है। एवं इसी अभिप्राय से शारीरक ब्रह्मपदार्थ को भी अव्ययपरक मानना सुसङ्गत बन जाता है।

त्रिपुरुषमूर्त्ति, अव्ययप्रधान यह सच्चिदानन्द ब्रह्म महामाया एवं योगमाया भेद से परमात्मा–जीवात्मा इन दो औपाधिक भेदों में परिणत होजाता है, जोकि औपाधिक भेद सर्वथा कल्पित हैं। ये दोनों पृथक् पृथक् दो तत्त्व हैं, अथवा एक? दूसरे शब्दों में ईश्वर एवं जीव की भेदप्रतिपत्ति वास्तविक है, अथवा काल्पनिक? वास्तव में देखाजाय तो शारीरकतन्त्र इसी प्रश्न के समाधान के लिए प्रवृत्त हुआ है। शारीरकशास्त्र भेदाभेद की पूर्ण समालोचना करता हुआ, सर्वान्त में–"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इस श्रुतिसिद्ध अर्थ को प्रधान लक्ष्य बनाता हुआ अद्वैतसिद्धान्त की ही स्थापना करता है।

अब पाठकों को यह प्रश्न करने का अवसर मिल जायगा कि जब वैशेषिक ने क्षर का, प्राधानिक ने अक्षर का, एवं अव्ययनिरूपणद्वारा शारीरकने अद्वैत का निरूपण करदिया तो ब्रह्मजिज्ञासा के सम्बन्ध में बाकी क्या बचा। ऐसी दशा में गीताशास्त्र पिष्टपेषण बनता हुआ व्यर्थ बनजाता है।

ठीक है, गीताशास्त्र को थोड़ी देर के लिए हम व्यर्थ ही मानलेते हैं। परन्तु आप से प्रश्न हमारा यह है कि-जब क्षर-अक्षर मान लेने से ही सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का निर्वाह होजाता है तो ठाले बैठे एक स्वतन्त्र अव्ययपुरुष की कल्पना की ही क्या आवश्यकता रहजाती है? आप कहेंगे कि-अक्षर जड़ है, वह बिना अव्यय सहयोग के काम नहीं कर सकता, इसलिए अव्यय का मानना आवश्यक होजाता है। हम कहेंगे—जब मानने से ही जड़ चेतन व्यवहार सत्य बन जाता है, तो प्रकृति को ही चेतन क्यों न मानलिया जाय। कदाचित् कहो कि-ज्ञान क्रिया से पृथक्तत्व है। यदि प्रकृति को ज्ञानमयी मानलिया जायगा तो प्रकृति काम न कर सकेगी। कोई चिन्ता नहीं। प्रकृति का आधाभाग चेतन मान लीजिए, आधाभाग जड़ मान लीजिए। सब काम चल जायगा। इस प्रकार अव्ययात्मा की अपूर्वता, विलक्षणता, एवं आवश्यकता शारीरक द्वारा आप कभी सिद्ध न कर सकेंगे। यही इस दर्शन की अकृत्स्नता है, इसी अकृत्स्नता को कृत्स्न बनाने के लिए गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, जैसा कि दर्शनप्रकरण के आरम्भ में हीं बतलाया जाचुका है। इस प्रकार सब तन्त्र स्वस्थान में प्रतिष्ठित रहतेहुए सर्वथा समन्वित होरहे हैं।

प्रकारान्तर से तन्त्रों का समन्वय कीजिए। इस समन्वय में गीताशास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र न रहकर एक तन्त्र का ही अङ्ग रहेगा—जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। एक ही कोश के जैसे तीन काण्ड हैं, एक ही वेद के जैसे तीन पर्व हैं, एवमेव एक ही दर्शनशास्त्र के तीन तन्त्र हैं। प्रत्येकतन्त्र सूत्र, एवं कारिका भेद से दो भागों में विभक्त है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के तीन के स्थान में ६ पर्व होजाते हैं। सूत्र—कारिका दोनों मिलकर तन्त्रात्मक एक ग्रन्थ है। ऐसे तीन ग्रन्थ मिलकर एक आस्तिकदर्शनशास्त्र है।

वैशेषिकसूत्रग्रन्थ "औलूक्यसूत्र" नाम से, प्राधानिकसूत्रग्रन्थ "षडध्यायीसूत्र" नाम से, एवं वेदान्तसूत्रग्रन्थ "शारीरकसूत्र" नाम से व्यवहृत हुआ है। इन तीनो की कारिकाओं के निर्म्माता भिन्न भिन्न तीन आचार्य हैं। वैशेषिकसूत्रसन्दर्भ के निर्म्माता यद्यपि "कणाद" नाम से प्रसिद्ध है तथापि यह इन का यशोनाम है। इन का वास्तविक [जन्मनाम] नाम "उलूक" ही है। अतः इस जन्मनाम के सम्बन्ध से इस सूत्र सन्दर्भ को "औलूक्यसूत्र' कहाजाता है। महर्षि उलूकने ही सब से पहिले संसार के सामने कणवाद (परमाणुवाद) का स्वरूप रक्खा। इन्हीं के द्वारा परमाणुनित्यतासिद्धान्त प्रकट हुआ, अतएव ये तत्कालीन विद्वत्समाज में– "कणाद' नाम से प्रसिद्ध हुए। एवं इसी प्रसिद्धि से इनका यह दर्शनतन्त्र 'कणाददर्शन" नाम से प्रसिद्ध हुआ। "लव- लेश-- कण--णवः" इस शक्तिग्राहक कोशप्रमाण के अनुसार अणु (परमाणु)को कण भी कहाजाता है। इसी आधारपर-"कणं (परमाणुवाद) आदत्ते" इस निर्वचन के अनुसार ये स्वयभी कणाद (कण -परमाणु) के आविष्कर्त्ता) नाम से प्रसिद्ध होगए। यद्यपि कण - एवं अणु दोनों में अणु शब्द ही लोक में प्रसिद्ध है। इधर भषाप्रयोगविज्ञान-(साहित्य)-सिद्धान्त के अनुसार अप्रसिद्ध शब्द का प्रयोग करना अनुचित भी है। ऐसी दशा में उलूक को कणाद न कहकर "अणवाद" कहना चाहिए था, परन्तु इस नामोच्चारण में असुविधा होती थी. अतः उक्त साहित्यिक नियम की उपेक्षा कर मुखसुखार्थ इन्हें अण्वाद न कहकर कणाद ही कहागया।

कणाद से पहिले आत्मा से ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति मानी जाती थी। ब्रह्मैवेदं सर्वं का ही घन्टा घोष था। इस सिद्धान्त का एक प्रकार से खण्डन करके कणाद ने परमाणुवाद स्थापित किया। कणाद से पहिले के वेदादिशास्त्रों में स्पष्टरूप से यद्यपि परमाणुवाद का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि विकारद्वार---विश्वसृट् रूप से यत्र तत्र परमाणुवाद का रूपान्तर अवश्यही उपलब्ध होता है। अतएव इस तन्त्र की वैदिकता का अपलाप नहीं किया जासकता। अतएव वेदसम्मत यह तन्त्र आस्तिकतन्त्र कहलाया है।

कितने हीं विद्वानों का कहना है कि परमर्षि उलूक महादरिद्रावस्था में कालयापन करते थे। यहां तक कि-उन्हे पेट भर भोजन भी न मिलता था। अपनी उदरज्वाला शान्त करने के लिए यह जंगलों में भटक भटक कर जंगली पोधों मे से कणविशेष निकाला करते थे। यही इनका भोजन होता था। अतएव "कणानत्ति" इस व्युत्पत्ति से ये कणाद नाम से प्रसिद्ध हुए। परन्तु हमारे विचार से इस कल्पना में कोई भी सार नहीं है। जिसने अपने अद्भुत परमाणु आविष्कार से संसार को चकित करदिया था, वह अन्न के लिए भी इस तरह मारा मारा फिरता हो, यह बात उस समय के गुणग्राही सुसमृद्ध भारतराष्ट्र के लिए कदापि लागू नहीं होती। हां आज के युग में यदि कणाद होते, और उस समय इन के सम्बन्ध में यह कल्पना की जाती तो सम्भव था, वह कल्पना ठीक उतरती।

परमाणु ही पदार्थों में विशेषता उत्पन्न करता है। अतः परमाणु को विशेष भी कहा जासकता है। इसी सम्बन्ध से विशेष (परमाणु) का निरूपक यह तन्त्र वैशेषिक नाम से भी प्रसिद्ध हुआ है। औलूक्य, कणाद, वैशेषिक इत्यादि नामों से प्रसिद्ध यह स्थूलतन्त्र शारीरक, प्राधानिक, न्याय, मीमांसा, आदि ग्रन्थों से प्राचीन प्रतीत होता है। होना भी ऐसा ही चाहिए। क्योंकि स्थूल से ही सूक्ष्म पर दृष्टि जाती है। पौराणिक विकासवाद के अनुसार मनुष्य की बुद्धि क्रम-क्रम से ही स्थूल से सूक्ष्म पथ की ओर अग्रेसर होती है।

"न वयं षट पदार्थवादिनो वैशेषिकवत्" (सां.सू.) इस सूत्र से स्पष्ट ही सांख्यसूत्रापेक्षया औलूक्यसूत्र की प्राचीनता सिद्ध होती है। अपिच-"समानप्रकृतेर्द्वयोः"-"आद्यहेतुता तद्द्वारापारम्पर्य्येऽप्यणुवत्" -" रिच्छिन्नत्वान्नसर्वोपादनम्"- "न षट्पदार्थनियमस्तद्वोधान्मुक्तिः"--"नाणुनित्यता तत्कार्य्यत्वश्रुतेः" इत्यादि सांख्यसूत्रों से भी वैशेषिक की प्राचीनता ही सिद्ध होरही है।

इसी तरह-"महद्दीर्घवद्वाह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्"-इत्यादि शारीरक सूत्रविवेचन से वैशेषिक की शारीरकापेक्षया भी प्राचीनता ही सिद्ध होरही है। यही नहीं शारीरकसूत्र निर्म्माता स्वयं व्यासदेव ने अपने ऐतिह्यग्रन्थ में "उलूक" का स्मरण करते हुए इस के तन्त्र की प्राचीनता सूचित की है। जैसा कि महाभारतान्तर्गत भीष्मस्तवराज प्रकरण में लिखा है—

धौम्यो, विभांडो, माण्डव्यो .... ।
उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥

वक्तव्य उक्त निदर्शनों से यही है कि—वैशेषिकतन्त्र सांख्य (षडध्यायीसांख्य, न कि तत्त्वसमाससांख्य), शारीरकादि से प्राचीन है। इस सूत्र का कारिकाग्रन्थ दुर्भाग्य से आज विलुप्त है। जिस प्रकार सांख्यकारिका सांख्यतन्त्र का कारिका ग्रन्थ है, एवं गीताकारिका जिस प्रकार शारीरकतन्त्र का कारिका ग्रन्थ है, एवमेव वैशेषिकतन्त्र का भी एक स्वतन्त्र कारिकाग्रन्थ अवश्य ही रहा होगा। परन्तु आज वह अनुपलब्ध है। इस की अतिप्राचीनता ही इस की अनुपलब्धि में मुख्यकारण माना जासकता है।

दूसरा (प्राधानिक) सूत्रसन्दर्भ षडध्यायी नाम से प्रसिद्ध है। आज हमें जो सांख्यसूत्रग्रन्थ उपलब्ध होरहा है, उस में ६ अध्याय हैं। इन अध्यायों के सम्बन्ध से ही इसे षडध्यायी कहाजाता है। इस षडध्यायी सांख्य से अतिरिक्त एक "तत्त्वसमास" नाम का सांख्य और है। इसमें कुल २२ सूत्र हैं। इन दोनों के विभेद के लिए ही उपलब्ध सांख्य को षडध्यायी कहा गया है। यह सांख्य वैशेषिक से अर्वाचीन है। एवं तत्त्वसमास सांख्य वैशेषिक से भी प्राचीन सुना जाता है। षडध्यायी सांख्य के प्रणेता* अग्नि के अवतार मानेगए हैं, एवं तत्त्वसमास के रचयिता कपिल[A] विष्णु के अवतार मानेगए हैं। यही देवहूति के पुत्र हैं। इन्हों ने सर्व प्रथम अपने तत्त्व का माता देवहूति को ही उपदेश दिया था। गीता में इसी तत्त्वसमास का खण्डन है। देवयुग में हीं भगवान् नें सर्वप्रथम गीता का उपदेश दिया था। एवं उसी युग में भगवान् से भी

* सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। कपिश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥१॥
शुक्लकृष्णगतिर्देवो यो बिभर्ति हुताशनम्। अकल्मषः कल्मषाणां कर्त्ता क्रोधाश्रितस्तु सः॥२॥
कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम सांख्ययोगप्रवर्त्तकः॥ ३ ॥

A नारायणः कपिलमूर्त्तिरशेषदुःखहानायजीवनिवहस्य नमोऽस्तु तस्मै।

पहिले यह कपिलनिष्ठा प्रचलित होचुकी थी। इन दोनों में ईश्वरकृष्णप्रणीत जो कारिका-ग्रन्थ आज उपलब्ध होता है, वह षडध्यायी सूत्रसन्दर्भ से ही सम्बद्ध समझना चाहिए।

तीसरा (शारीरक) सूत्रसन्दर्भ सुप्रसिद्ध है। इस के रचयिता भगवान् व्यास हैं। गीता इसी का कारिकाग्रन्थ है। यद्यपि गीताश्लोकों के रचयिता भगवान् कृष्णद्वैपायन हीं हैं। परन्तु सिद्धान्त वासुदेवकृष्ण का है। कृष्णार्जुनसंवादप्रसंग में वासुदेवकृष्णोपदिष्ट जिस सिद्धान्त को व्यासने अपनी भाषा से सातसौ श्लोकों में लिपिबद्ध किया, वही गीताशास्त्र, किंवा शारीरक-कारिका ग्रन्थ है।

सम्यग्दर्शनत्व दर्शनशास्त्र का अवच्छेदक बतलाया गया है, एवं सम्यग्ज्ञानत्व विज्ञानशास्त्र का अवच्छेदक कहागया है। इस अवच्छेदक प्रकरण के उपसंहार में यह भी कहा गया है कि-वैशेषिक-प्राधानिक-शारीरक तीनों तन्त्र आत्मा का सम्यग्दर्शन कराते हुए दर्शन-शास्त्र हैं, एवं गीताशास्त्र आत्मा का सम्यग्ज्ञान कराता हुआ विज्ञानशास्त्र है। सम्यग्दर्शनलक्षण दर्शनशास्त्र में जो सम्यग्ज्ञानलक्षण विज्ञान की, एवं सम्यक्चारित्रयलक्षण विज्ञानुष्ठान के व्यावहारिक उपयोग की कमी रहगई थी, वह कमी इस विज्ञानशास्त्र [गीता] ने पूरी की है। अतः न गीता को दर्शनशास्त्र कहा जासकता, एवं न दर्शन के किसी तन्त्र में इसका अन्तर्भाव माना जासकता है। गीता एक स्वतन्त्र शास्त्र है, किसी शास्त्र का तन्त्र नहीं है।

इस सम्बन्ध में हमें पूर्वापर विरोध का सामना करना पड़ता है। जैसा कि पूर्व में हमनें कहा है, सांख्यकारिका जैसे षड्ध्यायीसूत्र [सांख्यतन्त्र] में अन्तर्भूत है, एवमेव गीता शारीरकसूत्र में अन्तर्भूत है। जैसे षड्ध्यायीसूत्र एवं कारिका दोनों मिलकर दर्शन-शास्त्र का प्रकृतिप्रतिपादक एक तन्त्र है, वैसे ही वेदान्तसूत्र एवं गीता दोनों मिलकर दर्शन-शास्त्र का ही पुरुषप्रतिपादक [अव्ययप्रतिपादक] एक तन्त्र है। इस प्रकार आरम्भ में जिस गीता को एक स्वतन्त्र विज्ञानशास्त्र कहा गया था, उसे आगे जाकर तन्त्र में अन्तर्भूत मानते हुए दर्शनशास्त्र का ही एक अङ्ग बतलाया जारहा है। दोनों बातें परस्पर में सर्वथा विरुद्ध है।

उक्त पूर्वापरविरोध निराकरण के सम्बन्ध में कहना हमें केवल यही है कि—दर्शन-शास्त्र सम्यग्दर्शनरूप से आत्मधर्म्मों का प्रतिपादन करता है। सम्यग्दर्शनयुक्त आत्म-धर्म्मत्व ही दर्शनशास्त्र का अवच्छेदक है। गीता सम्यग्दर्शनयुक्त अध्ययात्मधर्म्म का भी प्रतिपादन करती है, इस दृष्टि से हम गीता को समानविषयक [अध्ययविषयक] शारीरकतन्त्र में अन्तर्भूत मानते हुए अवश्य ही दर्शनशास्त्र, किंवा दर्शनतन्त्र कह सकते हैं। साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि गीता दर्शनमर्य्यादा की तरह केवल आत्मा का सम्यग्दर्शन कराके ही कृतकृत्य नहीं होजाती। अपितु यह सम्यग्दर्शन के साथ साथ आत्मा के विज्ञानलक्षण सम्यग्ज्ञान, एवं अनुष्ठानलक्षण सम्यक्चारित्र्य का भी निरूपण कर रही है। एवं विज्ञानशास्त्र का सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्ययुक्त आत्मधर्म्मत्व ही अवच्छेदक माना गया है। इस दृष्टि से गीता को विज्ञानशास्त्र भी कहा जासकता है। एवं इसी दृष्टि से गीता के सम्बन्ध में—"गीता न दर्शनतन्त्रान्तर से गतार्थ है, एवं न इसका किसी तन्त्र में अन्तर्भाव है, अपितु गीता एक स्वतन्त्र अपूर्व विलक्षण पूर्ण विज्ञानशास्त्र है" यह भी कहा जासकता है। गीता दर्शनशास्त्र, एवं विज्ञानशास्त्र दोनों के अवच्छेदकों से युक्त है। अतः गीता के सम्बन्ध में पूर्वापरविरोध रखनेवालीं दोनों हीं बातों का समन्वय हो सकता है।

हमारा विरोध तो केवल उन प्राचीन व्याख्याताओं के साथ है, जो प्रस्थानत्रयी के गर्व में पड़कर तीनों को एक हेलया समानविषयक मानने का अभिमान कररहे हैं। उपनिषत्, शारीरकसूत्रसन्दर्भ, एव गीता तीनों की समष्टि विद्वत्समाज में आजदिन प्रस्थानत्रयी नाम से प्रसिद्ध है। जिस किसी आचार्य को नवीन सम्प्रदाय चलाना होता है, उसे इस प्रस्थानत्रयी का आश्रय लेना आवश्यक होजाता है। सम्प्रदाएं अनेक हैं। उन सबनें मतपोषण के लिए अपनी अपनी सैद्धान्तिक दृष्टि से प्रस्थानत्रयी पर व्याख्याएं की हैं। इन सम्प्रदायों में एक ऐसा भी दल है, जो अद्वैतवाद के अभिनिवेश में पड़कर प्रस्थानत्रयी को एकमात्र निर्गुण, व्यापक परात्पर ब्रह्म का प्रतिपादक मान रहा है। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए ही उसने जगन्मिथ्यात्ववाद की घोषणा की है, जोकि आर्षसाहित्य (वेदशास्त्र) की दृष्टि से नितान्त अशुद्ध

है। निर्गुण परात्पर तो सर्वथा अविज्ञेय है। वहां जब शब्दशास्त्र की गति ही नहीं, तो फिर प्रस्थानत्रयी को उसका प्रतिपादक कैसे माना जासकता है। उसके सम्बन्ध में तो श्रुति का स्पष्ट आदेश है कि दर्शन क्या स्वयं वेद भी, वेद क्या सम्प्रदायप्रवर्त्तकब्रह्मादि भी उसे नहीं जान सकते। देखिए !

सं विदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद नवा विधिः ॥
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥१॥
न तं विदाथ य इमाजजान अन्यद्युष्माकमन्तरं वभूव ॥
नीहारेण प्रावृता जल्प्य चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥२॥

जिस सोपाधिक अव्यय का हमनेपूर्व में दिग्दर्शन कराया है, उस का तो उन अद्वैताभिमानी व्याख्याताओं को पता भी नहीं है। उन की दृष्टि में निर्गुण परात्पर, अव्यय, अक्षर, सब अभिन्नार्थक है। विज्ञानदृष्टि के अभाव से वे इन तत्त्वों के पृथक्करण में सर्वथा असमर्थ हैं। ऐसे व्याख्याता जब प्रस्थानत्रयी को समानविषयक मानते हुए इसे वेदान्तदर्शन की उपाधि से अलङ्कृत करने लगते हैं, तो उस समय हमें कहना पड़ता है कि- गीता दर्शनशास्त्र नहीं है, गीता केवल पिष्टपेषण हीं है।

यदि व्याख्याता महोदय तीनों कोअव्यय का प्रतिपादक समझते हुए गीता को दर्शनशास्त्र कहते, तो यथाकथंचित् उनका कथन प्रामाणिक बन सकता था। क्योंकि ऐसा दर्शनतत्व गीता में विद्यमान है। परन्तु जिन व्याख्याताओं की दृष्टि में—"अन्धेर नगरी अबूझ राजा, टक्के सेर भाजी टक्के सेर खाजा" इस आभाणक के अनुसार परात्पर-अव्यय—अक्षर सब एक भाव बिक रहे हैं, वे यदि गीता को निर्गुणब्रह्मपरक मानते हुए इसे दर्शन कहते हैं, तो हमें इन का घोर विरोध करना पड़ता है। एवं इसी विरोध प्रदर्शन के लिये आरम्भ में हमनें बडे अभिनिवेश के साथ गीता के समानतन्त्र का खण्डन किया है। अस्तु व्याख्याता कुछ भी कहते रहें। यह तो हमनें आरम्भ में हीं स्पष्ट कर दिया है कि किसी सम्प्रदायविशेष का अनुगमन न करते हुए विशुद्ध आर्षदृष्टि से ही हमें दर्शनशास्त्रसम्मत आत्मपरीक्षा करनी है। एवं इस दृष्टि से अवश्य ही गीता को शारीरकतन्त्र का कारिकाग्रन्थ माना जासकता है।

सूत्र एवं कारिका दोनों यद्यपि समानतन्त्र हैं, तथापि दोनों के विषयों में कुछ विशेषता है। उदाहरण के लिए पहिले प्राधानिक तन्त्र को ही लीजिए। सांख्यकारिका में प्रायः सांख्य के सभी मूलसिद्धान्तों का दिग्दर्शन है। और ऐसा होना भी चाहिए, जबकि दोनों समान-तन्त्र हैं। सांख्यसूत्र में कई आख्यायिकाएं हैं, वैशेषिकादि इतर तन्त्रों का खण्डन है। सांख्य का ४ अध्याय-"आख्यायिकाध्याय" नाम से ही प्रसिद्ध है। इस में–राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात्" "पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि"-"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इत्यादि रूप से आख्यायिका व्याज से तत्त्वप्रदर्शन हुआ है, जोकि पुराण की परमप्रिय शैली है। इसी प्रकार पांचवां अध्याय–"परपक्षनिर्जनाध्याय" नाम से प्रसिद्ध है। इस में परमत खण्डनपूर्वक स्वसिद्धान्त स्थापित हुआ है। परन्तु साख्यकारिका में इन दोनों हीं विषयों का अभाव है। न आख्यायिकाएं हैं, न परवाद का खण्डन है। सूत्र–कारिका में यही विशेषता है, जैसा कि निम्नलिखित कारिकावचन से स्पष्ट है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ॥
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ (सां० का० ७२)।

अब शारीरकसूत्र, एवं गीताकारिका की विशेषता देखिए। शारीरकसूत्र प्रत्यगात्मा एवं परमात्मा का अंशांशिभावेन अभेद बतलाने के लिए प्रवृत्त होता है, जैसा कि-"अंशो नानात्वात्" इत्यादि सूत्र से स्पष्ट है। षोडशीब्रह्म जीव-ईश्वर भेद से दो प्रकार का प्रतीत होता है। शारीरक के कथनानुसार जीव अंश है, ईश्वर अंशी है। जीव अवयव है, ईश्वर अवयवी है। अवयव अवयवी से अपृथक् है। शरीर अवयवी है। हाथ कान- नाक- मुख इत्यादि इस अवयवी शरीर के अवयव हैं। इन सम्पूर्ण अवयवों को अवयवी शरीर से पृथक् कर दीजिए, अवयवी का पता भी न लगेगा। दोनों कहने भरको दो हैं। वास्तव में दोनों अभिन्न हैं। भेदसहिष्णु अभेद है, तादात्म्य है। यद्यपि कान- नाक- चक्षु इन सब की समष्टि ही शरीर है, परन्तु एक एक पृथक् पृथक् शरीर तो नहीं है। यही दोनों का भेद है। अवयव परस्पर में भिन्न है, अवयवी अभिन्न है। अनन्त वृक्ष समष्टि को ही 'वन" कहा जाता है। परन्तु प्रत्येक वृक्ष तो वन नहीं है। इसी

आधार पर वेदोक्त भिन्न देवतावाद सुरक्षित है। अग्नि–इन्द्र––मित्र–वरुण सब उसीके अवयव हैं। सब वही (ईश्वर) हैं। परन्तु अग्नि इन्द्र नहीं है, इन्द्र अग्नि नहीं है। इसी आधार पर संस्कृत साहित्य में "गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्" यह न्याय प्रचलित है।

ईश्वरांशस्वरूप सम्पूर्ण जीवसमष्टि ईश्वर है। परन्तु प्रत्येक जीव ईश्वर नहीं माना जासकता। सम्पूर्ण रश्मिएं जहां मूल सूर्य्य मे अभिन्न हैं, वहां परस्पर में सब रश्मिएं भिन्न हैं। तरङ्गों की समष्टि सचमुच समुद्र है, पर तु तरग समुद्र नहीं है। वह और मैं (ईश्वर–जीव) एक हैं। दोनों का अभेद है। फिर भी हमें कहना पड़ता है कि–हम उस के हैं, वह हमारा (ही) नहीं हैं,अपितु सब का है। तरंगे अवश्य समुद्र की हैं। परन्तु समुद्र तरङ्गों का नहीं है। "नत्वहं तेषु ते यि" का भी यही रहस्य है। इसी रहस्य को अद्वैताचार्यों ने निम्नलिखित सूक्ति से व्यक्त किया है—

> यद्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं, न मामकीनस्त्वम्।
> सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

गीताशास्त्र शारीरकाभिमत उक्त अमेदवाद पर ही विश्रान्त नहीं होजाता। वह शारीरक (जीवात्मा) एवं प्रत्यगात्मा (परमात्मा) के स्वरूप का विशकलन करता हुआ पहिले तीनों के अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीन विवर्त्तों का स्वरूप हमारे सामने रखता है। सर्वान्त में अव्यय का वैज्ञानिक स्वरूप बतलाता हुआ, दोनों अव्ययों का अभेद बतलाता हुआ, अव्ययाक्षरात्मक्षर तीनों का अव्ययविभूतित्व सिद्ध करता हुआ, बुद्धियोग द्वारा शारीरकाव्यय को तदभिन्न प्रत्यगात्माव्यय प्राप्ति का व्यावहारिक उपयोग बतलाता हुआ अपना निरूपणीय विषय समाप्त करता है। शारीरकतन्त्रवत् अभेदवाद गीता का मुख्य लक्ष्य नहीं है, अपितु अव्ययस्वरूप प्रतिपादन, एवं तत्प्राप्त्युपाय भूत बुद्धियोगनिरूपण ही इसका प्रधान लक्ष्य है। इसी दृष्टि से शारीरक एवं तत्कारिकाभूत गीता समानतन्त्र बनते हुए भी पृथक्-पृथक् हैं।

पूर्व निरूपणानुसार क्षरतन्त्रवादी वैशेषिक, एवं अक्षरतन्त्रवादी प्राधानिक की अपेक्षा यद्यपि

शारीरक को अव्ययतन्त्रवादी कहा जासकता है। एवं इसी दृष्टि से अव्ययप्रतिपादक गीताशास्त्र को इस का कारिकाग्रन्थ मान भी लियागया है। तथापि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि–शारीरकतन्त्र की दृष्टि केवल अभेदवादप्रतिपादन को छोड़कर विशुद्ध अव्यय पर नहीं है। यह ठीक है कि–उस का विजिज्ञास्य ब्रह्मपदार्थ व्यापक है। यह भी ठीक है कि उस के –"आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादि सूत्रों के आधारपर आंशिक रूप से हमारा ध्यान आनन्दमूर्त्ति अव्यय की ओर आकर्षित होता है। परन्तु यह सब कुछ ठीक होने पर भी विशुद्ध अव्यय का स्पष्ट रूप से इस में प्रतिपादन नहीं मिलता। यही नहीं–"अक्षरधिया०" "तत्तुसमन्वयात्" इत्यादि सूत्रों को देखते हुए तो हमें यह भी कहने में संकोच नहीं होता कि–शारीरक ने प्रधानदृष्टि अक्षर पर ही रक्खी है। हां प्राधानिक जिस अक्षर को सर्वे–सर्वा मानते हैं, उसका अवश्य ही इसने विरोध किया है। पुरुष–प्रकृति के भेदवाद के निराकरण में अवश्य ही यह तन्त्र सर्वात्मना सफल हुआ है। परन्तु विशुद्ध अव्यय शास्त्र तो एक मात्र गीताशास्त्र ही है।

वैशेषिक जहां क्षर तक दौड़ लगा कर थक जाता है, सांख्य जहां अक्षर तक दौड़ लगा कर क्लान्त बन जाता है, शारीरक जहां अक्षरधिया अव्यय की प्रतिच्छाया दिखलाकर मौन धारण कर लेता है, वहां हमारा गीताशास्त्र विशुद्ध अव्यय का वैज्ञानिक निरूपण करने के लिए प्रवृत्त होता है। शारीरक की समालोचना करने की गीता ने कोई आवश्यकता नहीं समझी है। क्योंकि आंशिकरूप से शारीरक गीतासिद्धान्त का ही समर्थन कर रहा है। परन्तु प्राधानिक तन्त्र की इसनें पर्य्याप्त मीमांसा की है। प्राधानिक के सभी सिद्धान्त अनुपयुक्त सिद्ध कर दिए हों, यह बात तो नहीं है। जो सिद्धान्त अव्ययसिद्धान्त से विरोध न रखते थे, लोक संग्राहक भगवान् नें उन सब का स्वगीता में समावेश किया है। केवल विरोधी सिद्धान्तों का बहिष्कार किया है।

उदाहरण के लिए सांख्य के अव्यक्तवाद को ही लीजिए। सांख्य अव्यक्त [अक्षर प्रकृति] से सृष्टि की प्रवृत्ति मानता है। गीताने भी इस सिद्धान्त का "अव्यक्ताद्व्यक्तयः

सर्वाः प्रभवन्ति"–"अव्यक्तादीनि भूतानि" इत्यादिरूप से पूर्ण समर्थन किया है। दूसरे शब्दों में यह कहने में भी कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि–केवल सांख्य के दो सिद्धान्तों को छोड़कर इतर सब सिद्धान्तों का गीतानें समादर किया है।

सांख्य सिद्धान्तानुसार पुरुष [अव्यय] भोग्य जगत् का भोक्ता है। अक्षरनामक अव्यक्त तत्व भोग्यार्थ का जनक है। उपार्जन दूसरा [प्रकृति] कर रहा है, भोक्ता अन्य [पुरुष] वन रहा है। प्रथम तो भगवान् इसी सिद्धान्त के विरोधी हैं। प्रकृति कार्य की पूर्वावस्था है। अतः उपादान कारण को ही प्रकृति कहना न्यायसङ्गत है। कार्य की प्रथमावस्था से [प्रकृति से] विरुद्धा-वस्था जिस की हो वह विकृति है। प्रथमावस्था से विरुद्धावस्था कार्य के अतिरिक्त ओर नहीं हो सकती। अतः प्रकृति के कार्य को ही हम विकृति [विरुद्धकृति-विरुद्धकार्य] कहने के लिए तय्यार हैं। निष्कर्ष—प्रकृति उपादान कारण है, विकृति कार्य है। ऐसी दशा में सांख्यशास्त्र अक्षर को प्रकृति मानता हुआ उसे परिणामी मान रहा है। उसकी दृष्टि में अव्यक्त अक्षर ही परिणामी है। तभी तो उसे प्रकृति कहना संगत होता है। यह अक्षर उसकी दृष्टि में न पुरुष है, न प्रकृति। पुरुष आत्मा है, एवं वह क्षेत्रज्ञ है, चिन्मात्र है, निष्क्रिय है, जगत् सृष्टि से उदासीन है। इस प्रकार–"अक्षर को प्रकृति (उपादान कारण) मानना." "अव्यय का सृष्टि से कोई सम्बन्ध न मानना" दोनों सिद्धान्त भगवान् की दृष्टि में नगण्य है।

उक्त दोनों हीं सिद्धान्तों का गीता में अंशतः खण्डन हुआ है। अंशतः इस लिए कहा जाता है कि–गीता भी "अव्यक्त" से ही सृष्टि मानती है, उधर सांख्य भी अव्यक्त से ही सृष्टि मान रहा है। इस प्रकार अव्यक्तत्वेन दोनों अविरोधी हैं।

खण्डनीय अंश है-सृष्टि के उपादान भूत अव्यक्त को अक्षर समझना। इस सम्बन्ध में गीता का वक्तव्य यह है कि–अक्षर तो अक्षर (कभी न वदलने वाला) है, अपरिणामी है। वह कभी उपादान नहीं वन सकता। अतः यहां अव्यक्त से आत्मक्षर का ही ग्रहण करना चाहिए। जगत् की उत्पत्ति–स्थिति–भंग का उपादान कारण एकमात्र अव्यक्त आत्मक्षर ही वन सकता है। क्योंकि यही परिणामी है। इसी परिणाम भाव के कारण इसे "क्षर" कहा जाता है। अक्षर

कारण अवश्य है, परन्तु निमित्त कारण। इस निमित्तकारणता की दृष्टि से "कृतेः प्रागवस्था" निर्वचनानुसार इसे भी प्रकृति कहने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु इस प्रकृति को उपादान-कारणत्वेन प्रकृति कहना सर्वथा अशुद्ध है।

इस दृष्टि से सांख्यतन्त्रोक्त प्रकृतिवाद को अपराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध अव्यक्त क्षर परक ही समझना चाहिए। यद्यपि गीतासिद्धान्त के अनुसार अव्यय–अक्षर–क्षर तीनों हीं अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसा कि–"परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तो (अव्ययः) ऽव्यक्तात् (अक्षरात्)"–"अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुः"–"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। फिर भी सांख्य का अव्यक्त शब्द उपादानत्वेन प्रयुक्त हुआ है, एवं उपादान सिवाय अव्यक्त क्षर के और दूसरा है नहीं। अतः सांख्याभिमत अव्यक्त को अव्यक्त अक्षरपरक न मानकर अव्यक्त क्षरपरक ही मानना उचित होता है।

इस सम्बन्ध में सांख्यवादी (अक्षरवादी) की ओर से आक्षेप होता है कि–जब श्रुति स्पष्ट शब्दों में अक्षर को उपादान बतला रही है, तो श्रुति विरुद्ध गीतार्थ का कैसे अनुगमन किया जासकता है? श्रुति कहती है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥

इस के उत्तर में हमें यही कहना है कि–जब स्वयं अक्षर शब्द अपना अपरिणामीभाव घोषित कर रहा है, तो इसे कभी परिणामी नहीं माना जासकता। उधर परिणामीतत्त्व ही सृष्टि का उपादान बनता है। वह एकमात्र क्षर ही है। ऐसी दशा में "तथाऽऽक्षरात्" के स्थान में "तथा क्षरात्" यही पाठ समझना चाहिए। अवश्य ही किसी अक्षराभिमानी (सांख्य-मतानुयायी) संशोधक ने स्वमतपुष्टी के लिए विज्ञानसिद्ध "तथा क्षरात्" इस पाठ के स्थान में–"तथाऽऽक्षरात् यह पाठ बना दिया है। आपके "तथाऽऽक्षरात्" पाठ का थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से यदि हम आदर भी करलेते हैं, तो विज्ञानशास्त्र के पास उसका भी समाधान

है। अव्यय-गर्भित अक्षर-क्षर की समष्टि को विज्ञानशास्त्र ने प्रजापति कहा है। एवं इस प्रजापति का-"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" यह लक्षण किया है। प्रजापति का अर्द्धभाग अमृत है, यही अक्षर है। अर्द्धभाग मर्त्य है, यही क्षर है। दोनों की समष्टिरूप प्रजापति ही-"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च"- 'प्रजापतिरकामयत, स-तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्" इत्यादि श्रौतसिद्धान्तों के अनुसार सृष्टि का कारण बनता है। प्रजापति के अक्षर-क्षर इन दोनों रूपों में क्षरापेक्षया अक्षर व्यापक है। एवं "न त्वहं तेषु ते मयि" के अनुसार अक्षर के गर्भ में चूंकि क्षर प्रतिष्ठित है, अतः अक्षर से तो क्षर का ग्रहण हो सकता है, परन्तु क्षर से अक्षर का ग्रहण नहीं हो सकता। श्रुति को सृष्टि के मूलकारण का निरूपण करना था। सृष्टि का मूलकारण है प्रजापति। प्रजापति में अक्षर-क्षर दोनों हैं। इसके साथ ही श्रुति को प्रजापति के अमृतभागरूप अक्षर का भी प्राधान्य सूचित करना था। इसीलिए उसने-"तयाऽऽक्षरात्" यह कहना आवश्यक समझा। अक्षर से क्षर भी गृहीत है, अक्षर की प्रधानता भी प्रकट है। ऐसी दशा में उक्त आक्षेप का कोई मूल्य नहीं रहता।

अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह बच जाता है कि-क्षर को उपादान किस आधार पर माना गया? इसका समाधान भी विज्ञानशास्त्र से ही पूँछिए। गीताशास्त्र के अनुसार अव्यय के लिए "परब्रह्म" शब्द एवं अक्षर के "परमब्रह्म" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अब शेष क्षर बच जाता है। ऐसी दशा में जहां केवल ब्रह्मशब्द उपात्त है, वहां इस से पारिशेष्यात् क्षर का ही ग्रहण कर सकते हैं। अव्ययाक्षर प्रकरण से सम्बन्ध रखने वाला अनुपसृष्ट ब्रह्म शब्द एक मात्र क्षर का ही वाचक है, यह पूर्व में विस्तार से बतलाया ही जाचुका है। उधर-"ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" यह वचन स्पष्ट ही अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द को क्षर का वाचक बतला रहा है। क्योंकि अक्षर से जो ब्रह्म समुद्भूत है, वह एकमात्र क्षर ही है। "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" यह मुण्डक श्रुति भी ब्रह्म को क्षरपरक ही बतला रही है। ऐसी दशा में हम क्षर को ही विश्व का उपादान मान सकते हैं, एवं इसी को प्राधानिकों की प्रकृति कह सकते हैं।

प्रकृतिवाद का विचार समाप्त हुआ। अब सांख्यसम्मत पुरुष का विचार कीजिए।

इस सिद्धान्त का भी गीता नें आंशिक रूप से खण्डन किया है। जिस प्रकार सांख्य इस अव्यय पुरुष को सृष्टिप्रक्रिया में उदासीन बतलाता है, एवमेव स्वयं गीतानें भी-"उदासीनवदासी-नमसक्तं तेषु कर्म्मसु" शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते" इत्यादि रूप से अव्यय को उदासीन माना है। फिर भी गीता यह सहन करने के लिए तय्यार नहीं है कि-अव्यय का कोई प्रयोजन ही नहीं है। अव्यय न करता हुआ भी सब कुछ कर रहा है-"तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धय कर्त्तारमव्ययम्"। इसी लिए उसने-"उदासीनवत्" कहा है, सर्वथा उदासीन नहीं बतलाया है। आगे जाकर तो-"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय"-"अहं सर्वस्य प्रभवः"-"प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं वीजमव्ययम्" इत्यादिरूप से स्पष्ट ही अव्यय का सर्वेश्वरत्त्व सिद्ध किया है।

हां एक प्रश्न अब भी ऐसा बच जाता है, जिस का समाधान प्राधानिक तन्त्र के पास नहीं है। जो अपरिणामी है, असंग है, व्यापक है, आप्तकाम है, आत्मकाम है, नित्यतृप्त है, उदासीन है, वह कैसे सृष्टि का मूल बन गया? किस लिए उसे सृष्टि कामना हुई? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर न सोचने के कारण ही सांख्यनें अपनी कारणता का प्रकृति पर ही विश्राम मान लिया, जो कि कारणतावाद-"जाकी रही भावना जैसी प्रभुमूरत देखी जिन तैसी" के अनुसार ठीक है। इन्हीं प्रश्नों का सम्यक् समाधान करते हुए अव्यय की कारणता स्थापित करने के लिए ही गीताशास्त्र गीताप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

इति-परीक्षासमन्वयनिरुक्तिः

—८—

८-षड्दर्शनवाद का मौलिक रहस्य

॥ श्रीः ॥

८—षड्दर्शनवाद का मौलिक रहस्य

ब तक आत्मदर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में बड़े आटोप के साथ जो कुछ लिखा है, उसके सम्बन्ध में—"विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" यह लोकोक्ति भलीभांति चरितार्थ हो रही है। पाठकों को स्मरण होगा कि—दर्शन संख्याओं के सम्बन्ध में अनेक मतवाद उद्धृत करते हुए हमनें ६ दर्शनों पर विश्राम माना था। एवं वहीं वृद्धव्यवहार को आगे करते हुए ३ आस्तिक दर्शन, एवं ३ नास्तिक दर्शन, इस प्रकार सम्भूय ६ दर्शनों पर विश्राम किया था। साथ ही में दर्शन ६ ही कैसे होते हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिए "विज्ञानदृष्टि से दर्शनों का विचार करना चाहिये" यह प्रतिज्ञा की थी। परन्तु हम देखते हैं कि-दर्शन की इस पूर्वोक्त लम्बी चौड़ी निरुक्ति में अब तक उक्त प्रश्न का समाधान न हुआ। सारी रामायण बांच गए, परन्तु अबतक यह पता न लगा कि-राम किस का पुत्र है, एवं रावण किस का पुत्र है ?

अवश्य ही हम इस भूल के दोषी बन रहे हैं। परन्तु हम इस ऐच्छिक भूल के लिए विवश थे। व्याख्याताओं के अनुग्रह से वेदशास्त्रवत् दर्शनशास्त्र ऐसा कलुषित हो रहा है, कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। इसी कालुष्य से सर्वथा सुव्यवस्थित, एवं विरोधरहित भी दर्शनशास्त्र आज विरोध का उत्तेजक बन रहा है। इसी लिए सब से पहिले हमनें यही आवश्यक समझा कि—उस विरोध के निराकरण के लिए दर्शनतन्त्रों की विज्ञानदृष्टि से परीक्षा की जाय। तदर्थ ही हमें उक्त भूल का आश्रय लेना पड़ा।

हमारे इस अप्रासङ्गिक दर्शनप्रकरण से पाठकों को यह तो भलीभांति विदित होगया होगा कि जो दर्शनशास्त्र अस्तितत्व का निरूपण करता है, वही आस्तिकदर्शन कहला सकता है। यह अस्तिभाव अव्ययरूप मन, अक्षररूप प्राण, एवं आत्मक्षररूपा वाक् इन तीन विवर्तों

में विभक्त हो रहा है। तीन से अतिरिक्त चौथे अस्ति विवर्त्त का ऐकान्तिक अभाव है। इन तीनों के लिए क्रमशः शारीरक-प्राधानिक-वैशेषिक ये तीन तन्त्र पर्य्याप्त हैं। अतः हम कह सकते हैं कि-इस विज्ञानदृष्टि से आस्तिकदर्शन तीन हीं हो सकते हैं। पूर्वमीमांसा, योग, न्याय इन तीनों को दर्शन मानना नितान्त भ्रान्ति है। क्योंकि अस्तिमर्यादा उक्त शारीरकादि तीनों तन्त्रों में ही विश्रान्त है।

दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए। दर्शनशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है-जीवात्मा को विश्वात्मा का दर्शन कराना। यह विश्वात्मा आधिदैवत-अध्यात्म-आधिभूत इन तीन भागों में विभक्त है। विश्वात्मा के ये तीन हीं अधिकरण हैं। इन तीनो अधिकरणों का क्रमशः जब शारीरक-प्राधानिक-वैशेषिक इन तन्त्रोंनें निरूपण कर दिया तो बाकी क्या रहा। यह ठीक है कि मीमांसा-योग-न्याय ने भी इन्हीं तीनों पर प्रकाश डाला है। परन्तु हम दर्शनभक्तों को यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि ये तीनों ही अपना मुख्य लक्ष्य भिन्न रखते हैं। विश्वात्मदर्शनदृष्टि से तीनों एकदेशी ही शास्त्र हैं। अतः इन्हें कभी दर्शन नहीं माना जा सकता।

उदाहरण के लिए पूर्वमीमांसा को ही लीजिए। पूर्वमीमांसा शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है-कर्म्मविधायक वैदिक आदेशना वाक्यों की इतिकर्त्तव्यताओं का समन्वय करना। वेद में कर्म्मेतिकर्त्तव्यता के सम्वन्ध में 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" -"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"-" अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"--इत्यादि रूप से अनेक आदेशनावाक्य उद्धृत हुए हैं। इन सब कर्म्मसूचक वाक्यों का समन्वय कर वैदिक कर्म्मकाण्ड का एक सुव्यवस्थित स्वरूप हमारे सामने रखदेना ही इस कर्म्ममीमांसा का मुख्य उद्देश्य है। यदि इसका भी प्रधान उद्देश्य आत्मनिरूपण, किंवा आत्मदर्शन होता तो इसे कर्म्ममीमांसा नाम से कभी सम्बोधित न किया जाता।

इस सम्बन्ध में यदि कोई अभिनिविष्ट यह पूर्वपक्ष करे कि-"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"-'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" तदन्तरस्य सर्वस्य तदु स-

वेंस्य वाहतः" इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों के अनुसार अहंवाच्य विश्वात्मा अमृतलक्षण ज्ञान, एवं मृत्युलक्षण कर्म्म दोनों से युक्त है। उस का एक भाग ज्ञान है, एवं एक भाग कर्म्म है। ऐसी दशा में कर्म्म को कभी आत्मस्वरूप से वाहर नहीं निकाला जासकता। जब कर्म्म आत्मा का स्वरूप है, एवं मीमांसा जब इस कर्म्मरूप आत्मा का-स्वरूप दिखला रही है, तो हम अवश्य ही इसे आत्मदर्शनशास्त्र कह सकते हैं।

अवश्य ही ऐसा अभिनिवेश अज्ञानता का सूचक है। यदि बुद्धि पर थोड़ा भी जोर दिया जाता तो ऐसी भ्रान्तियों को अवसर न मिलता। उक्त दृष्टि से यदि आप मीमांसा को दर्शन मानने चले हैं, तो फिर एक सातवां शाण्डिल्य दर्शन और मानिए। कारण पूर्वमीमांसा ने जिस प्रकार कर्म्मसूचक वेदवचनों का (ब्राह्मण वचनों का) समन्वय किया है, एवमेव शाण्डिल्यसूत्रसन्दर्भ ने भक्तिसूचक वेदवचनों का (आरण्यक वचनों का) समन्वय किया है। भक्ति में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समावेश है। दोनों हीं आत्मा के स्वरूप हैं। फलतः भक्ति-प्रतिपादक शाण्डिल्य का भी एक स्वतन्त्र दर्शनशास्त्रत्व सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में "आस्तिक दर्शन ६ ही हैं" आप की इस प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं रहता।

हम इस सम्बन्ध में क्या समाधान रखते हैं, यह भी जान लीजिए। शारीरक जीवात्मा का नाम है। इस के कल्याण के **कर्म्म-उपासना-ज्ञान** ये तीन मार्ग हैं। इन तीनों के सम्यक् दर्शन के लिए इसे अपनी आयु की प्रारम्भिक पञ्चविंशति में गृहस्थधर्म्मों से अलग रह कर गुरुकुल में अध्ययन करना पड़ता है, यही इस शारीरकात्मा का पहिला **ब्रह्मचर्य्याश्रम** है। आगे जाकर दूसरी पञ्चविंशति में यह कर्म्म का अनुष्ठान करता है। यही दूसरा **गृहस्थाश्रम** है। तीसरी पञ्चविंशति में उपासना का अनुगामी वनता है, यही तीसरा **वानप्रस्थाश्रम** है। सवान्त में चौथी पञ्चविंशति में ज्ञान का आश्रय लेता हुआ संन्यस्तधर्म्म में दीक्षित हो ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्तकर अपनी आयु के १०० वर्षों को धन्य बना लेता है।

कर्म्म-उपासना-ज्ञान तीनों के प्रतिपादक क्रमशः **ब्राह्मण- आरण्यक-उपनिषद्** ये तीन तन्त्र हैं। तीनों मिलकर एक शास्त्र है। तीनों क्रमशः कर्म्म-भक्ति-ज्ञान द्वारा शारीरक आत्मा

का उपकार करते हैं, अतएव तीनों की समष्टि को हम एक शारीरकशास्त्र कहने के लिए तय्यार हैं। इन तीनों वेदभागों के समन्वय के लिए जैमिनि-शाण्डिल्य-व्यास ये तीन आचार्य हमारे सामने आते हैं। तीनों नें क्रमशः कर्म्म—प्रतिपादक ब्राह्मण वचनों का, भक्ति—प्रतिपादक आरण्यक वचनों का, एवं ज्ञान—प्रतिपादक उपनिषत् वचनों का क्रमशः १२-४-४. इन अध्यायों से समन्वय किया है। तीनों शारीरक आत्मा के कल्याण के लिए प्रवृत्त हुए हैं। तीनों एक ही वेदशास्त्र की मीमांसा करने वाले तीन तन्त्र हैं। अतः तीनों मिलकर एक मीमांसाशास्त्र है। इसीलिए व्याससूत्र उत्तरमीमांसा, एवं जैमिनीसूत्र पूर्वमीमांसा नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शाण्डिल्यसूत्र मध्यमीमांसा बनता हुआ भी स्वतन्त्र रूप से प्रसिद्ध नहीं हुआ, इस का भी एक गुप्त कारण है।

आरण्यकभाग उपासना का प्रतिपादक वतलाया गया है। यह निष्कामोपासना जिसे गीता बुद्धियोग कहती है) एक प्रकार का ज्ञानयोग ही है। यही बात वतलाने के लिए आचार्योंनें उपासनाप्रतिपादक आरण्यकभाग का ज्ञानप्रतिपादक उपनिषत्भाग में अन्तर्भाव मान लिया है, जैसा कि—"बृहदारण्यकोपनिषद" इत्यादि व्यवहारो से स्पष्ट है। चूँकि शाण्डिल्यसूत्र उपासना का प्रतिपादक है, अतः इस मध्यमीमांसा का ज्ञानप्रतिपादिका उत्तरमीमांसा (व्याससूत्र) में हीं आगे जाकर अन्तर्भाव होगया है, अतएव इसके स्वतन्त्र व्यवहार का अवसर नहीं आया है।

वक्तव्य यह है कि—तीनों मिलकर एक मीमांसाशास्त्र है। तीनों मिलकर एक शारीरकशास्त्र है। तीनों में मुख्य उत्तरमीमांसा है। इसका मुख्य विषय ज्ञानमूर्त्ति अव्ययात्मा है। अतएव इतर दोनों तन्त्र इसी में अन्तर्भूत होगए हैं। इस प्रकार शारीरक के गर्भ में शाण्डिल्य—जैमिनि दोनों प्रविष्ट होजाते हैं। शारीरक अङ्गी है, यह दोनों अङ्ग हैं, एक देशी हैं। अतएव इस विज्ञानदृष्टि में इन्हे स्वतन्त्रदर्शन, अथवा दर्शनतन्त्र नहीं माना जासकता। दूसरे शब्दों में शारीरक ग्रहण से तीनो गृहीत हैं।

आत्मदर्शन अव्यय—अक्षर—क्षर इन तीन भागों में विभक्त हैं। ज्ञानकाण्ड का निरूपण करते हुए व्यासने तो इन तीनों आत्मधर्म्मों में से अव्ययब्रह्म का निरूपण करते हुए

अपनी दर्शनतन्त्रता सिद्ध करदी है । परन्तु शाण्डिल्य एवं जैमिनि ने केवल मीमांसा ही पर विश्राम कर लिया है । "परानुरक्तिरीश्वरे" कहने वाले शाण्डिल्य ने भक्ति की मीमासा जहां पर्य्याप्त मात्रा में की, वहां इन्होंने प्राणतन्त्राध्यक्ष अक्षर का स्पर्श भी न किया । इसी प्रकार "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः" कहने वाले जैमिनि ने कर्म्म की मीमांसा जहां पूर्णरूप से की, वहा वाक्तन्त्राध्यक्ष क्षर का स्पर्श भी न किया । ऐसी दशा में ऐसे दो तन्त्रों की अपेक्षा और रह गई, जो अक्षर–क्षर का निरूपण कर दर्शन की दर्शनता पूर्ण बनावे । बस इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए हमारे सामने अक्षरप्रतिपादक प्राधानिकतन्त्र एवं आत्मक्षरप्रतिपादक वैशेषिक तन्त्र और उपस्थित हुए । इन दो तन्त्रो से युक्त बनकर अव्ययप्रतिपादक शारीरकतन्त्र दर्शनशास्त्र की पूर्णता का हेतु बनगया ।

चूंकि शाण्डिल्य-एवं मीमासा ने केवल भक्ति-कर्म्म की मीमांसा की, अक्षर क्षर का निरूपण नहीं किया, अतः इन दोनों का ज्ञानमीमांसक शारीरकसूत्र में अन्तर्भाव हो गया । इस दृष्टि से शारीरक-शाण्डिल्य-जैमिनि तीनों ही दर्शनमर्य्यादा से बहिर्भूत थे । परन्तु शारीरक ने ज्ञानमीमांसा के साथ साथ "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" कहते हुए अव्ययात्म धर्म्म का निरूपकत्व भी सिद्ध किया । अतः तीनों में से शारीरक आगे जाकर दर्शनतन्त्र बनगया । इस के साथ ही अक्षरप्रतिपादक प्राधानिक एवं क्षरप्रतिपादक वैशेषिक भी दर्शनमर्य्यादा में समाविष्ट हो गए । इस प्रकार अन्ततोगत्वा तीन हीं आस्तिक दर्शन, किंवा एक ही आस्तिक दर्शन के तीन तन्त्र रहगए । पूर्वमीमांसा के आत्मधर्म्मलक्षण कर्म्मनिरूपक रहते भी दर्शन क्यों नहीं कहा गया, क्यों नहीं कहा जासकता ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है ।

अब योगशास्त्र का विचार कीजिए । योगशास्त्र का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्ति के निरोध का उपाय बतलाना है, जैसा कि–"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" से स्पष्ट है । इसने भी शाण्डिल्य-जैमिनि की तरह किसी अव्ययात्मक्षराक्षर को अपना मुख्य उद्देश्य नहीं बनाया है । जीवात्मा कैसे चित्त को स्थिर कर सकता है ? धारणा-ध्यान-समाधि का एकत्र संयम कैसे हो सकता है ?

अणिमादि सिद्धिएं किन उपायों से प्राप्त हो सकती हैं ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में ही योग-शास्त्र गतार्थ है ।

अधिक से अधिक हम इस का उसी प्रकार पूर्वसांख्यप्रवचन में अन्तर्भाव मान सकते हैं जैसे कि मीमांसा का शारीरक में अन्तर्भाव मानलिया गया है । पूर्व के सांख्यतन्त्र प्रकरण में तत्वसमाससांख्य-षडध्यायीसांख्य नाम के दो सांख्यतन्त्र बतलाए गए हैं । पूर्व (इधर का—अर्वाचीन) का षडध्यायी सांख्य—"ईश्वरासिद्धेः" के अनुसार अनीश्वरसांख्य है। उत्तर का (उधर का प्राचीन) तत्त्वसमास सांख्य सेश्वरसांख्य है । दोनों में से योगशास्त्र षडध्यायी सांख्य का ही अङ्ग है । सांख्य ने सांख्यलक्षण जिस कैवल्यज्ञान का सम्यग्दर्शन कराया है, योग उसी का सम्यक् चारित्र्य बताता है । कैवल्यज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है, योगशास्त्र इसी का समाधान करता है । योग-और सांख्य दोनों पूर्व-उत्तर-मीमांसावत् समानतन्त्र हैं । अतएव शारीरकदर्शन ने जहां सांख्यतन्त्र का खण्डन किया है, वहां—"एतेन योगः प्रत्युक्तः" कहते हुए योग का भी खण्डन किया है । जब कि इस में आत्मधर्मों को मुख्य उद्देश्य नहीं मानागया, साथ ही में जब कि यह सांख्यतन्त्र का ही एक अङ्ग है तो इसे कैसे एक स्वतन्त्र दर्शनतन्त्र माना जा सकता है ।

अब शेष रहता है-न्यायशास्त्र । इस का तो किसी में अन्तर्भाव भी नहीं बनता है । यदि अन्तर्भाव है तो सब में है । इस का मुख्य उद्देश्य कथाप्रसङ्ग है । न्यायशास्त्र में अपनी मूलभूमि का में प्रमाण-प्रमेयादि जिन १६ पदार्थों का उल्लेख किया है, उन सब का आत्मपरीक्षा से प्रधान सम्बन्ध नहीं है । इतर विषयों की तरह आत्मा भी अङ्गभूत बना हुआ है । यद्यपि गौतमने प्रमेयगणना में आत्मा-शरीर इन्द्रियार्थ आदि १२ भावों का निरूपण करते हुए दर्शनतन्त्रों की तरह आत्मविचार को भी स्थान दिया है । परन्तु उन सब का उपन्यास विचारकथा (वादी प्रतिवादी में होने वाले शास्त्रार्थ) के सम्बन्ध से ही हुआ है । अतः आत्मचर्चा कभी इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं माना जासकता ।

जिन १६ पदार्थों को गौतमने निःश्रेयसभावप्राप्ति का कारण बतलाया है, उन में **संशय-तर्क-वाद-जल्प-वितण्डा-जातिनिग्रह-हेत्वाभास** इन का भी समावेश है। क्या आत्मज्ञान में वाद-जल्प वितण्डावादादि की भी आवश्यकता पड़ती है ? जो वितण्डावाद जल्प आदि-"**ननुध्यायान् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्**" "**हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्**"-'**त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की**'-"**तर्काप्रतिष्ठानात्**"-इत्यादि रूप से आत्मज्ञान के प्रतिबन्धक माने गए हैं,उन का प्रतिपादन करने वाले इस कथाशास्त्र को क्या आत्मदर्शनशास्त्र कहना विचार सम्मत है ?

आत्मा-ईश्वर-परलोक आदि पर जिन नास्तिकों ने आक्षेप किए हैं, तर्कजालद्वारा इन की सत्ता में व्याघात डाला है, उन नास्तिकों के युक्तिवाद को युक्तिवाद से परास्त करने के लिए ही इस तर्कशास्त्र का जन्म हुआ है। शास्त्रार्थ का विजय ही इस शास्त्र का निःश्रेयसाधिगम है। प्रतिवादी को परास्त करदेना हीं इस का मुख्य लक्ष्य है। दर्शन-तर्क दोनों शब्दों में यही भेद है। यदि न्यायशास्त्र भी शारीरकादि की तरह दर्शन होता तो कभी इसे 'तर्कशास्त्र' न कहा जाता । पश्चिमी विद्वान् भी दोनों को पृथक् पृथक् शास्त्र मान रहे हैं । दर्शनशास्त्र वहां फिलॉसफी (PHILOSOPHY) नामसे प्रसिद्ध है, एवं यह तर्कशास्त्र लॉजिक (LOGIO) नाम से प्रसिद्ध है । हमारी बुद्धि को ऐसा प्रबल बना देना कि (जिस से विधर्म्मियों के, नास्तिकों के तर्कजाल का हम पर कुछ असर न होसके, बस न्यायशास्त्र इसी में कृतकृत्य है।

वस्तुतस्तु इसे कथाशास्त्र न कह कर न्यायशास्त्र ही कहना अधिक समीचीन होगा । यद्यपि मनु-याज्ञवल्क्य-मिताक्षरा आदि हम हिन्दुओं का न्यायशास्त्र (लॉ) मानागया है, परन्तु इन में न्याय का प्रदर्शनमात्र है। यह न्याय की उपपत्ति (मौलिक रहस्य) नहीं बतलाते । यह काम इस गौतमसूत्रसन्दर्भनें पूरा किया है। यह शास्त्र न्याय का उपपत्ति ग्रन्थहै। इसी लिए इसे न्यायशास्त्र कहा भी गया है। इस शास्त्र का पहिला ही सूत्र अपने इस उद्देश्य को प्रकट कर रहा है। प्रमाण को सुबूत कहा जाता है। जिस के लिए सुबूत दिया जाता है, वह प्रमेय है। ईशु संशय कहलाया है। वजह प्रयोजन है। नजीर दृष्टान्त है । इन प्रमाण-प्रमेय-संशय

प्रयोजन-दृष्टान्त पांच विषयों के समन्वय के अनन्तर सिद्धान्त (राय) पर पहुंचा जाता है। यहां तक तो वर्त्तमान लॉ भी न्यायशास्त्र का अनुगामी है।

परन्तु उसे अवयवतत्व का पता नहीं है। निर्णय (फैसले) के सम्बन्ध में पञ्चावयववाक्यसिद्धि का या तो पता नहीं है, अथवा स्वार्थियों नें इसे अपनें स्वार्थ का महाप्रतिबंधक समझकर इस का निष्काशन कर दिया है। इस पञ्चावयवसिद्धि से सत्य मिथ्या का दूध--पानी की तरह निर्णय हो जाता है। अस्तु इन सब विषयों के निरूपण का प्रकृत में अवसर नहीं है। इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि जो महानुभाव न्यायशास्त्र जैसे न्याय (कानून) ग्रन्थ को भी दर्शन (आत्म) शास्त्र मान रहे हैं, वे भारतवर्ष के जगद्गुरुत्व के अन्यतम शत्रु हैं। ऐसे उपयोगी शास्त्र को, जिस के आधार पर न्यायविभाग में हम सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अधिकारी माने जा सकते हैं, आत्मचर्चा का ग्रन्थ मान कर सचमुच इन मन्दबुद्धियों ने हमारा वैभव छीनलिया है।

पूर्व निरूपण से अब यह सन्देह अणुमात्र भी शेष नहीं रह जाता कि—दर्शनतन्त्र शारीरक—प्राधानिक—वैशेषिक ये तीन हीं हो सकते हैं। इसी आधार पर हमनें आस्तिकदर्शनों की तीनं हीं संख्याएं प्रधान मानी हैं। यदि व्याख्याताओं के अनुसार आत्मा की गौणरूप से चर्चा करने वाले, अतएव आत्मदृष्ट्या एकदेशी मीमांसा—योग—न्याय भीं दर्शन हैं तो फिर व्याकरण—निरुक्त—साहित्य—ज्यौतिष आदि ने क्या अपराध किया है। व्याकरणशास्त्र शब्दद्वारा ब्रह्म का ही तो प्रतिपादन करता है। सुप्रसिद्ध वैय्याकरण भर्तृहरिने तो—

"इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्माराजपद्धतिः॥
अत्रातीतविपर्य्यासः केवलामनुपश्यति॥"

इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में इस शब्दशास्त्र ज्ञान को मुक्ति का साधक माना है। महाभाष्यकार स्वयं पतञ्जलि भी इस सिद्धान्त का समर्थन कर रहे हैं--(देखिए म० भा० १।१)।

स्वयं वेद भगवान् भी–"शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति" कहते हुए शब्द-ब्रह्मज्ञान को परब्रह्मप्राप्ति का कारण बतला रहे हैं। इसी प्रकार निरुक्तसाहित्यादि नें भी आनुषङ्गिक रूप से आत्मचर्चा को अपना लक्ष्य बनाया है। यही नहीं--काव्य-नाटक–कथा गल्प–नृत्य–सङ्गीत–वाद्य–धनुर्वेद–आयुर्वेद आदि आदि जितनें भी ग्रन्थ आपको भारतवर्ष में उपलब्ध होंगे, सब में आंशिक रूप से उन सब में आप आत्मप्रतिच्छाया का साक्षात्कार करेंगे। आस्तिकदेश की शब्दरचनामात्र अस्तिब्रह्म के गन्ध से आक्रान्त मिलेगी। परन्तु एतावता ही कौन बुद्धिमान् एक हेलया सब को दर्शनशास्त्र कहने का दुस्साहस करेगा। यदि एकदेशी मीमांसा योगादि दर्शन हैं तो एकदेशी सभी ग्रन्थ दर्शन क्यों न माने जांय। फिर तो दर्शन ६ ही नहीं असंख्य मानिए। असंख्य क्या, सर्वत्र दर्शन का ही साम्राज्य समझिए। सचमुच इस दर्शनमूला भक्तिने ही कर्म्मठ भारतवर्ष के गौरव का सर्वनाश कर डाला है।

यह तो हुई आस्तिकदर्शन चर्चा। अब संक्षेप से नास्तिकदर्शनत्रयी की भी गाथा सुन लीजिए। नास्तिकदर्शन आज दिन चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, आर्हत भेद से ६ भागो में विभक्त माना जारहा है। इन ६ ओं में माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक ये चारों दर्शन एक ही बौद्धदर्शन के अवान्तर चार पर्व हैं। इन चारों की समष्टि को लौकायतिक कहा जाता है। यही एक मुख्य दर्शन है। शिष्यभेदसम्बन्धी चार पर्वों का कोई महत्त्व नहीं है। चारों अवान्तर पर्वो के मूलआचार्य स्वयं गोतमबुद्ध एक हैं। अतः यह एक ही दर्शन माना जायगा। आर्हतदर्शन (जैनदर्शन) स्याद्वाद नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार ६ के चार्वाक, लौकायतिक, स्याद्वाद भेद से तीन हीं नास्तिक दर्शन रह जाते हैं।

विज्ञानदृष्टि से ऐसा ही होना भी चाहिए। आस्तिकदर्शन प्रकरण में जिस अस्तितत्त्व का उल्लेख किया गया है, उसके रस–बल की प्रधानता से दो रूप होजाते हैं। रसात्मिका सत्ता का नाम आत्मा है, एवं बलात्मिका सत्ता ही विश्वनाम से प्रसिद्ध है। विश्व का आत्मा भी सत्तारूप है, परन्तु इसमें रस की प्रधानता है। स्वयं विश्व भी सत्तात्मक है, सत्ताश्रित है। परन्तु

इस में अर्थशक्तिरूप बल की प्रधानता है, जैसा कि नास्तिकदर्शनसम्मत सत्ता के—"अर्थक्रियाकारित्वं सत्" इस सत्तालक्षण से स्पष्ट है।

आत्मसत्ता मनःप्राणवाङ्मयी है, विश्वसत्ता रूपकर्म्मनाममयी है। नामरूपकर्म्म की स-ष्टि वैकारिक विश्व है। इस विश्व के गर्भ में मनःप्राणवाङ्मय सत्तालक्षण ब्रह्म (आत्मा) प्रतिष्ठित है। आत्मा उसी का अमृतरूप है, अस्तिरूप है। विश्व उसी का मर्त्यरूप है, नास्तिरूप है। अस्ति सत् है, नास्ति असत है। 'सदसच्चाहमर्जुन" इस गीतासिद्धान्त के अनुसार वही अहं (आत्मा) पदार्थ सत (आत्मा—अस्ति) है, वही अहं पदार्थ असत् (विश्व—नास्ति) है। सत् आत्मा के अनुग्रह से ही असत् विश्व सत् बनता हुआ सत्य बन रहा है, जैसा कि—"नामरूपे सत्यम्" इस वाजसनेय श्रुति से स्पष्ट है। विश्व "सत्य" है, विश्वात्मा इस विश्व सत्य का सत्य बनता हुआ "सत्यस्य सत्यम्" है।

आत्मसत्ता के निगूढ मनोभाग से रूप का विकास हुआ है। यही स्याद्वाददर्शन का मुख्य लक्ष्य है। रूप ही दर्शन का विषय बनता है। दर्शन से ही ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान से ही चारित्र्य का सम्बन्ध है। अपने रूपसम्बन्धी इसी दर्शन--ज्ञान--चारित्र्य लक्ष्य को प्रकट करते हुए स्याद्वाददर्शन ने—"सम्यकदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" यह कहा है। आस्तिकदर्शनों में जो स्थान निगूढ मनस्तत्वप्रतिपादक शारीरक तन्त्र का है, नास्तिक दर्शनों में वही स्थान रूपतत्वप्रतिपादक स्याद्वाददर्शन का है।

आत्मसत्ता के सूक्ष्म प्राणभाग से कर्म्म का विकास हुआ है यही लौकायतिक बौद्धदर्शन का मुख्य विषय है। कर्म्म क्रिया का ही रूपान्तर है। क्रिया नास्ति अस्ति-नास्ति इन तीन लक्षणों से युक्त बनती हुई नास्तिसारा है। क्षणिक-शून्य-स्वलक्षण दुःख चारों विशुद्ध क्रिया के ही धर्म्म हैं। विना ज्ञानाश्रय के, अज्ञान समन्वित कर्म्म, किंवा क्रिया अवश्य ही उक्त चारों धर्म्मों की जननी बनती है। कर्म्मतन्त्रवादी बौद्ध विश्व को इसी दृष्टि से देखते हैं। जैसा कि उन के—"क्षणिकं क्षणिकं (अतएव) शून्यं शून्य (अतएव) दुःखं दुःखं (अतएव) स्वलक्षणं स्वलक्षणम्" इस सिद्धान्त से स्पष्ट है। आस्तिक दर्शनों में जो स्थान सूक्ष्मप्राण-

तत्व प्रतिपादक प्राधानिक तन्त्र का है । वही नास्तिक दर्शनों में कर्मतत्व प्रतिपादक इस लौकायतिक दर्शन का है ।

आत्मसत्ता के स्थूल वाक्भाग से स्थूलतम नाम प्रपञ्च का विकास हुआ है । यही चार्वाकदर्शन का मुख्य लक्ष्य है । यह तमोगुण का आत्यन्तिक विकास है । इस धरातल पर पहुंचने के वाद जब सूक्ष्म जगत् भी अन्तर्लीन हो जाता है, तो आत्मा की कथा ही क्या है, जैसा कि दर्शनप्रकरण के आरम्भ में चार्वाक मतप्रदर्शक श्लोको द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है । आस्तिकदर्शनों में जो स्थान स्थूलवाक्तत्त्व प्रतिपादक वैशेषिक तन्त्र का है, नास्तिक दर्शनों में नामतत्वानुयायी इस चार्वाकदर्शन का भी वही स्थान है ।

इस प्रकार तीन तन्त्र क्रमशः मनःप्राणवाङ्मय आत्मा का सम्यग्दर्शन कराते हुए आस्तिक नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं, एवं तीन तन्त्र क्रमशः रूप-कर्म्म-नाममय विश्व का दिग्दर्शन करा रहे हैं । आत्मदृष्टि से जितनी उपादेयता आस्तिकदर्शन की है, विश्वदृष्टि से नास्तिक दर्शनों की उपादेयता इस से भी कहीं अधिक है । क्योंकि स्थूल से ही मानवीय मन सूक्ष्म की ओर अग्रेसर होता है । जो आस्तिक भ्रमवश, अथवा अभिनिवेशवश नास्तिकदर्शन का आदर नहीं करता, वह स्वप्न में भी अस्तितत्व के मौलिक रहस्य को नहीं पहिचान सकता । इसी प्रकार जो नास्तिक आस्तिक दर्शन का अनुगमन नहीं करता, वह कभी शाश्वत आनन्द का अधिकारी नहीं बनसकता । इसलिए दर्शनभक्तों को हम साग्रह निवेदन करेंगे कि वे उस वेदान्त पुरुष (अव्यय) की प्राप्ति के लिए परस्पर का विरोध छोड़कर ६ ओं दर्शनतन्त्रों का क्रमशः अनुगमन करते हुए ही आगे बढने का प्रयास करें । दर्शनशास्त्र के द्वारा आप को पूर्णपुरुष के ही तो दर्शन अभीष्ट हैं । विश्वास कीजिए जब तक आप ६ दृष्टियों से मन[1]-प्राण[2]-वाक्[3]-रूप[4]-कर्म्म[5]-नाम[6] प्रतिपादक शारीरक[1]-प्राधानिक[2]-वैशेषिक[3]-स्याद्वादिक[4] लौकायतिक[5] चार्वाक[6] दृष्टियों से) उसे न देखेंगे, तब तक सर्वात्मना उसके दर्शन न हो सकेंगे । पदार्थविज्ञान भी इसी दृष्टिषट्क का अनुमोदन कर रहा है । आप किसी भी जड़-चेतन पदार्थ को अपनी दृष्टि

के सामने रखिए। जब तक नीचे-ऊपर-उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम- इन ६ दिशाओं से आप उसे न देखलेंगे, तब तक उसका पूरा स्वरूप आप न देख सकेंगे। प्रत्येक वस्तु के पूर्ण दर्शन के लिए षड्दिक् भेद से आप को ६ चित्र उतारने पड़ेंगे। दार्शनिक दृष्टि से जिस आत्मप्रजापति की आरम्भ में प्रतिज्ञा की गई थी, उसी दार्शनिक पुरुष के अनुग्रह से वह प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। अब क्रमप्राप्त विज्ञानानुगत आत्मपरीक्षाप्रकरण विज्ञानभक्तों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। बस भारतीय षड्दर्शन का यही मौलिक रहस्य है।
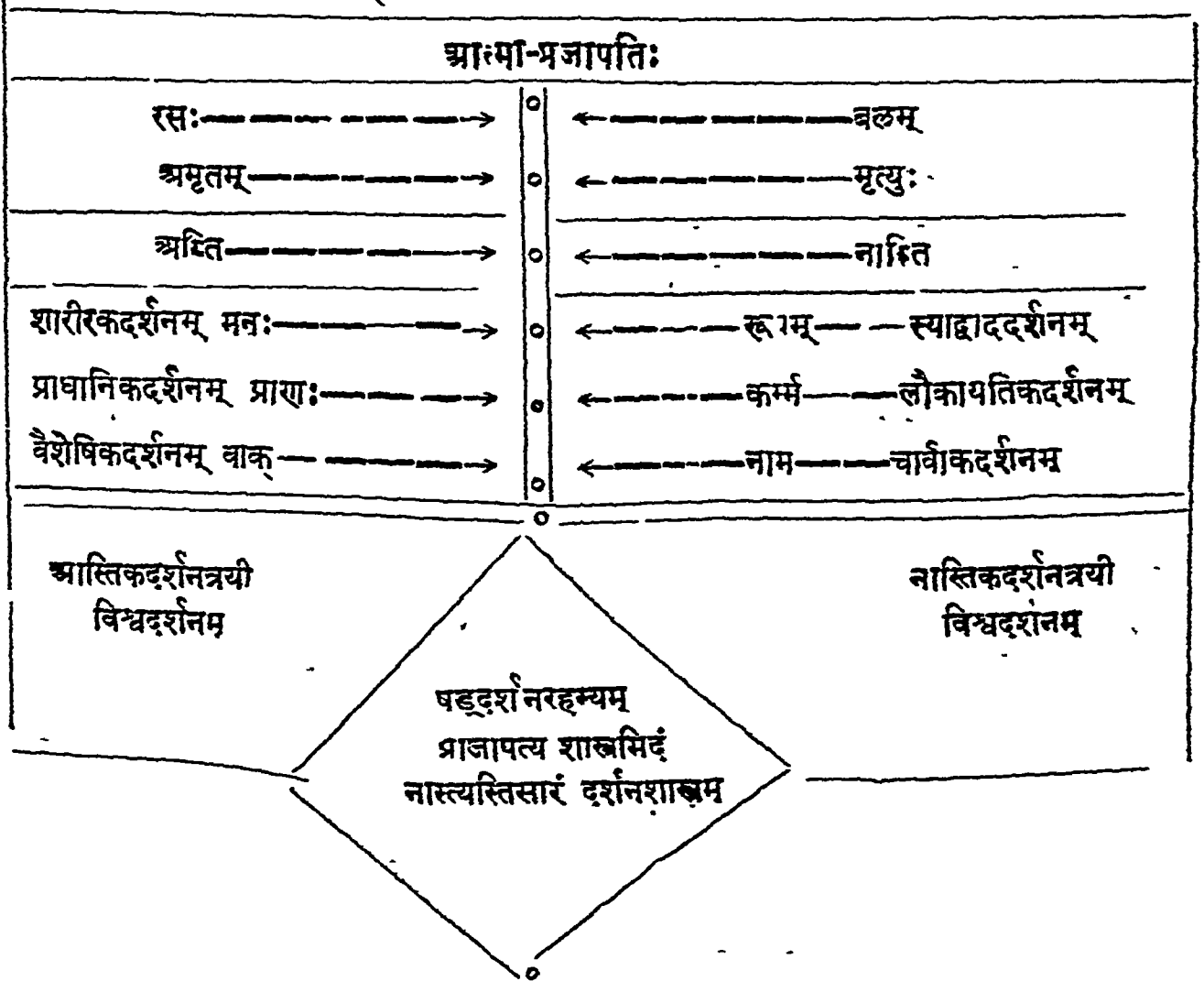
इति-षड्दर्शन मौलिक रहस्यनिरुक्तिः

इति-आत्मनः-दर्शनपरीक्षा समाप्ता

आत्मपरीक्षायां—

वैज्ञानिक-आत्मपरीक्षा

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

क—विषयप्रवेश

॥ श्रीः ॥

क-विषय प्रवेश

विषयोपक्रम प्रकरण में यह बतलाया गया था कि–आत्मा एक ऐसा जटिल पदार्थ है कि, इस के स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में हमें अनेक विप्रतिपत्तियों का सामना करना पड़ता है। फिर भी हम आत्मा के यथार्थ स्वरूपज्ञान से अधिकांश में वञ्चित ही रहते हैं। वेदशास्त्र के उपनिषत्[1] भाग को आत्म प्रतिपादक तन्त्र माना गया है। आत्मस्वरूपनिर्णय के सम्बन्ध में उपनिषत्तन्त्र सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्व ज्येष्ठ है। परन्तु एक ही आत्मा के सम्बन्ध में सर्वथा विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादन करने वाले औपनिषद वचन जब हमारे सामने आते हैं, तो हमारी आशा निराशा में परिणत हो जाती है।

दूसरा आत्मप्रतिपादक शास्त्र दर्शन शास्त्र[2] है। आस्तिक दर्शन के तीनों तन्त्र भी एक प्रकार से आत्मविषयिणी जिज्ञासा को पूर्णरूप से शान्त करने में असमर्थ ही हैं। वहां यद्यपि क्रमशः एक ही आत्मा के क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा इन तीन विवर्तों का सुव्यवस्थित निरूपण हुआ है, परन्तु एतावता भी आत्मस्वरूप के मूल भाव पर हम नहीं पहुंचने पाते। कौन आत्मा भोक्ता है? कौन साक्षी है? कौन तटस्थ है? कौन इन्द्रियों का संचालक है? कौन बुद्धि का प्रेरक है? कौन पितृप्राण की प्रतिष्ठा है? कौन प्रेतभाव को प्राप्त होता है? कौन मृतशरीर में प्रतिष्ठित रहता है? किस के लिए पिण्डदान का विधान है? किस के लिए धर्म्मानुष्ठान किया जाता है? कौन अभ्युदय प्रत्यवाय का भागी होता है? इस प्रकार अनेक प्रश्न (दर्शनशास्त्र प्रतिपादित त्रितन्त्र आत्मा के स्वरूप ज्ञान के अनन्तर भी) ज्यों के त्यों सुरक्षित रह जाते हैं।

इन सब विप्रतिपत्तियों को दूर करने के लिए ही तीसरा आत्मप्रतिपादक शास्त्र हमारे सामने उपस्थित होता है। वही शास्त्र आप का सुपरिचित गीताशास्त्र[3] ही है। गीता में आत्मा का कोई नवीन स्वरूप हमारे सामने रक्खा हो, यह बात तो नहीं है। उपनिषत् ने बड़े विस्तार के साथ इस आत्मप्रपञ्च का निरूपण किया है, जिस के कि सम्यक् अवबोध के अनन्तर आत्म

विषयक कोई प्रश्न बाकी नहीं रह जाता । परन्तु उपनिषत् की भाषा ऐसी रहस्य पूर्ण है, जिसे यथावत् हृदयङ्गम करलेना साधारण काम नहीं है । उपनिषत् का वह विस्तार हम सामान्य अधिकारियों के लिए सर्वथा संकोच की वस्तु बन रही है । इसी संकोच भाव को हटाने के लिए, दूसरे शब्दों में उपनिषत् प्रतिपाद्य आत्मविषय के स्पष्टीकरण के लिए दर्शनशास्त्र हमारे सामने आया था । परन्तु कहना न होगा कि, वह भी अपनी स्वाभाविक "सम्यगदर्शन" मूला दर्शन परिभाषा के अनुसार केवल तटस्थ रूप से आत्मा का सम्यकदर्शन कराके ही कृतकृत्य बन गया। इस प्रकार अभी तक आत्मज्ञान विषयक सम्यक्ज्ञान (विशेषज्ञानलक्षण विज्ञान), एवं सम्यक् चारित्र्य (विज्ञानानुष्ठान) ये दो पर्व ज्यों के त्यों हमारी जिज्ञासा के विषय बने रह गए ।

बस आत्मज्ञान सम्बन्धी उक्त दोनों पर्वों के वितान के लिए ही गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है । दर्शन ने जो काम (सम्यक्ज्ञान-सम्यक्चारित्र्यप्रतिपादन) नहीं किया था वही काम गीता ने किया है । यही नहीं, दर्शन ने जो काम किया था, उस का भी इस में पूर्ण समावेश है । इसने आत्मा के सम्यक्दर्शनज्ञान चारित्र्यलक्षण तीनों पर्वों का बड़े विस्तार के साथ निरूपण करते हुए इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपनी अपूर्वता, विलक्षणता, एवं पूर्णता सिद्ध करदी है, जैसा कि भूमिका प्रथमखण्ड के उक्त प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है ।

दर्शनशास्त्र आत्मप्रतिपादक उपनिषच्छास्त्र के उतना समीप नहीं पहुंच सका, जितना कि समीप गीताशास्त्र पहुंचा है । यही कारण है कि, पद्यस्थानीय संकुचित औपनिषद तत्त्व का प्रतिपादक गेय स्थानीय यह विस्तृतशास्त्र—"गीता" नाम से प्रसिद्ध हुआ । अतएव वेद का अन्तभाग न होते हुए भी यह शास्त्र—"भगवद्गीतोपनिषत्" इत्यादि रूप से उपनिषत् शब्द से सम्बोधित हुआ, जैसा कि नाममीमांसा प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

जब कि स्वयं गीताशास्त्र आत्मविषयिणी सम्पूर्ण जिज्ञासाएं पूरी कर रहा है, दूसरे शब्दों में जब स्वयं गीता उपनिषत् प्रतिपाद्य आत्मविषय के स्पष्टीकरण के लिए पर्य्याप्त है, तो फिर इस स्वतन्त्र आत्मपरीक्षा की क्या आवश्यकता ? सम्यग्दर्शन मूला आत्मपरीक्षा दर्शनशास्त्र एवं उस

पर लिखे गए भाष्य, टीका आदि से गतार्थ है। सम्यक्ज्ञान--चारित्र्य मूला आत्मपरीक्षा गीता शास्त्र, एवं उस पर लिखे गए असंख्य भाष्य एवं टीकाओं से गतार्थ है। फिर यह पिष्टपेषण क्यों।

उत्तर दर्शनप्रकरण के आरम्भ में ही दिया जा चुका है। व्याख्याताओं नें जो सब से बड़ा पुरुषार्थ किया है, वह यह है कि-उन्हों नें पहिले अपनी बुद्धि से दर्शन, एवं गीता का एक सिद्धान्त स्थिर कर लिया है। उस अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त को मुख्य बना कर ही उन्होंनें न केवल दर्शन एवं गीता का ही, अपितु वेदशास्त्र का भी उसी दृष्टि से समन्वय करने का प्रयास किया है। यह ठीक है कि, साम्प्रदायिकों के प्रातिस्विक सिद्धान्तों का समर्थन करने वाले वचन वेद, दर्शन, गीता तीनों में हीं उपलब्ध होते हैं। परन्तु कुछ वचनों को मुख्य, कुछ को गौण मान लेना केवल दुराग्रह है।

उदाहरण के लिए शाङ्कर भाष्य को ही लीजिए। भगवान् शंकर नें उपनिषत्, वेदान्तसूत्र, एवं गीता तीनों पर विस्तृत भाष्य लिखे हैं। परन्तु ? स्पष्ट है। पहिले उन्होंनें अद्वयनिर्विशेषमूलक अद्वैतसिद्धान्त स्थापित कर लिया है। इस के आधार पर प्रस्थानत्रयी के समन्वय की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में द्वैत प्रतिपादक जितनें भी वचन हैं, वे सब गौण- माने गए हैं। साथही में तीनो को समानविषयक माना गया है।

इसी प्रकार भगवान् रामानुज अपने विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से प्रस्थानत्रयी को विशि- ष्टाद्वैत का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण नें शुद्धाद्वैव को ही मुख्य माना है। आचार्य श्रीनिम्बार्क-माध्वादिने द्वैत-द्वैताद्वैत की मीमांसा को प्रधान स्थान दिया है। इस प्रकार निर्विशेषाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत भेद से प्रस्थानत्रयी ५ रूप से हमारे सामने उपस्थित होती है।

शाङ्करो की दृष्टि से गीता विशुद्ध ज्ञानयोग का ग्रन्थ है। रामानुज-वल्लभ-माध्व-नि- म्बार्कादि वैष्णवाचार्यों की दृष्टि से गीता विशुद्ध भक्तिग्रन्थ है। एवं कुछ एक मनचले राष्ट्रप्रे- मियों की दृष्टि में गीता विशुद्ध कर्म्मयोग ग्रन्थ है। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी आज-"नैको मुनि-

यस्य वचः प्रमाणम्" की आश्रय भूमि बनती हुई सन्देह निवृत्ति के स्थान में अधिक सन्देह का कारण बन रही है। व्याख्याताओं के साम्प्रदायिक अभिनिवेश से आज उपनिषत्-दर्शन गीता तीनों हीं आत्मविषयिणी जिज्ञासा पूरी करने में असमर्थ बन रहे हैं। यही कारण है कि, जो गीता आत्मा के सम्बन्ध में सर्वथा व्यवस्थित सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रही है, वह आज गतानुगतिको लोकः को चरितार्थ करती हुई दर्शनमर्य्यादा से आक्रान्त बन कर अपने अपूर्व प्रतिपाद्य विषय से सर्वथा वञ्चित हो रही है। गीताप्रतिपाद्य वह निर्भ्रान्त आत्मविषय स्वयं गीता शास्त्र क्यों स्पष्ट नहीं कर सकता? इस प्रश्न की यही संक्षिप्त मीमांसा है। एवं इसी मीमांसा के परिशोधन के लिए हमें यह स्वतन्त्र आत्मप्रकरण लिखना पड़ा है। इस सम्बन्ध में पहिले दर्शन प्रतिपादित आत्मस्वरूप विजिज्ञास्य था, अतः क्रमप्राप्त पहिले पूर्व के दर्शनात्मपरीक्षा प्रकरण में उसी का दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा गया। अब विज्ञान दृष्टि से आत्मस्वरूप कि संक्षिप्त मीमांसा की जाती है।

आत्मस्वरूप का मूलाधार वेदशास्त्र है, अतः उसी को आधार मान कर गीता प्रतिपादित आत्मा के वास्तविक स्वरूप पर पहुँचना विशेष सुविधाजनक होगा। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि, वेदशास्त्र ने आत्मा का सम्यग्दर्शन रूप से जो निरूपण किया है, उसका स्पष्टीकरण जहां दर्शनशास्त्र ने किया है, वहां वेद प्रतिपादित सम्यक्ज्ञान-एवं चारित्र्यमूलक आत्मस्वरूप का गान (विस्तार) गीताशास्त्रने किया है। इस विस्तृत स्मार्त्त उपनिषत् (गीता) के आत्मा का मूल संकुचित उपनिषच्छास्त्र ही है। उपनिषत् स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है। एवं न गीताने केवल औपनिषद आत्मा का ही निरूपण किया है। अपितु संहितायुत वेद के ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् इन तीनों में जिस सोपाधिक आत्मा का निरूपण हुआ है, गीताने उसी का निरूपण करते हुए अपनी "किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः" इस प्रतिज्ञा को पूर्ण किया है।

फलांश में संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् भेद भिन्न तन्त्रचतुष्टयी रूप वेदशास्त्र प्रतिपादित आत्मा का वैज्ञानिक स्वरूप ही गीता में प्रतिपादित हुआ है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि गीतात्मस्वरूप परिचय के लिए किसी भी सम्प्रदायाभिनिवेश

में न पड़कर वेदवचनों का मीमांसा की दृष्टि से जैसा अर्थ होना चाहिए, उसके अनुसार पहिले वेदशास्त्रसम्मत आत्मा का वैज्ञानिक स्वरूप आत्मप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया जाय, अनन्तर इस वेदोक्त आत्मस्वरूप के साथ गीताप्रतिपादित आत्मस्वरूप के साथ समन्वय किया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए यह वैज्ञानिक आत्मपरीक्षा प्रकरण आरम्भ होता है।

इति-विषयप्रवेशः

ख—निर्गुणात्मनिरुक्तिः

* श्रीः *

ख—निर्गुणात्मनिरुक्तिः

त्मतत्व के चरम धरातल पर पहुँचे हुए विदित–वेदितव्य, अधिगत याथातथ्य उन वेदमहर्षियों से जब आत्मस्वरूप की जिज्ञासा की जाती है, तो सब से पहिले वे हमारे सामने (उन का परमप्रिय) "न" अक्षर उपस्थित करते हैं। जिस नकार के हम जन्मकाल से ही उपासक हैं, वही जब हमारी जिज्ञासा शान्त करने के लिए जब हमारे सामने उपस्थित होता है, तो सहसा हमें चकित रह जाना पड़ता है। इसी लिए एक मनचले पश्चिमी विद्वान्‌ने तो आत्मप्रतिपादक भारतीय शास्त्र के सम्बन्ध में अपनी यह सम्मति देते हुए भी संकोच का अनुभव न किया है कि,—" जो आत्मशास्त्र घोर परिश्रम के अनन्तर भी पुरस्काररूप में जन्मकाल से ही समझे समझाए नकार को (नेति नेति को) हमारे सामने उपस्थित करते हैं, भला कौन बुद्धिमान् इस व्यर्थ के श्रम में अपने अमूल्य समय का अपव्यय करेगा"।

युक्ति बड़ी अच्छी है, प्रत्यक्ष में सत्य भी। सचमुच आत्मसम्बन्ध में—" नेति नेतीति होवाच"—" यस्यामतं तस्य मतम्"—" विज्ञातमविजानताम्" इत्यादि औपनिषद वचन नकार को ही हमारे आगे रख रहे हैं। परन्तु उन युक्तिवादियों को यह नहीं भुला देना चाहिए कि, जन्मसिद्ध नकार, एवं आत्मसम्बन्धी नकार, दोनो के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर है। उस आत्मनकार को समझने के लिए अवश्य ही घोर श्रम करना पड़ेगा। फिर आप यह अनुभव करेंगे कि, जो जन्मसिद्ध नकार आपको घोर नास्तिक बनाए हुए था, वही परिश्रम द्वारा प्राप्त वह आत्मलक्षण नकार आप को परम आस्तिक बनाता हुआ शान्तिसाम्राज्य में प्रतिष्ठित किए हुए है।

आप का समझा हुआ नकार अस्तिलक्षण आत्मा का प्रतिद्वन्द्वी है। उधर यह आत्मनकार आत्मसत्ता का अनुगामी है। अनुगामी क्या है, आत्मरूप ही है। आपने नकार की

उपासना कर रक्खी है, परन्तु अस्तिमिश्रित की। अस्ति भी किस की ? नामरूपकर्ममय भौतिक पदार्थों की। आपने भौतिक पदर्थों को "अस्ति" समझ रक्खा है, इन के अभाव को नकार समझ रक्खा है। बस आप को अपने इसी विश्वास पर प्रतिष्ठित रखती हुई श्रुति थोड़ासा संशोधन कर देना चाहती है।

जिन भौतिक पदार्थों पर आपने अस्ति को प्रतिष्ठित कर रक्खा है, वहां से अस्ति को उठाकर उसे नकार पर प्रतिष्ठित कर दिया है, एवं नकार को आपके समझे हुए भौतिक विश्व-पर प्रतिष्ठित कर दिया है। थोड़ासा ही तो हेर-फेर है।

भौतिक विश्व में जो अस्ति है, आत्मा है वह सोपाधिक है। यहां विश्व का स्वरूप प्रधान बना हुआ है। भौतिक विश्व के अतिरिक्त जो आत्मा का विशुद्ध निरुपाधिक रूप बच जाता है, जिसे कि आप "न" समझ रहे हैं, वही यथार्थ तत्त्व है। श्रुति ऐसे ही नकार को आत्मा कह रही है। आप का अभ्यास भूत भाग पर, और उस के अभाव पर (प्रतिद्वन्द्वी सोपाधिक अस्ति नास्ति भाव पर) प्रतिष्ठित है। अब यदि उसे अस्तिरूप से आपके सामने रक्खा जाता है, तो आप उस पर विश्वास नहीं कर सकते। कारण, वह शुद्ध अस्ति इन्द्रियातीत होगी, एवं आप इन्द्रियगम्य के अतिरिक्त अन्य को अस्ति कहने के अभ्यासी नहीं है। ऐसी दशा में श्रुति के लिए एकमात्र यही मार्ग बच जाता है कि, वह आप को आप के समझे हुए नकार रूप से ही आत्मा का वह निरुपाधिक रूप बतलावे।

और फिर श्रुति का यह निर्द्वन्द्व नकार भी तो तात्विक दृष्टि से शून्य नहीं है। विशुद्ध सत्ता, एवं विशुद्ध अभाव दोनों एक तत्त्व हैं। भाव भावना है, क्रिया है, बल है। इस भावात्मक विश्व का अभाव भी तो वही आत्मतत्त्व है। भौतिक पदार्थ इस लिए भाव कहलाते हैं कि, इन में वह भावस्वरूपिणी, अतएव अभावशब्दवाच्या सत्ता प्रतिष्ठित रहती है। यह अभाव ही भाव का स्वरूप समर्पक है। पट की सत्ता का कारण यच्चयावत् पदार्थों का अभाव ही बनता है। पट इस लिए पट है कि, वह घट-मठ-वृक्षादि नहीं है। उस महासत्तात्मक, अतएव महा

अभावात्मक आत्मा के उदर में उसी प्रकार भावात्मक पदार्थ यत्र तत्र प्रतिष्ठित हो रहे हैं, जैसा कि इस महासत्तात्मक विभु आकाश पटल पर भावात्मक नक्षत्र यत्र यत्र प्रदीप्त हो रहे हैं। जो स्वरूप आकाश की भूमा का है, ठीक वही स्वरूप उस आत्मा का है। जैसा कि- **"मनोम-योऽयं पुरुषो भाः सत्यः आकाशात्मा"** इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है।

आत्मा को आनन्दमय बतलाया जाता है। इधर भूमा को आनन्द कहा गया है। भौतिक पदार्थ सर्वथा परिच्छिन्न हैं। इन से अमृतलक्षण भूमाभाव की आशा करना व्यर्थ है। **"नामृतत्वस्य त्वाशास्ति वित्तेन"** अनुभव कीजिए इस आकाशात्मक भूमानन्द का। जिस आत्मा को अभाव समझते हुए आप शून्य कह रहे हैं, वही शून्य पूर्ण बनता हुआ आप के आनन्द का कारण बन रहा है। आप समझते होंगे कि, सायं प्रातः हम जो उत्तमोत्तम भोजन करते हैं, वह हमारे आनन्द का कारण होगा। परन्तु अथ से इति तक की आप जब मीमांसा करेंगे, तो आप को विदित होगा कि, यह आकाशात्मक भूमा ही आनन्द का कारण है।

जौ-गेंहू-मूँग-उर्द-चना-आदि ओषधिएं, विविध प्रकार के फल कहां, किस के आधार पर उत्पन्न हुए? धरातल पर। धरातल किस पर प्रतिष्ठित है? उसी आकाशात्मा में। आपके रसोइएनें जिन उपकरणों से भोजन तय्यार किया, वे उपकरण, उपकरणों का आधार रसोई घर, पाककर्त्ता ये सब कहां पर बैठे हैं? उसी आकाशात्मा पर। पाचक का हस्तव्यापार क्या बिना शून्य लक्षण आकाश के सम्भव था? आप हाथ को भोजन करने के लिए आगे बढाते हैं, कहां, किस आधार पर? जिस मुखबिल में ग्रास रखते हैं, वह आकाश नहीं तो और क्या है। गलाधःकरणानुकूल व्यापार का आश्रय शरीराकाश नहीं है, तो और कौन है? किस शून्य के आधार पर भुक्तान्न रस-असृक्-मांसादि रूप में परिणत होता हुआ आपकी तृप्ति का, किंवा आनन्द का कारण बन रहा है? इन सब प्रश्नो की मीमांसा कीजिए, और फिर अपने ही अन्तरात्मा से पूँछिए कि, आनन्द का मूल आधार कौन है।

एक ही प्रकार के वस्त्र पहिनने से, एक ही वस्तु भोजन से, एक ही स्थान पर अधिक काल तक बैठने से चित्त क्लान्त हो जाता है। क्यो? उत्तर वही भूमाकाश का अभाव।

खुली हवा, उद्यान भ्रमण, प्रासादपृष्ठ शयन ये सब आनन्द के कारण क्यों माने जा रहे हैं ? उत्तर वही आकाश । उदर में पीड़ा पहुंचाने वाला मल जब शारीरवायु के आघात से बाहर फैंक दिया जाता है, तो कैसी शान्ति मिलती है ? यह उसी आकाश की महिमा है । एक करवट दुख जाती है, दूसरी बदल ली जाती है। शय्या पर पैर फैलाकर सोने से कैसा आनन्द आता है, आकाश पर दृष्टि डालने से तबियत बासों उछलने लगती है । यदि उक्त आकाश विभूति से किसी को आनन्द नहीं आता तो, समझलो उसके आत्मानन्द ने जवाब देदिया । ऐसा व्यक्ति अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता । हमारे जीवन का क्षण क्षण आत्मानन्द रूप इसी आकाशानन्द-से सुरक्षित है । हम उत्पन्न हुए हैं आनन्द (रति) से, जीवित हैं आनन्द से, समा जांयगे आनन्द में । आनन्द की इसी व्याप्ति का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

आनन्दाद्ध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति । (तै-उप॰ ३ व. ६ अनु०) ।

जब लोगों से हम यह सुनते हैं कि—"हमतो बडे दुःखी हैं, बड़े व्याकुल हैं, संसार दुःख का समुद्र है" तो उनके इस प्रलाप पर हमें आश्चर्य भी होता है, साथ ही समवेदना भी । दुःख नहीं होता, यह बात नहीं है । यदि दुःख शोक न होते, तो कभी कोई किसी प्रकार की जिज्ञासा ही नहीं रखता । परन्तु विचारणीय यह है कि, जब हमारा आत्मा नित्यानन्दस्वरूप है, तो फिर हम (आत्मा) दुःखी क्यों रहते हैं ? सचमुच यह अवश्य ही एक जटिल समस्या है । इस समस्या को साम्प्रदायिक आचार्यों नें भिन्न भिन्न रूप से हल करने का प्रयास किया है ।

अद्वैतवादी शाङ्करो का कहना है कि, सम्पूर्ण संसार मिथ्या है मायिक है । कर्म क्षणिक होता हुआ दुःख का मूल है । जब तक आत्मा कर्म्म का अनुगामी बना रहेगा, तब तक उसे कभी शान्ति न मिल सकेगी । पराशान्ति के लिए सम्पूर्ण कर्म्मों का ऐकान्तिक परित्याग, एवं

विशुद्ध ज्ञानयोग (सांख्यनिष्ठा) का ही अनुगमन अपेक्षित है। सम्पत्ति, घर, वार, पत्नी, पुत्र, कलत्र, आदि सब का परित्याग करो, कायक्लेश के अनुगामी बनते हुए संसार से एकदम विरक्त बन जाओ, शून्य जंगल में चले जाओ, वहां भी एकमात्र आत्मचिन्तन में निमग्न रहो। इस अभ्यास के द्वारा जब तुम कर्म्मत्याग की चरम सीमा पर पहुँच जाओगे तो अन्ततः विशुद्ध ज्ञान-मूर्त्ति बनते हुए इस त्याग के प्रभाव से तुम अव्यक्तमूर्त्ति रह जाओगे। यही तुम्हारा परमानन्द होगा। **"न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"** का भी यही रहस्य है। इस प्रकार इन अद्वैताभिमानियो की दृष्टि में आत्मानन्दप्राप्ति, एवं दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय है—"कर्म्मत्याग लक्षण संन्यास, सांसारिक ऐहलौकिक—पारलौकिक कर्म्मों से आत्यन्तिक विरक्ति, वित्त-पुत्र-लोक भेद भिन्न तीनो एषणाओं का सर्वथा परित्याग"।

कहने को कोई विशिष्टाद्वैत, कोई शुद्धाद्वैत, कोई द्वैताद्वैत, परन्तु वस्तुतः द्वैतमार्ग के अनुयायी वैष्णवाचार्यो की दृष्टि में दुःख का मूल कारण है—जीवात्मा का अपने उपास्य परमात्मा के अनुग्रह से वञ्चित रहना। संसारी मनुष्य भगवत्‌माया के व्यामोह में पड़कर **"अहङ्करोमि"** इस अहङ्कारदर्प से मदमत्त बनता हुआ थोड़ी देर के लिए यह भूल जाता है कि, मेरा यह अहङ्कार सर्वथा निर्मूल है। मैं जो कुछ कर रहा हू, वह सब उस जगन्नियन्ता की इच्छा का फल है। मैं अपनी स्वतन्त्र इच्छा से एक तृण के कुब्जीकरण में भी अशक्त हूं। अपने इसी अहङ्कार के वशवर्ती बना हुआ प्राणी उत्पथ गमन करता हुआ उस नियन्ता के दण्ड से दण्डित होता रहता है। नाना व्याधि, भय, शोक आदि के चक्र में फँसा रहता है। यदि इसे उस अनन्त कल्याणगुणाकर, करुणावरुणालय का अनुग्रह प्राप्त करना है, यदि इसे संसार में रहते हुए सांसारिक क्लेशो से छुटकारा पाना है, तो इसे मनसा, वाचा, कर्म्मणा उसी की उपासना करनी चाहिए। काम यह सब करे, परन्तु अपनी इच्छा को निमित्त न बनावे। खाना—पीना सोना—जगना—चलना फिरना, सब कुछ भगवदर्पण हो। सर्वत्र भगवत् बुद्धि का साम्राज्य हो। अर्चन-वन्दन-पादसेवन सख्य-आत्मनिवेदनादिलक्षणा नवधा भक्ति से भगवान् की सम्यक् उपासना हो। इस भगवन्निष्ठा के प्रभाव से इसके सम्पूर्ण दुःख हट जायँगे। परमशान्ति मिल जायगी।

एक तीसरा कर्म्मानुयायी मीमांसक कहता है कि, दुःख का एकमात्र कारण है "शास्त्रीय (वैदिक यज्ञतपदानादि) कर्म्मों की अवहेलना"। सम्पूर्ण विश्व ईश्वर का एक यज्ञकर्म्म है। इस कर्म्म के प्रभाव से ही वह विश्वसम्पत् का भोक्ता बनता हुआ आनन्दघन बन रहा है। जीव उसी का अंश है। अतः इसे भी ईश्वराज्ञासिद्ध वेदोक्त कर्म्मों का ही यावज्जीवन अनुष्ठान करना चाहिए। कर्म्म से अतिरिक्त ईश्वर का कोई अन्य स्वरूप नहीं है—"कर्म्मेति मीमांसकाः" कर्म्म करना ही उसकी सच्ची उपासना है। इसी कर्म्म के बल से मनुष्य यथेच्छ फल प्राप्त करता हुआ दुःख से विमुक्त हो सकता है। यद्यपि जीव सदा ही कुछ न कुछ कर्म्म करता रहता है, परन्तु इसका यह कर्म्म प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है। अतः यह कर्म्म सुख के स्थान में दुःख का ही कारण बनता है। अज्ञानमूलक, प्रकृतिविरुद्ध लौकिककर्म्मों से कभी शान्ति की आशा नहीं की जासकती। इसके लिए तो प्रत्येक दशा में शास्त्रनोदना सिद्ध वैदिक कर्म्मों का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इन से लौकिक सुख भले ही न मिले, परन्तु पारलौकिक स्वर्गादि सुख निश्चित है। उस अनन्त सुख के लिए यदि हमें वैदिक कर्म्मकाण्ड में क्लेश का अनुभव करना पड़े तो, उस महाफल के सामने इस अल्पश्रम का कोई मूल्य नहीं है। फिर भी यह सौदा सस्ता ही कहा जायगा। केवल ज्ञान कभी शान्ति का कारण नहीं बन सकता। कर्म्म-बन्धन को तोड़ने के लिए हमें कर्म्म का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इस प्रकार प्रवृत्तिलक्षणा यह कर्म्मयोगनिष्ठा ही हमारा सर्वात्मना उपकार कर सकती है। "कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि" श्रुति भी इस कर्म्मवाद का ही समर्थन कर रही है।

इस प्रकार कितनें ही भारतीय विद्वान् "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था-विद्यतेऽयनाय"-"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः"-"त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"-"नास्त्यकृतः कृतेन" इत्यादि श्रुतियों को आगे करते हुए कर्म्मत्याग लक्षण ज्ञानयोग को ही क्लेशनिवृत्ति में मुख्य कारण समझ रहे हैं। कितनें हीं प्रपन्नाचार्य—"ततस्तु तं निष्कलं ध्यायमानः"—"सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः, स उपासितव्यः"—"तस्मै देवाय नमोनमः"—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्" इत्यादि वचनों

को मुख्य मानते हुए भक्तिपूर्वक कर्म्मानुष्ठान को ही सिद्धि का द्वार समझ रहे हैं। एवं कितनें हीं कर्म्माभिमानी- 'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि०"-"अहरहः सन्ध्यामुपासीत"-"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि आदेशना वाक्यों (विधि वचनों) को प्रधानता देते हुए प्रवृत्ति-मूलक शास्त्रीय यज्ञादि कर्म्मों को ही शान्ति की मूलभूमिका मान रहे हैं।

उक्त तीनों मतों के आधार पर हम पृथक् पृथक् तीन निश्चयों पर पहुंचते हैं। प्रथम मत के अनुसार कर्म्ममार्ग हमारा प्रबलशत्रु है। हम कुछ न करें तो शान्ति मिल सकती है, यही इस मत का निर्णयार्थ है। दूसरे मत के अनुसार हमें अपना अधिक समय भगवान् की पूजा-शुश्रूषा में हीं लगा देना चाहिए। इसी से भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न होंगे। एवं इस भगवदनुग्रह से ही हम पापियों के पापों का परिमार्ज्जन होगा। तीसरे मतानुसार हमें इस जीवन में निरन्तर कष्ट सहते हुए भी कष्टसाध्य यज्ञादिकर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। इस कर्म्म के अतिशय से हमें परलोक में सुख मिलेगा।

इन तीनों की उपादेयता, अनुपादेयता की मीमांसा करने का प्रकृत में अवसर नहीं है। इस सम्बन्ध में संक्षेप से हम यही बतला देना चाहते हैं कि, एक ऐसा सामान्याधिकारी (विज्ञान दृष्टि से तो विशेषाधिकारी भी) जो दुःख से कातर है, कभी ज्ञानवाद के बेसुरे आ-लाप का अनुगमन नहीं कर सकता। शरीरेन्द्रिययुक्त आत्मा कर्म्म का सर्वथा परित्याग करदे, यह असम्भव है।

दूसरा भक्तिमार्ग भी उत्तम अवश्य है। परन्तु ऐसी भक्ति में लोकसंग्रह का एकान्ततः अभाव है। यदि आबालवृद्ध-वनिता सभी झांझ-ढोलक-मजीरे लेकर नामसंकीर्तन में परायण हो जाय, तो वेदविहित चातुर्वर्ण्यधर्म्म को फलने फूलनें का अवसर ही न मिले। समाजव्यव-स्था से सम्बन्ध रखने वाली दण्डनीति, अर्थनीति, कला, कौशल, कृषि, गौरक्षा, वाणिज्य को विकसित होने का अवसर ही न मिले। और फिर विज्ञानदृष्टि से भगवान् ऐसे दयालु भी नहीं है कि, हमारे घोर-घोरतम पापों को क्षणमात्र में, केवल हाथ जोड़देने से क्षमा करदे। भगवान् साक्षीमात्र हैं।

हम अच्छा करेंगे, उस का अच्छा फल मिलेगा, भगवान् उसे रोक नहीं सकते। बुरा करेंगे तो भगवान् वैसे फल के साक्षी बनेंगे। हमारा कर्म्म ही हमारा निग्रह-अनुग्रह करता है। सच पूंछिए तो ऐसी भक्ति हमें कर्म्मशून्य बनाती है, आलसी बनाती है। कुछ एक परमभागवत आचार्यो की महत्ता का मौलिक रहस्य न समझते हुए उन के समकक्ष बनने का दम भरना सिवाय पागलपन के और क्या है। हमने तो सहस्रो भक्तराज ऐसे देखे हैं, जो संसार में परमभक्त माने जाते हैं, और कहने को वे वीतराग भी दिखलाई देते हैं, परन्तु वास्तव में वे साधारण मनुष्यों से भी कहीं अधिक क्लेश में है। इस प्रकार लोकव्यवस्था से विरोध रखने के कारण, चातुर्वर्ण्यधर्म्म की अवहेलना करने के कारण, साथ ही में वास्तविक आनन्द से वञ्चित रखने के कारण ऐसी भक्ति का भी कोई महत्व नहीं रहजाता।

अब प्रवृत्तिमूलक केवल कर्म्मवाद शेष रहता है। इस में पद पद पर कायक्लेश का सामना करना पड़ता है। एक क्लेश से छुटकारा पाने के लिए एक दूसरे क्लेश में सुख की आशा से गमन, और वह सुख भी इस जीवन में नहीं, परलोक में। कौन इस में प्रवृत्त होगा। फिर स्वर्गसुख भी तो शाश्वत नहीं है। जहां कर्म्मजनित पुण्यातिशय क्षीण हुआ नहीं कि, पुनः वही मृत्युभय। काम्यकर्म्म प्रवृत्तिकाल मे भी अशान्ति का कारण, एवं फलभोग काल में भी अशान्ति का ही कारण बना रहता है। इस प्रकार तीनों हीं चिकित्सक इस दुःख चिकित्सा में असफल रहजाते है।

इस अपूर्णता का मूल कारण है-ज्ञान-कर्म्म का पार्थक्य। अद्वैतवादी कर्म्म का तिरस्कार करते हुए ज्ञानकर्म्ममय पूर्ण आत्मा को अपूर्ण बना रहे हैं। कर्म्मवादी ज्ञान को गौण समझते हुए इसे अपूर्ण सिद्ध कर रहे हैं। एवं भक्तिवादी ज्ञान-कर्म्म दोनों के अंशतः (भागतः) संग्राहक बनते हुए भी भगवदनुग्रह रूपा कामवासना को ज्ञानकर्म्म के मध्य में रखते हुए इसे अपूर्ण मान रहे हैं। अपूर्णता में केन्द्रभाव की विच्युति है। केन्द्रभाव की विच्युति ही भय है। भय ही शोक का मूल कारण है। इस प्रकार ज्ञान-कर्म्ममय पूर्ण आत्मा के साथ अपूर्णता

का सम्बन्ध होजाना ही भय है। जैसा कि—"यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति, द्वितीयाद्वै भयं भवति" इत्यादि श्रौतवचनों से स्पष्ट है।

श्रुतिनें उदर शब्द का प्रयोग किया है। उदर अर्थशक्ति का सूचक है। सांसारिक भोग्य सामग्री ही उदर है। इस उदर का भोक्ता भी उदर (पेट) ही कहलाता है। भोजन की दासता, विषयासक्ति, इन्द्रियलोलुपता ही उदरभाव हैं। आत्मा के ज्ञान—कर्म्म के मध्य में जब उक्तलक्षण यह उदरभाव आजाता है, तो भय का उदय होजाता है। अपने आप से कभी भय नहीं होता। अपने स्वरूप की विच्युति से, अथवा अपने स्वरूप में किसी विजातीय-भाव के समावेश से ही भय होता है। कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग, एवं प्रवृत्तिलक्षण कर्मयोग में तो अपने स्वरूप की विच्युति है। एवं भक्तियोग में कामाशक्तिलक्षण विजातीयभाव का समावेश है। इस प्रकार तीनों हीं योग उदरभाव के समावेश से भयनिवृत्ति के स्थान में भय के ही उत्तेजक बन रहे हैं।

आत्मानन्द की मीमांसा करते हुए पूर्व में बतलाया गया है कि हमारे जीवन का मूल आधार आकाशात्मक आनन्द ही है। कल्पना कीजिए, यदि आकाश न होता तो हमारी क्या दुर्दशा होती। अथवा होता भी तो हमारे शिरोभाग से गज दो गज की दूरी पर। सचमुच आकाशानन्द से ही हम आनन्दमूर्ति बने हुए हैं। इसी आनन्द का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"कोह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" संसार में दुःख का साम्राज्य भी अवश्य है। परन्तु जीवनसत्ता आनन्द पर ही निर्भर है। आशानन्द, प्रतीक्षानन्द, श्रद्धानन्द, विश्वासानन्द, तुष्ट्यानन्द, आदि आनन्द के विवर्त्तों से ही हम जीवित हैं। जिस क्षण आनन्द का एकान्ततः निरसन हो जायगा, विश्वास कीजिए उस दिन हम "हम" न रहेंगे। इसी लिए प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति में, प्रत्येक कर्म्म में (चाहे वह प्रत्यक्ष में दुःखमय ही क्यो न प्रतीत होता हो) आनन्द ही मूलप्रतिष्ठा बना रहता है। फांसी के तख़्ते की

ओर जाने वाले व्यक्ति के पैर इसी आनन्दरक्षा के लिए आगे बढ़ रहे हैं। वह जानता है कि, यदि मै आगे न बढ़ूंगा तो मुझे ओर दण्ड मिलेगा, विशेष पीड़ा का सामना करना पड़ैगा। यदि कोई व्यक्ति आत्मघात के लिए प्रवृत्त होता है, तो विश्वास कीजिए! इस विषप्रवृत्ति का मूल-कारण भी वही आनन्द है। वह वर्त्तमान परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाले दुःख से छुटकारा पाने के लिए ही यह घोर कर्म कर रहा है। इस प्रकार सर्वत्र आनन्द ही प्रवृत्तिका मुख्य द्वार बना हुआ है। परन्तु दुःख है कि-सतत प्रयास करने पर भी आनन्द का विकास होना है स्वल्पमात्रा में, एवं अनिमन्त्रित दुःख रहता है विशेषमात्रा में। इस दुःखनिवृत्ति के लिए ही सम्पूर्ण आत्म-शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं, जैसा कि भूमिका प्रथमखण्ड के शास्त्रोद्देश्य प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है

प्रकृत में उक्त आनन्दमीमांसा से हमें यही बतलाना है कि, आत्मा भूमा (व्यापक) आनन्द स्वरूप है। इस विशुद्ध आनन्दघन आत्मा का स्वरूप जब उपनिषत् से पूंछा जाता है, तो वह मौन धारण कर लेता है। अधिक अनुग्रह हुआ तो "नेति--नेतीति होवाच" यह समाधान कर देता है। वास्तव में देखा जाय तो आत्मानन्द के सम्बन्ध में सिवाय नकार के और कोई दूसरा उत्तर है भी नहीं। व्यापक आनन्द के सम्बन्ध में किसी इन्द्रिय की गति नहीं है। आंख उसे देख नहीं सकती, नाक उसे सूंघ नहीं सकता, मुख उसका निर्वचन नहीं कर सकता, त्वगिन्द्रिय उसका स्पर्श नहीं कर सकती, मन उसका मनन नहीं कर सकता। जब किसी भी इन्द्रिय की वहां गति नहीं, तो उसका स्वरूप कैसे एवं क्या बतलाया जाय। ऐसे अचिन्त्य, अविज्ञेय, अनिर्वचनीय निरुपाधिक व्यापक आत्मा के लिए सिवाय नेति-नेति के और क्या कहा जाय।

श्रुति कहती है कि, तुम हम से आत्मा का स्वरूप पूँछना चाहते हो। अच्छा इस प्रश्न के उत्तर से पहिले श्रुति आप से यह पूंछती है कि, कौन आत्मस्वरूप जानना चाहता है? उत्तर होगा "आप"। "आप" क्या पदार्थ है? यह दूसरा प्रश्न है। बस जो "आप" है वही विज्ञाता आत्मा है। जिसे आप जानना चाहते हैं, वह जाननेवाले आप ही तो जानने

की वस्तु हैं। बड़ा आश्चर्य है कि, एक विज्ञाता के ही ज्ञान के सम्बन्ध में हम से प्रश्न किया जारहा है-"विज्ञातारमरे ! वा केन विजानीयात्" जिस विज्ञाता की ज्ञान-कर्म्म कणिका से ज्ञान- कर्मेन्द्रिएं स्व स्व व्यापार में समर्थ बनी हुई हैं, वे इन्द्रिएं उसे जान लेंगी, यह कैसे सम्भव है। परिच्छिन्न इन्द्रिएं व्यापक विज्ञाता पर कैसे पहुंच सकती हैं।

आप आत्मानन्द की बात कर रहे हैं, हम कहते हैं परिच्छिन्न विषयानन्द का भी आप स्वरूपलक्षण नहीं कर सकते। शर्करा, गुड़, मिश्री, बताशे, गन्ना, गुलकन्द सभी मधुर पदार्थ हैं। इन से एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है। क्या आप बतला सकेंगे कि, इन के रसानन्दों में क्या तारतम्य है ? आप इन के पार्थक्य का केवल अपने अन्तरात्मा से अनुभव मात्र कर सकते हैं। यह सब रसनैकगम्य है। फिर इन रसों से विकसित होने वाला आनन्द तो और भी अनिर्वचनीय है। विषययुक्त आनन्द हो, अथवा निर्विषयानन्द। आनन्दत्वेन आनन्द सर्वत्र समान बनता हुआ विभु है, अतएव अनिर्वचनीय है। जब लौकिक आनन्द भी निर्वचन का विषय नहीं बन सकता, तो उस आत्मानन्द के सम्बन्ध में स्वरूपलक्षण की जिज्ञासा करना क्या पागलपन नहीं है ? स्वानुभवैकगम्य यह आत्मानन्द सचमुच उस गूंगे का गुड़ है, जो उसके रसानन्द में बाहर भीतर सब ओर से तल्लीन होता हुआ उसका स्वरूप बतलाने में मूक है। विशुद्ध, निर्विशेष लक्षण आत्मानन्द की इसी अविज्ञेयता, एवं अनिर्वचनीयता का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करती हुई श्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

(कठ० ३।२।२३)।

महात्मा तुलसी ने भी "नेति नेति कहि वेद पुकारा"-"सो जाने जेहि देहि जनाई" कहते हुए उक्त श्रौतसिद्धान्त का ही समर्थन किया है। "असद्वा इदमग्र आसीत्" श्रुति भी उसे नकारात्मक ही घोषित कर रही है। यह असत् अभाव का वाचक नहीं है, अपितु उस परम सत् का वाचक है, जिसके कि आधार पर सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित हो रहा है। कोई

मन्दबुद्धि नञात्मक असत् शब्द को अभावात्मक न समझ बैठे, इसी लिए अपने पूर्व वाक्य का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर श्रुति को सदेवेदमग्रे असदासीत्, कथमसतः सज्जायेत" यह कहना पड़ा। वह असत् सत् रूप था। यदि असत् अभाव का ही सूचक होता तो उस अभावलक्षण असत् से सत् विश्व कैसे उत्पन्न हो सकता था। इस लिए मानना पड़ता है कि वह असत् सत् ही था। सत् होते हुए भी इसे असत् क्यों कहा गया? इसका उत्तर यही है कि, जिस में वह सत् (अस्ति) रहता है, वह पदार्थ सत् (विद्यमान) कहलाता है। चूंकि सत् [अस्ति] में सत् नहीं रहता, अतएव इसे "असत्" कहना न्यायसंगत माना गया। एक कारण सत् को असत् कहने का यह भी था कि, सामान्य मनुष्यों ने सत् शब्द से भौतिक-पदार्थों का ग्रहण कर रक्खा है। भौतिक सत्ता को [सोपाधिक सत्ता को] ही इन्होंने सत् समझ रक्खा है। श्रुति उस निरुपाधिक सत् का स्वरूप बतलाना चाहती है। ऐसी दशा में उसका यह कर्त्तव्य होजाता है कि, वह इस समझे हुए सोपाधिक पदार्थरूप सत् से उस अविज्ञेय निरुपाधिक सत् के परिज्ञान के लिए असत् शब्द का ही प्रयोग करे।

जिस प्रकार लौकिक मनुष्योंने सत् से भौतिकपदार्थों का ग्रहण कर रक्खा है, एव-मेव उन्होंने असत् शब्द का अर्थ अभाव समझ रक्खा है। लौकिक मनुष्यों के समझे हुए इस भौतिक सत्, एवं अभावात्मक असत् दोनों से वह असत् भिन्न है। इसी रहस्य को रूपा-न्तर से व्यक्त करने के लिए श्रुति को "नैवेह किञ्चनाग्रेऽसदासीत्, नैवसदासीत्—तदुक्तमृ-षिणा—"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्" यह कहना पड़ा है। सत् (भौतिक विश्व) असत् (अभाव) से पहिले (जो कुछ था वह) न असत् (अभाव) था, न सत् था। जैसा कि ऋषि (वेदमन्त्र) ने कहा है—"न उस समय सत् था, न उस समय असत् था"। श्रुति का यही तात्पर्य्य है। था तो क्या था? इस प्रश्न का समाधान करती हुई, उसी अनिर्वचनीय भाव को मूल में रखती हुई आगे जाकर वही मन्त्रश्रुति कहती है—"तस्माद्धान्यान्न परः किञ्चनास" [उस के अतिरिक्त और कोई पर तत्व न था]। श्रुति का तात्पर्य्य यही है कि, वह सत् भी था, असत् भी था, एवं न सत् था। न असत् था। कैसा विलक्षण तात्पर्य्य है। परन्तु क्या करें, विवश होकर इसी

विलक्षणता पर हमें विश्राम करना पड़ता है। लौकिक सत्-असत से वह पूर्वकथनानुसार भिन्न है, इसलिए तो उसे न सत् कहा जासकता, न असत् [अभाव] रूप माना जासकता। साथ ही में वह स्वयं सत् रूप [व्यापक सत्तारूप] है, इसलिए तो उसे सत् कहा जासकता है, एवं सत् में सत् नहीं रहता, इसलिए उस सत को असत् भी कहा जासकता है। यह तो हुआ सत्-असत का दार्शनिक उत्तर। अब इस सम्बन्ध में जो एक पूर्वपक्ष उपस्थित होता है, उसका उत्तर विज्ञानदृष्टि पर ही अवलम्बित है।

भगवान् ने एक स्थान पर द्वन्द्वभाव का निरूपण करते हुए सत्-असत् का सर्वथा पार्थक्य बतलाते हुए यह सिद्ध किया है कि "सत् कभी असत् नहीं बन सकता, एवं असत् कभी सत् नहीं माना जा सकता। सत् का कभी अभाव नहीं होता, एवं अभाव की कभी सत्ता नहीं होती"। गीतोक्त इस सदसद्द्वन्द्व के निर्णयानुसार हमें मानना पड़ता है कि, यदि वह व्यापक तत्त्व सत् है तो उसे असत् नहीं कहा जा सकता, एवं असत् है तो उसे सत् नहीं माना जा सकना। न उसे सदसत् ही कहा जा सकता. क्यों कि दोनों तमःप्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध हैं। अतः दोनों का एक ही स्थान में समावेश नहीं माना जा सकता। ऐसी दशा में उसे पहिले तो असत् कहना, फिर सत् कहना, फिर सत्-असत् से परे बतलाना, अन्ततोगत्वा पुनः उसे सदसत् बतलाना कदापि संगत नहीं माना जासकता।

उत्तर उस श्रुति से ही पूंछिए जिसने ऐसे विरुद्धभाव हमारे सामने रक्खे हैं। गीता और श्रुति की तुलना में हमें श्रुति का ही समादर करना पड़ेगा। स्मृतिस्थानीया गीता यदि श्रुत्यर्थ का विरोध करती है तो वह उपेक्षणीय है। परन्तु..........क्या गीता के सम्बन्ध में, उस गीता के सम्बन्ध में जो कि श्रुत्युक्त आत्मविद्या का स्पष्टीकरण करने में अग्रणी है, उक्त विरोध की कल्पना करके अपने आपको प्रायश्चित्त का भागी बनाना है। अवश्य ही गीता के द्वन्द्व सिद्धान्त समझने में हम भूल कर रहे हैं।

गीता उसी श्रुतिसिद्ध विश्वातीत द्वन्द्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है। पूर्वपक्षी गीतोक्त सत्-असत् शब्द को सोपाधिक सत् एवं अभाव को लेकर आगे बढ़ रहा है।

परन्तु भगवान् का लक्ष्य तत्वरूप सत्-असत् है। इसीलिए गीताने भी श्रुतिवत्–"उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः" इस रूप से स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझा है। सत् असत् के लौकिकरूप भिन्न हैं, एवं तात्विकरूप भिन्न हैं। लौकिक मनुष्य भौतिक सत् एवं अभावात्मक असत् को सदसत मान रहे हैं, परन्तु तत्वद्रष्टा विद्वान् तत्वात्मक सदसद्द्वन्द्व का साक्षात्कार कर रहे हैं।

सब से बड़ी विशेषता तो गीता के उक्त वचन की यह है कि, जहां श्रुति सूक्ष्मरूप से सदसत् का तात्विक स्वरूप हमारे सामने रखती है, वहां गीता उसका अधिक स्पष्टीकरण कर रही है। श्रुति उसे ही सत् कह रही है उसे ही असत् कह रही है। परन्तु यह स्पष्टरूप से नहीं बतलाया गया कि, उस एक ही को सत्-असत् क्यों, एवं कैसे कहा जाता है। उधर गीता दोनो को दो स्वतन्त्र तत्त्व मानती हुई अद्वैतवाद को सुरक्षित रख रही है। वह एक ही दो हैं, दोनो मिल कर एक हैं। दोनों परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों एक हैं। यही तो इस की विलक्षणता, एवं अनिर्वचनीयता है। वे दोनों स्वतन्त्रतत्त्व क्रमशः अमृत–मृत्यु नाम से प्रसिद्ध है। अमृत रस है, मृत्यु बल है। अमृत तत्त्व संख्या से एक, एवं दिग्देशकाल से अनन्त है। मृत्यु तत्त्व संख्या से नाना, एवं दिग्देशकाल से सादि सान्त है। मृत्यु असत् है, अमृत सत् है। सत् असत् जब तक ग्रन्थिभाव में परिणत नहीं होते, तब तक तो दोनों विश्वातीत हैं। जब सत् का असत् के साथ ग्रन्थिबन्धन होजाता है तो वही निरुपाधिक सोपाधिक बनता हुआ विश्व-एवं विश्वात्मा बन जाता है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

ऋक् सं० १०।१२९।४।।

यही सत्-असत् का अन्त (निरुपाधिक) रूप है। यही अहं पदार्थ (आत्मा) है। यदि गीता का असत् अभाव का वाचक होता, तो वह कभी असत् को अहं शब्द से व्यवहृत

न करती। हम देखते हैं कि-"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" के अनुसार गीता सदसत् की समष्टि को "अहं" बतला रही है। इस प्रकार जो तात्पर्य्य श्रौत सदसद्द्वन्द्व का है, वही तात्पर्य्य गीता के सदसद् द्वन्द्व का सिद्ध होजाता है। अस्तु इन सब विषयों का विशद निरूपण आगे के ब्रह्मकर्म्म परीक्षा प्रकरण में होने वाला है। अतः यहां अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में उक्त आनन्दमीमांसा से यही बतलाना था कि, जो आत्मा आनन्दघन है, उसके स्वरूपलक्षण की जिज्ञासा करने पर श्रुति की ओर से हमें नकारात्मक वह उत्तर मिलता है, जिस उत्तर के कि परिज्ञान के लिए हमें उस महाविशाल शब्दशास्त्र का आश्रय लेना आवश्यक होजाता है। और वह नकार भी किसी मौलिक रहस्य को ही सूचित करता है, जैसा कि-"नेति नेति" इस उत्तरवाक्य से स्पष्ट है।

उक्त वाक्य का साधारण अर्थ तो यही है कि-"जिस विशुद्ध व्यापक आत्मा का स्वरूप लक्षण तुम हम से पूंछते हो, उस के सम्बन्ध में हम एक बार नहीं दो बार (अनेक बार) न-न कहेंगे। न-इति, न-इति, यही तुम्हारी जिज्ञासा का उत्तर है। जब उस का स्वरूप लक्षण हो ही नहीं सकता, तो उसके सम्बन्ध में न-इति, न इति ('न" ही उसका स्वरूप लक्षण है) के अतिरिक्त और क्या कहा जासकता है।

दूसरा अर्थ भौतिक विश्व की नास्ति से सम्बन्ध रखता है। साधारण मनुष्यों नें भौतिक पदार्थ को ही आत्मा समझ रक्खा है। अथवा उन्होंनें आत्मा और भौतिक पदार्थ दोनों का सहयोग देखते हुए यह अनुमान लगा रक्खा है कि, आत्मा नामक तत्व सदा भूतभाग से ही युक्त रहता है। इन की इसी भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए, इन्हें उस विश्वातीत निरुपाधिक तत्व का ज्ञान करवाने के लिए ही श्रुति को उस विशुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में नेति-नेति कहना पड़ा है। श्रुति कहती है कि, इन्द्रियगोचर जितनें भी भौतिक पदार्थ तुम्हारे सामने आवें, सब के लिए न-इति, न इति (यह भी आत्मा नहीं है-यह भी आत्मा नहीं है) बोलते जाओ। जहां जाकर इस नेति-नेति की समाप्ति होजाय, समझलो वही विशुद्ध आत्मा है। यह भौतिक

पदार्थ भी आत्मा नहीं। इति (इत्यपि न) यह भी आत्मा नहीं, करते करते जब भौतिक पदार्थ निःशेष बन जाय, वहीं प्रतिष्ठित हो जाओ। वही विशुद्ध आत्मा होगा।

तीसरे अर्थ का व्यापक अस्ति भाव से सम्बन्ध है। भौतिक विषयों में आसक्त प्रेयोमार्गानुयायी उदरपरायणों नें यह मान रक्खा है कि, वस्तुत. शरीर, किंवा प्रत्यक्षदृष्ट भौतिक प्रपञ्च के अतिरिक्त सत्तालक्षण कोई नित्य आत्मा नहीं है। श्रुति नास्तिकों के इस वाक्य के "नहीं है" इस एक नकार को उद्देश्य बना कर उसके स्थान में दूसरे नकार का विधान करती हुई कह रही है कि, उसे "न-इति" (नहीं है, किंवा नास्ति रूप है ऐसा) मत समझो। अपितु इस न इति का न इति समझो। अर्थात् नकार (अभाव) का नकार (अभाव) समझो। जिस प्रकार घटाभावाभाव घटसत्ता का सूचक है, इसी प्रकार आत्मा की नास्ति की नास्ति आत्मसत्ता का कारण है। इस दृष्टि से नेति नेति का अर्थ होगा-"न-इति (इत्यस्य) न इति (अवगन्तम्)"। अर्थात् "नकार जो जो नकार है, वही यह है, अर्थात वह विशुद्ध सत्तारूप है।

चौथा अर्थ लौकिक व्यवहार से सम्बन्ध रखता है। यदि घर में कोई व्यक्ति विद्यमान है, एवं अज्ञानतावश यदि कोई अन्य व्यक्ति उस विद्यमान व्यक्ति के सम्बन्ध में-"अजी! वह तो नहीं है" यह कह देता है, तो जिस अन्य व्यक्ति को उस विद्यमान व्यक्ति का पता रहता है, वह कह उठता है, अजी नहीं, वह अवश्य घर में है। वह नहीं है, यह बात नहीं है। बस यही लोकव्यवहार उक्त श्रुति वचन से प्रकट हो रहा है। अदूरदर्शी लौकिक मनुष्य भ्रान्तिवश जहां उस के लिए न कहता है तत्काल एक दूरदर्शी तत्ववेत्ता विद्वान् बोल पड़ता है कि, वह "न इति न" है। प्रथम नकार "नहीं है" इसका सूचक है, एवं द्वितीय नकार "यह बात नहीं है" यह सूचित कर रहा है। सम्भूय दोनों वाक्यों का अर्थ होता है-वह अवश्य है। "न-इति (नहीं है यह बात) न-इति (नहीं है), यह समझो-न-इति न-इति (अवगन्तव्य मिति शेषः)।

इस प्रकार न-न कहती हुई भी श्रुति हमें तटस्थ रूप से उस अविज्ञेय की ओर लेजा

रही है । यही श्रुति का श्रुतित्व (साक्षात्कृतधर्म्मत्व) है, यही इस का अपौरुषेयत्व है । यही हमारे वैज्ञानिक आत्मा की, उस निरुपाधिक आत्मा की सामान्य परीक्षा है। नकार से अतिरिक्त इस की और कोई परीक्षा नहीं हो सकती । अविज्ञेयता ही इस की विज्ञेयता है, अनिर्वचनीयता ही इस की निर्वचनीयता है । इस के सम्बन्ध में—"वह नहीं जाना जासकता" यह जानलेना ही उस का जानना है । निरुपाधिक, अतएव शब्दशास्त्रातीत इसी विशुद्ध व्यापक आत्मा के ज्ञान की मीमांसा करती हुई श्रुति कहती है —

> यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ॥
> अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥१॥
> संविदन्ति न य वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ॥
> यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥२॥ (उपनिषत्)

शास्त्रों में आत्मा का स्वरूप बतलाया गया है—बड़े विस्तार के साथ । इसी आधार पर विद्वान् लोग "हमनें आत्मा को पहिचान लिया" यह कहा भी करते हैं । परन्तु यह सब सोपाधिक भाव हैं । विश्वातीत विशुद्ध आत्मा न शास्त्र में कहा गया, न कहा जा सकता, न उस की पहिचान हो सकती । इस प्रकार जो व्यक्ति शब्दशास्त्र के आधार पर आत्मज्ञान का (विशुद्ध आत्मज्ञान का) अभिमान करते हैं, उन के इस अभिमान को भ्रान्त बतलाती हुई श्रुति कहती है —

> न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
> नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
> (यजुः सं १७।३१) ।

श्रुति कहती है कि—जिस मूल आत्मा से यह सब कुछ प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है, उसे तुम सर्वथा नहीं जानते । तुमनें आत्मा के सम्बन्ध में और का और ही समझ रक्खा है । तात्पर्य यही है कि, शास्त्रज्ञ लोग स्वानुभूत अहं प्रत्यय को आत्मा कहा करते हैं । परन्तु यह अनुभूत

अहं सोपाधिक है। वह विशुद्ध निरुपाधिक है। उस का अनुभव नहीं हो सकता। इसी विषय का परोक्षभाव से दिग्‌दर्शन कराती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है—

"आत्मा का ऐसा स्वरूप है, वैसा स्वरूप है'—इस प्रकार आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में बकझक करने वाले, कुहरे से ढके हुए, अपने आप को आत्मज्ञानी समझने वाले उक्थशास इधर उधर भटक रहे हैं। मूलकारण को वैदिकभाषा में "उक्थ" कहा जाता है। जब विद्वानों से विश्व के मूल कारण के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाता है, तो वे बड़े अभिनिवेश के साथ—"आत्मा उक्थ है, उस आत्मा का वैसा स्वरूप है, ऐसा स्वरूप है" इस प्रकार उक्थ का शासन (उपदेश) किया करते हैं। परन्तु इन की अपनी स्वयं की दशा ऐसी है कि, जैसे एक व्यक्ति को घने कुहरे में स्वयं को तो कुछ दिखलाई नहीं देता, परन्तु दूसरों को कहा करता है कि, देखो! वहां वह वस्तु रक्खी है। दूसरों को भ्रान्त करने के साथ साथ यह उक्थशास स्वयं भी भ्रान्त बने हुए हैं। इन्होंनें उक्थ आत्मा के अर्करूप सोपाधिक प्राण को ही आत्मा समझकर सन्तोष कर रक्खा है। इस प्रकार असुतृप बने हुए यह उक्थशास नीहार (कुहरे) से चारों ओर से ढके हुए मूलात्मा का बखान करते हुए इधर उधर मारे मारे फिर रहे हैं।

"योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्" इस सिद्धान्त के अनुसार वह व्यापक आत्मा, एवं शरीरपरिच्छिन्न जीवात्मा दोनों परमार्थ दृष्टि से अभिन्न हैं, एक वस्तु हैं। यदि उसका ज्ञान नहीं हो सकता, तो इस का भी स्वरूपलक्षण नहीं किया जा सकता। कदाचित् कोई यह कहे कि, उस का ज्ञान न सही, शरीरावच्छिन्न इस अहं पदार्थ का तो ज्ञान हो सकता है। इस पूर्वपक्ष को भी निर्म्मूल बनाते हुए ऋषि कहते हैं—

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

(ऋक् सं १।१६४।३७)।

प्रत्येक व्यक्ति बड़ी सावधानी के साथ कहा करता है कि, अजी मैनें यह किया, वह किया, यों किया, त्यों किया। ऐसा प्रतीत होता है कि, मानो यह "अहं" तत्व का साक्षात-

कार करके ही उक्त वाक्यों का प्रयोग कर रहा हो। परन्तु यह भला आदमी शान्तचित्त बनकर यदि एकान्त में अपने आप से—"मैं कौन हूं, अहं पदार्थ क्या वस्तु है ?" यह प्रश्न करेगा, तो विश्वास कीजिए ! इस प्रश्न का यह कोई समाधान न कर सकेगा। "अहं" को जानलेना तो आत्मस्वरूप के विज्ञातृभाव पर आक्षेप करना है। खूब सोचिए, घन्टों मनन कीजिए, जीवन-पर्य्यन्त अन्वेषण करते रहिए, कभी आप उस अहं की (जिसका प्रयोग बड़ी मुस्तैदी के साथ दिन रात में सैंकडों बार होता है) थाह न पासकेंगे। इस प्रकार "न तं विदाथ य०"-"न वि जानामि यदि०" ये दोनों श्रुतिएं उस की और इस की अभिन्नता बतलाती हुई इस निरुपाधिक विशुद्ध आत्मा की अविज्ञेयता ही बतला रही है।

पाठक सोचरहे होंगे कि लेखकने विज्ञानदृष्टि से भली आत्म परीक्षा की। दार्शनिक परीक्षा में कुछ तो भी पहले पड़ता था। परन्तु इस वैज्ञानिक परीक्षा नें तो कुछ बतलाने की अपेक्षा जो कुछ झूठा सचा आत्मस्वरूप समझ रक्खा था, उससे भी निवृत्त कराकर कोरा बाबाजी ही बना दिया। अपने आत्मजिज्ञासु पाठकों के इसी क्षोभ को शान्त करने के लिए आज हम उस आत्मा की वैज्ञानिक परीक्षा आरम्भ करते हैं, जिसके कि वैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव से धर्म्म-कर्म्म-इहलोक-परलोक आदि के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिएं उपस्थित होरही हैं।

वैज्ञानिक परीक्षा आरम्भ करें, इस से पहिले हम अपने प्रेमी पाठकों को यह विश्वास दिला देना चाहते हैं कि, आगे जिन आत्माओं का स्वरूप बतलाया जाने वाला है, वे सब उस एक ही अखण्ड ब्रह्म के सोपाधिक अनेक रूप हैं। अनेक आत्मवाद के साथ हमारा मूललक्ष्य एकात्मवाद ही है, एवं यही परमार्थ दृष्टि है। परन्तु इस परमार्थ दृष्टि पर पहुंचनें के लिए हमें अवश्य ही व्यावहारिक नानात्मसत्यवाद का अनुगमन करना पड़ेगा। एक सत्यवाद का जहां ज्ञान से सम्बन्ध है, वहां नाना सत्यवाद का विज्ञान से सम्बन्ध है। चूंकि इस प्रकरण में इन नाना सत्यों का ही निरूपण हुआ है, अतएव हमने इस प्रकरण का "वैज्ञानिक आत्मपरीक्षा" यह नाम रखना उचित समझा है।

एक ही आत्मा के **निर्गुण-सगुण** भेद से दो रूप माने गए हैं। इन दोनों में निर्गुण आत्मा **परात्पर** नाम से प्रसिद्ध है। यह विश्वातीत है, अतएव शास्त्रानधिकृत, अतएव अविज्ञेय,

अतएव अनुपास्य है। जब वह अविज्ञेय है, तो उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। यद्यपि है वह विश्वातीत, परन्तु-"एकं वा इदं विबभूव सर्वम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वही सम्पूर्ण प्रपञ्च का मूल बना हुआ है। वही सम्पूर्ण उक्थों का महदुक्थ है, वही सम्पूर्ण व्रतों का महाव्रत है, वही सम्पूर्ण पुरुषों का पुरुष है। महदुक्थ, महाव्रत, पुरुष बन कर ही वह सब का ब्रह्म-साम-उक्थ बना हुआ है। चूँकि वही सब का उक्थ है, वही सब का ब्रह्म है, वही सब का साम है, अतः उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षण उस तत्व को हम अवश्य ही इस प्रपञ्च का आत्मा कह सकते हैं। क्योंकि वैज्ञानिकोंनें आत्मा का-"यस्य यदुक्थं सत् ब्रह्म सत् साम स्यात् स तस्य आत्मा" यही लक्षण माना है।

प्रश्न हमारे सामने यह उपस्थित है कि, उस व्यापक निर्गुण आत्मा को विश्वोत्पत्ति की क्या आवश्यकता हुई ? आवश्यकता एक प्रकार की कामना है, इच्छा है। एवं इच्छा के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों का यह सिद्धान्त है कि, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही इच्छा का विकास होता है। जो तत्व व्यापक है, उस में किसी वस्तु का अभाव नहीं है। जब वहां पहिले से ही सब कुछ विद्यमान है, तो फिर उसे इच्छा किस बात की ? जब इच्छा नहीं तो सृष्टि कैसी ? एक प्रश्न।

इच्छा का विकास मन से होता है। एवं-"हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवः संकल्पमस्तु" इस यजुः सिद्धान्त के अनुसार मन हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। हृदय (केन्द्र-सेन्टर CENTRE) का सीमाभाव से सम्बन्ध है। ससीम, सायतन पदार्थ में हीं हृदय रहता है। वह व्यापक तत्व असीम है। इसलिए उस में हृदय नहीं। दूसरे शब्दों में व्यापक का अंश हृदय ही है। वह स्वयं हृदयमूर्ति ही है। जब उस में कोई नियत हृदय नहीं, तो वहां मन नहीं, मन नहीं तो इच्छा नहीं, इच्छा नहीं तो सृष्टि कैसी ?

परन्तु प्रत्यक्षदृष्ट सृष्टि को भी तो मिथ्या नहीं माना जा सकता। फिर-"नामरूपे सत्यम्" कहती हुई श्रुति तो और भी विश्व सत्यता को दृढमूल बना रही है। साथ ही में "बिना कारण के कार्य नहीं होता" इस सिद्धान्त को भी मिथ्या नहीं माना जासकता। जब

विश्व कार्य हमारे सामने है, एवं विना कारण के कार्योत्पत्ति असम्भव है, तो हमें मानना पड़ता है कि–इस का कारण अवश्य ही कोई तत्व विशेष है। उस कारणभूत तत्व को श्रुति व्यापक आत्मा कह रही है। व्यापक आत्मा का पूर्वकथनानुसार सृष्टि की इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उस व्यापक को इस परिच्छिन्न विश्व का कारण मानती हुई श्रुति हमें धर्म्मसंकट में डाल रही है।

इस संकट की निवृत्ति पहिले दार्शनिक दृष्टि से कीजिए। दर्शनशास्त्रों में मुख्य शारीरकतन्त्र के सामने आत्मकारणता के सामने जब उक्त जटिल समस्या आई, तो उसने एक बहुत सीधासा–"लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्" यह उत्तर दे डाला। जो कि उत्तर दार्शनिक दृष्टि से सर्वथा समीचीन, साथ ही शास्त्रभक्त एक श्रद्धालु आस्तिक के लिए सर्वथा मान्य है। उक्त सूत्र का अभिप्राय यही है कि, जिस प्रकार वह स्वय अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार उस का कार्यकारण भाव भी अनिर्वचनीय है। यही अनिर्वचनीयता उस की स्वाभाविक लीला है। जब कोई अपूर्व घटना हमारे सामने उपस्थित होती है, तो हम-"अरे भाई छोड़ो इस वात को, यह तो भगवान् की लीला है, इस का भी किसी ने पता पाया है" यह कह कर विश्राम करलेते हैं। विना किसी फल की आशा से होनें वाली जो स्वाभाविक भगवदिच्छा है, उसे ही भगवल्लीला कहा जाता है।

हम देखते हैं कि, कितनें हीं मनुष्य ठाले वैठे वैठे पैर हिलाया करते हैं, चुटकी बजाया करते हैं, तृण तोड़ा करते हैं, भूमि कुरेदा करते हैं। अवश्य ही ये सब काम इच्छापूर्वक हो रहे हैं। परन्तु यह इच्छा किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए नहींहो रही। पादभ्रमण, जलताड़न, तृणच्छेद, भूमिविलेखन आदि से वह किसी फल की आशा नहीं कर रहा। बस इसी का नाम लीलाकैवल्य है। हम जानते हैं कि, उसे किसी की प्राप्ति की इच्छा नहीं। फिर भी वह सब कुछ बनाया ही करता है। उसकी इस लीलामयी स्वाभाविक इच्छा से ही यह लीलामय विश्व वन गया है। लीलामय के लीलामय इस अनिर्वचनीय कारणभाव के सम्बन्ध में उहापोह करना

मूर्खता है। इसका यह कार्यकारणभाव अनिर्वचनीय कैसे है ? इसके लिए लौकिक उदाहरण ही पर्य्याप्त होगा।

सुवर्ण कारण है, कटक--कुण्डलादि कारण हैं। जब आप इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का अन्वेषण करने चलेंगे, तो आप इन में ५ विभिन्न सम्बन्धों का समन्वय देखेंगे। "कटक सुवर्ण में है" (कार्य कारण पर प्रतिष्ठित है), यह भी कहा जासकता है। सच बात है। कार्यरूप कटक सुवर्ण के अतिरिक्त ओर कहां प्रतिष्ठित रहे। "सुवर्ण कटक में है" (कारण कार्य में प्रतिष्ठित है), यह भी कहा जासकता है। सच बात है। कारण रूप कटकावच्छिन्न सुवर्ण कटक से अतिरिक्त और कहां रहेगा। 'सुवर्ण-कटक दोनों भिन्न भिन्न हैं" (कारण कार्य दोनों भिन्न है,) यह भी कहा जासकता है। सच बात है। यदि दोनों एक ही वस्तु होते तो-'सुवर्णमानय" (सोना लाओ,) कहने पर कटक का आनयन हो सकता था, एवं "कटकमानय" कहने पर सुवर्ण का आनयन हो सकता था। प्रत्यक्ष में भी "अब हमारे पास सोना नहीं है, उसका तो कटक बना लिया है" यह भेदमूलक व्यवहार देखा जाता है। "सुवर्ण ही कटक है" (कारण ही कार्य बना हुआ है), यह भी कहा जासकता है। सच बात है। कटक के अणु अणु का आप विश्लेषण कर डालिए, उस में सिवाय सुवर्ण के ओर आपको कुछ न मिलेगा। "सुवर्ण कटक से भिन्न है, परन्तु कटक सुवर्ण से अभिन्न है" (कारण कार्य से भिन्न है, परन्तु कार्य कारण से अभिन्न है) यह भी कहा जासकता है। सच बात है। सुवर्ण बिना कटक के भी रह सकता है, परन्तु कटक बिना सुवर्ण के नहीं रह सकता। यह पांचों ही सम्बन्ध परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं। पांचों का एक स्थान पर समावेश हो रहा है। यही ६ ठा **अनिर्वचनीय सम्बन्ध**, दार्शनिक परिभाषा के अनुसार **अध्यास सम्बन्ध** है। इस प्रकार लौकिक कार्यकारण भावों का सम्बन्ध भी जब अनिर्वचनीय है, तो उस अलौकिक कार्यकारण भाव का निर्वचन कैसे किया जासकता है। अतएव अन्ततोगत्वा हमें यही कहना पड़ता है कि-"उस से क्यों कैसे विश्व उत्पन्न होगया ? विश्व का और उसका क्या सम्बन्ध है ? यह प्रश्न सर्वथा अनुचित है। अविज्ञेय भाव के सम्बन्ध में ऐसे तर्कों को

अवसर नहीं मिलता। इसी बात को श्रुति नें एक स्थान में बड़े व्यवस्थित ढंग से स्पष्ट किया है।

ब्रह्मोद्य (शास्त्रार्थ) के अवसर पर गार्गी ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि–"सर्वाधार अपूतत्त्व किस में ओतप्रोत है? उत्तर मिला आकाश में। आकाश किस में? अन्तरिक्ष लोकों में। अन्तरिक्ष लोक किस में द्युलोक में। द्युलोक किस में? आदित्य लोक में। आदित्य लोक किस में? चन्द्र लोक में। चन्द्र लोक किस में? नक्षत्र लोक में। नक्षत्र लोक किस में? देवलोक में। देव लोक किस में? गन्धर्व लोक में। गन्धर्व लोक किस में? प्रजापति लोकों में। प्रजापति लोक किस में ओतप्रोत हैं, उत्तर मिला ब्रह्मलोक (आत्मलोक) में। जब यहां भी गार्गी नें यह प्रश्न किया कि-ब्रह्मलोक किस में ओतप्रोत है? तो याज्ञवल्क्य बोल पड़े, "मातिप्राक्षीः, माते मूर्द्धा व्यपप्तत्, अनतिप्रश्न्या वै देवता, अतिपृच्छसि। गार्गि! मातिप्राक्षीः" इति। गार्गी! बस कर। सीमा से बाहर प्रश्न न कर। यदि ऐसा करेगी, तो विद्वत्समाज में तेरा मस्तक नीचा होजायगा। ब्रह्मोद्य अवसर पर उपस्थित विद्वान् कहने लगेंगे कि, अरे! गार्गी मूर्खता प्रकट कर रही है। भला कहीं उस व्यापक, अतएव प्रश्नमर्यादा से अतीत देवता के सम्बन्ध में भी प्रश्न किया जासकता है। इस लिए गार्गी! यदि तू अपनी मानरक्षा चाहती है, तो ऐसा प्रश्न न कर। याज्ञवल्क्य के उक्त कथन पर संतोष करती हुई गार्गीने अपनी पराजय स्वीकार करली"।

सच बात है, इन्द्रियातीत विषयों के सम्बन्ध में हमारे तर्कों का कोई मूल्य नहीं रहता। इन्द्रियातीत विषय सर्वथा अचिन्त्य होते हैं। अतएव उनके सम्बन्ध में तर्क-प्रश्नों का अवसर नहीं रहता। वहां तो केवल "लोकस्वलीलाकैवल्यम्" पर ही विश्राम करना पड़ता है। उस अचिन्त्य की इसी अविज्ञेयता का स्पष्टीकरण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

> अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
> प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

श्रुतिनें तो एक स्थान पर यह भी कह दिया है कि, जो इस सृष्टि का प्रवर्त्तक है, वह भी इस कार्यकारण रहस्य को जानता है, अथवा नहीं ? यह भी नहीं कहा जासकता। वस्तुस्थिति यह है कि, इच्छा होती है, तदनुसार हम काम करनें लगते हैं। परन्तु इच्छा क्यों होती है, ? क्यों हुई ? इसका उत्तर हम नहीं दे सकते। तैल से दीपक प्रज्वलित होता है, इसकी मीमांसा की जासकती है। परन्तु—पानी से दीपक क्यों नहीं जलता ? यह नहीं कहा जासकता। "स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया"। इच्छा के उत्थान का अन्वेषण करने चलते हैं, तो हमें हमारी इच्छा के मूल का भी पता नहीं लगता। इसी आध्यात्मिकेच्छा की अनिर्वचनीयता का दिग्दर्शन कराती हुई तलवकार श्रुति कहती है—

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति क उ देवो श्रोत्रं युनक्ति ॥

(केनोपनिषत्)।

जब हमें हमारी इच्छा के मूल का भी पता नहीं तो, उस व्यापक की इच्छा के मूल का अन्वेषण करना क्या पागलपन नहीं है। और इसी तुलना से क्या हम यह अनुमान नहीं लगा सकते हैं कि, जिस प्रकार हम अपनी इच्छा के सम्बन्ध में उन्मुग्ध (बेखबर) हैं, सम्भव है, वह भी इसी प्रकार अपने कार्यकारणभाव परिज्ञान के सम्बन्ध में उन्मुग्ध हो। देखिए ! श्रुति क्या कहती है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥
अर्वाग् देवा विसर्जनेनाथ को वेद यत आबभूव ॥ १ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ॥
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सोऽङ्ग ! वेद यदि वा न वेद" ॥२॥

(ऋक्सं १०।१२९।६–७।)।

उक्त दार्शनिक उत्तर से पूर्व कथनानुसार एक श्रद्धालु का अनुरञ्जन अवश्य ही हो सकता है। परन्तु एक वैज्ञानिक इस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उस के सामने तो वही

प्रश्न आज भी परिक्रमा लगा रहा है कि, इच्छा का मन से सम्बन्ध है, मन का हृदयभाव से, हृदय का सीमाभाव से सम्बन्ध है। उधर उस व्यापक की कोई सीमा नहीं। ऐसी दशा में वह सृष्टि का मूल बना तो कैसे बना ?

जिस स्वाभाविक इच्छा का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, विज्ञान उसे न मानता हो, यह बात नहीं है। वह भी इच्छा के मूल का अन्वेषण नहीं करता। उस का भी मार्ग-"स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया" यही है। परन्तु उस का तो प्रश्न है इच्छा के सुप्रसिद्ध स्वरूप के सम्बन्ध में। इच्छा का परम्परया सीमाभाव से ही सम्बन्ध है, यह बात एक दार्शनिक को भी मान्य है। आत्मा सीमाभाव से परे है, यह भी समानविषय है। अन्तर दोनों के दृष्टिकोणों में यही है कि, दार्शनिक लीलामात्र बतलाकर अपना पीछा छुड़ा लेता है, उधर वैज्ञानिक इस लीला का स्वरूप जानना चाहता है। वैज्ञानिक की दृष्टि में उस लीला का क्या स्वरूप है ? इस का समाधान निम्नलिखित प्रश्नोत्तर श्रुतियों से भलीभांति हो जाता है—

प्रश्नश्रुतिः— किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीत् ।
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतत् ।
यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥१॥ ?

उत्तरश्रुतिः—ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् ।
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः ।
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥२॥ (तै०ब्रा २।८।९)।

श्रुति प्रश्न करती है कि, "वह ऐसा कौनसा वन (जंगल) था, उस वन का वह ऐसा कौनसा वृक्ष था, जिसे कांट छांट कर यह द्यावापृथिवी (त्रैलोक्य) बना डाले गए। हे विद्वानो ! आप अपने मन से इन प्रश्नो की मीमांसा कीजिए, और फिर उत्तर दीजिए कि, जो इन भुवनों को धारण किए बैठा है, वह कौन है" ?

उत्तर मिलता है—" वह ब्रह्म नाम का वन था, उस वन में ब्रह्म नाम का ही एक वृक्ष था, जिसे कि कांट छांट कर यह विश्व बनाया गया। हे विद्वानो! मैं अपने मन को साक्षी बनाकर कहता हूं कि, वह ब्रह्म ही इन सब भुवनों को धारण किए हुए इन पर प्रतिष्ठित हो रहा है"।

उक्त प्रश्नोत्तर देखने में बड़े सरल हैं। और यदि किसी दार्शनिक से उत्तर पूंछा जायगा, तो वह झट कह देगा,-' ब्रह्मरूप वन के ब्रह्मरूप वृक्ष से विश्व बना है, एवं ब्रह्म ही इस का अध्यक्ष है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म सब कुछ बना हुआ है, वही कारण है, वही कार्य है"।

परन्तु एक वैज्ञानिक ब्रह्मवादी इस दार्शनिक की हां में हां मिलाने में असमर्थ है। वह ब्रह्ममूलक अद्वैत सिद्धान्त का पूरा समर्थक बनता हुआ भी यह विचार करैगा कि, वनरूप ब्रह्म, वृक्षरूप ब्रह्म, एवं विश्वरूपब्रह्म तीनों के स्वरूप में अवश्य ही औपाधिक भेद है। एवं इस उपाधि भेद का अवश्य ही कोई न कोई मूलकारण है। वन एक है, असीम है। वृक्ष अनन्त है, ससीम है। वनरूप ब्रह्म विश्व का कारण नहीं है, अपितु वन में रहने वाला ससीमवृक्ष इस ससीमविश्व का कारण है।

अब विचार यह करना है कि, आरम्भ में जब केवल असीम वनस्थानीय ब्रह्म ही ब्रह्म था, तो उस समय ससीम वृक्ष के आविर्भाव का मूलकारण कौन बना?। उत्तर उस से पूंछिए, जिसने अग्नि–वायु–इन्द्र को यक्ष–अभ्वमूर्ति ब्रह्म का बोध कराया था, जिसने जगत् निर्म्माण के लिए ब्रह्म को विवश किया था। वही जगन्माया हैमवती उमा हमें यह सृष्टिरहस्य बतलाने में समर्थ है। वही बलस्वरूपा है, शक्तिस्वरूपिणी है। जब तक हम अपने मानस जगत् में उस बलात्मिका महामाया का आह्वान नहीं कर लेते, तब तक उस आत्मदेवता का वास्तविक सृष्टिरहस्य नहीं समझ सकते—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"। केनोपनिषत् नें तो स्पष्ट ही शक्त्युपासना को ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य, एवं अन्यतम द्वार बतलाया है। उस शक्ति का अन्वेषण कहां करैं? इस का उत्तर है "सर्वत्र"। सर्वत्र क्या वस्तु है? इस का उत्तर है–सदसल्लक्षण, अमृत–मृत्युमूर्त्ति वही परात्पर व्यापक ब्रह्म। वहां से उसीमें ही वह वीर्य्य-

रूपा शक्ति मिलेगी, उसी शक्ति से उस का लाभ (ज्ञान) होगा। इसी अन्योऽन्याश्रयभाव को सूचित करने के लिए–"आत्मना विन्दते वीर्यम्" "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" यह दोनों बातें कही जातीं हैं।

गीतोक्त सदसद्द्वन्द्व का तात्विक स्वरूप बतलाते हुए यह कहा गया है कि, वह "अहं" शब्दवाच्य आत्मा अमृत–मृत्युमय है। भाति दो हैं, सत्ता केवल अमृत की है। जैसे सत्–चित्–आनन्द इन तीन भाति भेदों के रहने पर भी सत्ता की एकरूपता से सच्चिदानन्दलक्षण ब्रह्म दर्शनशास्त्र में अद्वय माना गया है, एवमेव अमृत–मृत्यु इन दो भाति भेदों के रहने पर भी यह सदसल्लक्षण ब्रह्म विज्ञानशास्त्र में अद्वय ही कहा गया है।

जैसा कि प्रकरणारम्भ में कहा गया है, वह मूल ब्रह्म ही इस तूल विश्व का कारण है। एवं "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" इस न्याय के अनुसार कारण के धर्म्म हीं कार्य में आते हैं। फलतः कार्यगुणों के आधार पर ही कारणगुणों का आनुमानिक ज्ञान सिद्ध हो जाता है। कार्यविश्व में समष्टि एवं व्यष्टि रूप से उभयथा हम परस्पर में सर्वथा विरुद्ध दो भावों का साक्षात्कार कर रहे हैं। एकभाव सर्वथा अविचाली है, दूसरा भाव सर्वथा विचाली है।

उदाहरण के लिए एक मनुष्य को ही सामने रखिए। मनुष्य के शरीर की बाल-युवा वृद्धादि भेद से अनेक अवस्थाएं मानीं गईं हैं। यदि इन अवस्थाओं का सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो इस अवस्था परिवर्त्तन का क्षण पर विश्राम मानना पड़ता है। जो मनुष्य पहिले क्षण में था, दूसरे क्षण में उसका अभाव है। इस प्रकार हम इस में प्रतिक्षण परिवर्त्तन का साक्षात्कार कर रहे हैं। इस परिवर्त्तन के साथ साथ ही "यह वही मनुष्य है, जो कभी बालक था, कभी जवान था, परन्तु आज बुड्ढा हो गया है" यह अपरिवर्त्तन भी देखा जा रहा है। "स एवायं" यह प्रत्यभिज्ञा भी साथ साथ चल रही है। यहां तक की जब इसका स्थूल शरीर सर्वात्मना नष्ट हो जाता है तो इस शरीराभावरूप महापरिवर्त्तन के साथ भी अपरिवर्त्तनीय सत्ताभाव ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बना रहता है। देवदत्त है, इस में तो 'है" (सत्ता) है ही, परन्तु

देवदत्त नहीं है, इस अभावसूचक वाक्य के अन्त में भी "है" लगा हुआ है। निदर्शनमात्र है। प्रत्येक पदार्थ के साथ (चाहे वह स्थावर हो, अथवा जड़ हो) आप को दोनों भावों के दर्शन होंगे। एकभाव सर्वथा नित्य मिलेगा, एक अनित्य मिलेगा। जब कार्य विश्व में आप दो भातिएं देख रहे हैं, तो आपको मानना पड़ेगा कि उस कारणतत्व में अवश्य ही दो विरुद्ध धर्म्म होंगे। कारण से सम्बन्ध रखने वाले वे ही दोनों तत्व **अमृत-मृत्यु,-रस-बल,-सत्-असत्** इत्यादि नामों से व्यवहृत हुए हैं।

रस तत्व सर्वथा शान्त है, व्यापक है, निष्क्रिय है, एक है। बलतत्व नित्य अशान्त है, परिच्छिन्न है, क्रियारूप है, नाना है। नित्यअशान्तिगर्भित नित्य शान्ततत्त्व ही व्यापक आत्मा है। जैसा, जो स्वरूप उत्ताल तरंगों से युक्त एक शान्त समुद्र का है, ठीक वैसा हो, वही स्वरूप इस आत्मा का है, जैसाकि-"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्" इत्यादि श्लोक भाष्य में पाठक विस्तार से देखेंगे। पानी से ही सम्पूर्ण भौतिकपदार्थों का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, यह ठीक है। परन्तु स्वयं समुद्र इस निर्म्माण में हाथ नहीं बटाता। अपितु धूम ज्योति-सलिल वायु के संघातरूप पुष्करावर्त्तादि मेघ उस अनन्त समुद्र से थोड़ी थोड़ी जलमात्रा लेकर वृष्टि द्वारा, एवं मनुष्य अपने बुद्धिवैभव से नहरों द्वारा उसकी जलमात्रा लेकर अन्नादि के परिपाक का कारण बनता है। वही अन्नसम्पत्ति भौतिक प्रपञ्च की जननी है। समुद्र तो अनन्त भण्डार है, कोष है। बस ठीक यही दशा उस व्यापक आत्मा की समझिए। वह स्वयं सृष्टि निर्म्माण नहीं करता, अपितु अश्वत्थवृक्षस्थानीय पुरुष के व्यापार से उस अनन्त की मात्रा से विश्व का निर्म्माण हुआ है।

उस अनन्त के गर्भ में बल नाम का जो परिवर्त्तनीय तत्त्व बतलाया गया है, वह यद्यपि संख्या में अनन्त है, परन्तु उन अनन्त बलों की जातिएं परिगणित [१६] ही हैं, जिनका कि ईशोपनिषदादि विज्ञानभाष्यों में निरूपण किया जा चुका है। उन १६ बलकोशों में भी एक बलकोष इतर १५ कोशों का मूलाधार है। वही महाबलकोश "महामाया" नाम से प्रसिद्ध है। वही महामाया सृष्टि का मूल बीज है। इस बल का स्वभाव है असीम को ससीम

बना डालना, अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बना डालना। इसी मिति के कारण इसे "मीयते अनया" "मिनोति या" इस व्युत्पत्ति से "माया" कहा जाता है। उस रसब्रह्म की तरह इस बल-रूपा महामाया का स्वरूप भी अचिन्त्य ही है। सद्रूप सम्पूर्णविश्व की वह मूल जननी है। "कथमसतः सज्जायेत" के अनुसार इस विश्वदृष्टि से हम उसे "असती" भी नहीं कह सकते। माया बलस्वरूपा है। बल क्षणिक बनता हुआ असत् है। ऐसी दशा में उसे "सती" भी नहीं कहा जा सकता। सत्–असत् दोनों एक स्थान पर रह नहीं सकते, इसलिए उसे सदसती भी नहीं कहा जा सकता।

पदार्थतत्व सत, असत, सदसत इन तीन ही भागों में विभक्त है। इधर जब माया तीनों ही नहीं है, तो क्या वह कोई वस्तुतत्व नहीं है, यह भी नहीं माना जा सकता। यही इस मायातत्व की विलक्षणता है। यही माया का मायापना है। जिसके इन्द्रजाल में पड़कर स्वयं ब्रह्म* अपना स्वरूप भूल रहा है, उस माया का यथार्थ स्वरूप यह क्षुद्रप्राणी जानले, यह सर्वथा असम्भव है। जगज्जननी जगदम्बा की इसी विलक्षणता का दिग्दर्शन कराते हुए उपासक कहते हैं—

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधः।
काचिद्विलक्षणामाया वस्तुभूता सनातनी॥

यथार्थ है। यदि कोई मन्दबुद्धि यह जिज्ञासा करे कि, मैं अपनी आँखों से अपनी माता की उत्पत्ति देखना चाहताहूं, तो वह क्या उन्मत्त न कहा जायगा। जो जगन्माता स्वयं ब्रह्म की भी जननी है, उसके यथार्थ स्वरूप की जिज्ञासा करना क्या अतिप्रश्न नहीं है। ऐसी दशा में उसके स्वरूप के झंझट में न पड़ते हुए हमें उसके सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना चाहिए कि, वह अचिन्त्य वस्तुतत्व अपरिमित को परिमित बना डालता है। सीमाभाव प्रवर्त्तिका

---

* यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत्।
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः॥ (सप्तशती)

यही माया लीला है, इस लीलारूपिणी माया से नित्ययुक्त वह रसब्रह्म भगवान् है। भगवान् स्वयं सृष्टि नहीं करते, नहीं कर सकते। भगवान् की यह लीला (माया) ही भगवान् को सृष्टि-बंधन में डाल देती है। पूर्वोक्त "लोकवत्लीलाकैवल्यम्" इस दार्शनिक उत्तर का भी यही वैज्ञानिक रहस्य है।

रस के गर्भ में रहने वाले बल का स्वरूप ठीक वैसा ही समझिए, जैसाकि स्वरूप समुद्र-गर्भ में रहने वाली तरङ्गों का। तरंगगति का यदि आपने कभी निरीक्षण किया होगा, तो आप को विदित होगा कि, तरंग स्वस्थान से चलकर जहां विश्राम करती है, उस प्रदेश में इस के अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त तीन रूप हो जाते हैं। अभी तक जो तरंग आपके लिए अव्यक्त (अप्रकट) थी, पलक मारते ही वह व्यक्त बन गई। लीजिए वह पुनः अव्यक्तभाव में परिणत हो गई। अव्यक्त उस का पहिला क्षण, व्यक्त दूसरा क्षण, अव्यक्त तीसरा क्षण। इन तीनों क्षणों में आद्यन्त के क्षणों में तो समुद्र प्रधान है, तरंग गौण है। तरंग गर्भित है, समुद्र गर्भी है। मध्य क्षण में तरंग गर्भिणी है, समुद्र गर्भित है। बस ठीक यही दशा समुद्रस्थानीय रस, एवं तरंगस्थानीय बल की समझिए।

अभी तक बल रस के गर्भ में था, यही इस की अव्यक्तावस्था थी। अब बल ऊपर हो गया, एवं उस प्रदेश का रस इस के गर्भ में चला गया। यही इस की व्यक्तावस्था कहलाई। लीजिए पुनः बल रसगर्भ में जाता हुआ अव्यक्त का अव्यक्त बन गया। आदि में अव्यक्त मध्य में व्यक्त, पुनः अव्यक्त का अव्यक्त, अन्ततोगत्वा वही ढांक के तीन पात। अव्यक्त क्षणों में अस्तिरूप रस प्रधान रहता है, बल गर्भ में रहता हुआ इस के अनुग्रह से वञ्चित रहता है। अतएव इन दोनों क्षणों को "नास्ति" कहा जाता है। व्यक्त क्षण में वह नास्तिसार बल अस्तिसार रस को आधार बनाता हुआ स्वयं भी अस्तिभाव में परिणत हो जाता है। इसी आधार पर दार्शनिकोंनें नास्तिसार बलात्मिका क्रिया के नास्ति,-अस्ति-नास्ति ये तीन क्षण माने हैं। नास्ति का अर्थ बल का अभाव नहीं है। अपितु बलकी अव्यक्तावस्था ही का नास्ति शब्द से अभिनय किया गया है। इसीलिए वैज्ञानिकों नें बल की इन तीनों अवस्थाओं के लिए (संदि-

यथार्थसूचक नास्ति-अस्ति-नास्ति शब्दों का प्रयोग न कर) अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त शब्दों का प्रयोग किया है। जैसा कि निम्नलिखित वैज्ञानिकवचन से स्पष्ट है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गीता)

महामाया भी एक बल विशेष ही है। अतः इस की भी अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त ये तीन हीं अवस्थाएं माननीं पड़तीं हैं। उस अनन्त परात्परधरातल पर ऐसे अनन्त मायाबल हैं। एवं एक एक मायाबल के गर्भ में १५–१५ अवान्तर बलकोश हैं। अपनी अपनी पञ्चदशी की अव्यक्त व्यक्त-अव्यक्तावस्थाओं के प्रति इस अपने अपने मायाबल की अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्तावस्थाओं की ही प्रधान कारणता है। तात्पर्य्य कहने का यह है कि, जिस षोडशबल का महामाया बल जब अव्यक्त बना रहता है, तो उस समय तद्गर्भित शेष १५ बल भी अव्यक्त ही बनें रहते हैं। जब माया व्यक्त बनती है, तो यह सब भी व्यक्त हो जाते हैं। एवं माया की अव्यक्तनिधनावस्था के साथ साथ ये भी अव्यक्तनिधन बन जाते हैं। इस दृष्टि से माया को ही सर्वेसर्वा मानना पड़ता है।

माया का अव्यक्तक्षण उत्पत्ति का बीज है, व्यक्तक्षण स्थिति का बीज है, एवं अव्यक्तक्षण लय का बीज है। माया का उदित होना विश्वोत्पत्ति है, माया का व्यक्तरूप में परिणत रहना विश्वस्थिति है, एवं माया का अव्यक्त बन जाना विश्वलय है। उत्पत्ति-स्थिति-लय तीनो की अधिष्ठात्री यही माया है। परात्परधरातल में मायाओं का यह धारावाहिक क्रम भी अनन्त अनादि है। एक विश्व उत्पन्न हो रहा है. एक विश्व विद्यमान है, एक लीन हो रहा है। इस प्रकार सर्वत्र उस अनन्त की अनन्त विभूति का साम्राज्य हो रहा है। जितने मायाबल, उतने स्वतन्त्र विश्व। एक एक विश्व में अनन्त त्रैलोक्य, एक एक लोक में अनन्त प्राणी, एक एक प्राणिशरीर में अनन्त कीटाणु। यही उस अनन्त का मौलिक इतिहास है। इसी अनन्त इतिहास का गान करते हुए महर्षि अनन्त बन गए हैं। एवं इसी अनन्त का प्रतिपादन करने वाले ऋषिवाक्यरूप वेद अनन्त बने हुए हैं।

हां तो सृष्टि से पहिले का विचार कीजिए। परात्परधरातल में उच्चावचभावों से आन्दोलित किसी एक मायाबल का उदय हुआ। जिस प्रदेश में माया का उदय हुआ, वह परात्परप्रदेश मायापुर से सीमित बनकर पुरुष कहलाने लगा। यही सोपाधिक आत्मा का पहिला अवतार है। परात्पर असीम है, मायायुक्त पुरुष ससीम है। इसी सीमाभाव की कृपा से उस में दूसरे हृदय-बल का विकास हुआ। हृदयावच्छिन्न वह पुरुष '**श्वोवसीयस**" नाम का **मन** कहलाया। इसी से सृष्टि काम (इच्छा) का उदय हुआ, जो कि कामना—"**एकोऽहं बहु स्याम्**" इस वचन से अभिनीत है। इसी कामनाने उस सत् रस का असत् बल के साथ ग्रन्थिबंधन कर दिया। वही ग्रन्थि विश्व का स्वरूप सम्पादन करने वाली बनी। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर ऋषि कहते हैं—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

परात्पर अनन्तधरातल है। उस अनन्तधरातल पर एक एक पुरुष का स्वरूप सम्पादन करने वाले (जो कि पुरुष उक्त कथनानुसार स्व स्व विश्व के सञ्चालक बनते हैं) असंख्य मायाबल हैं। एक एक मायाबल से एक एक विश्व उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार केवल माया के अनुग्रह से वह एक ही परात्पर व्यापक ब्रह्म परात्पर-पुरुष-विश्व इन तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है। परात्पर एक महावन है, इस महावन में अनन्तमायारूप अनन्तपुरुष अनन्त वृक्ष हैं। इस एक एक वृक्ष को कांट छांट कर ही एक एक विश्व का निर्म्माण हुआ है। "**ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्**" का यही रहस्य है।

परात्पर असीम है, इस लिए उसे छोड़िए। अनन्त पुरुषों को छोड़कर केवल एक पुरुष को लीजिए, क्यों कि हमारे एक विश्व का साक्षी महामायी एक ही पुरुष है। इस एक पुरुष के एक महाविश्व में एक सहस्र (वल्शात्मक) विश्व और हैं। प्रत्येक वल्शाविश्व में सात सात लोक हैं। इसीलिए तो श्रुतिनें—"**निष्टतक्षुः**" कहा है। उस महावृक्ष की कांट छांट करके एक सहस्र वल्शात्मक विश्व संपन्न हुए हैं। इन में से ९९९ वल्शात्मक विश्वों को छोड़िए। वि-

चार कीजिए केवल सप्तलोकात्मिका, पञ्चपर्वमयी एक वल्शा का, एवं इसके अध्यक्ष वल्शेश्वर विश्व का। बस हमारा वेद इसी वल्शाविश्व, एवं वल्शेश्वर का निरूपण करता हुआ कृतकृत्य है। इस एक के परिज्ञान से स्थालीपुलाकन्याय द्वारा सब कुछ परिज्ञात है। वह व्यापक कैसे क्यों सृष्टि का मूल बना ? इस जिज्ञासा का यही संक्षिप्त वैज्ञानिक उत्तर है—"एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति"।

प्रश्नोत्पत्तिका से पहिले आत्मा के जिन निर्गुण—सगुण रूपों का उल्लेख किया था, उन में से सगुण आत्मा के महाविश्वावच्छिन्न पुरुष, एवं वल्शेश्वरभेद से दो विवर्त्त हैं। एवं इन दोनों में से हमारे इस प्रकृत प्रकरण का मुख्य लक्ष्य सप्तवितस्तिकायात्मक, सप्तलोकाधिष्ठाता वल्शेश्वर नाम का सगुणआत्मा ही है, यह पूर्वकथन से भलीभांति सिद्ध हो जाता है।

निर्गुणब्रह्म परात्पर है, सगुण ब्रह्म पुरुष है। इस सगुणात्मा के आगे जाकर योग-माया के सम्बन्ध से अमृत-ब्रह्म-शुक्र ये तीन भेद हो जाते हैं, जिन का कि दिग्दर्शन पूर्व के दर्शन प्रकरण में कराया जा चुका है। यद्यपि उपनिषदों में तीनों हीं आत्मविवर्त्तों का विस्तार से निरूपण हुआ है, परन्तु कल्पित अद्वैतवादी व्याख्याताओं की कृपा से उपनिषच्छास्त्र केवल निर्गुणब्रह्म का प्रतिपादक बन रहा है। इसी लिए आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सन्देह हो रहे हैं। यदि तीनों आत्मविवर्त्तों का स्वरूप यथावत् जान लिया जाता है, तो फिर सन्देह का अणुमात्र भी अवसर नहीं रहता। इतना और स्मरण रखिए कि, दर्शनशास्त्र के तीनों तन्त्रों नें तीनों में से केवल अमृतात्मा का ही स्पर्श किया है, अतएव दर्शन को हमने अकृत्स्नशास्त्र कहा है। इधर गीताशास्त्र तीनों का निरूपण करता हुआ अमृतात्मा के उत्तम-पर्वरूप अव्यय पर विश्राम कर रहा है, अतएव इसे कृत्स्नशास्त्र बतलाया गया है। इस अव्ययात्मा के परिज्ञान से एवं इस के साथ बुद्धि का योग करने से ही सर्वविध क्लेशों की निवृत्ति हो सकती हैं—"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। परात्पर के सम्बन्ध में जो कुछ कहना था, कहा जाचुका। अब पुरुषात्मा के अमृत—ब्रह्म—शुक्र इन तीन विवर्त्तों का ही क्रमशः अगले प्रकरणों में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाता है।

इति—निर्गुणात्मनिरुक्तिः

—ख—

ग—सगुण-अमृतात्मानिशक्तिः

॥ श्रीः ॥

ग—सगुण–अमृतात्मनिरुक्तिः

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव"–"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च"–'यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः"–"सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः"–"प्रजापतिर्वा इदं सर्वम्" इत्यादि मन्त्र–ब्राह्मण–श्रुतिएं विश्व के प्रत्येक पदार्थ को समष्टि–व्यष्टि रूप से प्रजापति बतला रहीं हैं। प्रजा इसकी उपाधि है। प्रजायुक्त आत्मा ही प्रजापति है। यही सोपाधिक सगुण आत्मा है। यह सोपाधिक प्रजापति (आत्मा) "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" इस कौषीतकि अनुगम के अनुसार चतुष्पर्वा माना गया है। प्रजापति के वे चारों पर्व क्रमशः "आत्मा प्राण–वित्त–पाप्मा इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

आत्मा इतर तीनो पर्वों का मूलप्रभव बनता हुआ उक्थ है। प्राण इस उक्थ आत्मा के अर्क (रश्मिएं) हैं। आत्मा की शक्ति इस का वित्त है। यह वित्त (शक्ति) अन्तर्वित्त–बहिर्वित्त भेद से दो भागो में विभक्त है। शुक्र में रहने वाला ब्रह्म-क्षत्र–विड्वीर्यों में से (वर्णानुसार क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में रहने वाला) एक वीर्य्य अन्तर्वित्त है। स्त्री-अपत्य-पशु-अनुचर-अन्न-गृह–वस्त्र–सम्पत्ति आदि सब बहिर्वित्त हैं। आत्मा की ज्ञानज्योति को आवृत करने वाली योगमाया लक्षणा क्षरप्रधाना अविद्या पाप्मा है। सब से ऊपर पाप्मा का स्तर है, उसके भीतर बहिर्वित्त है, इस के भीतर अन्तर्वित्त है, इसके भीतर प्राण है, सर्वान्तरतम आत्मा है।

प्राण–वित्त–पाप्मा तीनो में से आत्मस्वरूपरक्षक प्राण और वित्त, ये दोनों उपकरण आत्मा के अनुकूलधर्म्म हैं। इन्हीं धर्म्मो से धर्म्मी उक्थरूप आत्मा की स्वरूपरक्षा होती है। तीसरा पाप्मा आत्मा का उपसर्ग बनता हुआ, अतएव आत्मधर्म्म के प्रतिकूल जाता हुआ अधर्म्म है। प्राण–वित्त दोनों आत्मा की स्वमहिमा है। अपनी अपनी महिमा में ही आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। ईश्वर से आरम्भ कर एक कीटाणुप्रजापति पर्य्यन्त प्रत्येक आत्मा के साथ

प्राण और वित्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना प्राण और वित्त के आत्मा कभी प्रजापति नहीं बन सकता।

प्रजापति शब्द में प्रजा-पति दो विभाग हैं। इन में वित्त इस की प्रजा है, स्वयं आत्मा इस प्रजा का पति है। उक्थरूप आत्मा स्वस्थान में (हृदय में) प्रतिष्ठित रहता है। वह स्वयं उस प्रजा का शासन नहीं करता, अपितु उसकी प्राणात्मिका रश्मिएं हीं प्रजा का सञ्चालन करतीं हैं। आत्मा स्वयं पशुपति है, वित्तभाव प्रजारूप पशु है, एवं प्राण पशुसञ्चालक पाश है। पशुपतिरूप आत्मा, पाशरूप प्राण, एवं पशुरूप वित्त तीनों की समष्टि ही एक प्रजापति संस्था है। चौथा पाप्मा सर्वथा आगन्तुक धर्म्म (अधर्म्म) है।

इनमें प्राण और आत्मा का परस्पर में उसी प्रकार अभेद सम्बन्ध है, जैसे कि उक्थ-स्थानीय सूर्य्य, एवं अर्कस्थानीय रश्मियों का परस्पर में अभेद सम्बन्ध है। इसी अभेदसम्बन्ध को विज्ञानभाषा में "अन्तर्य्याम" सम्बन्ध कहा जाता है। पानी में जो द्रवता है, वह वरुणाग्नि की कृपा है। "अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्" के अनुसार पानी का विलयन भी अग्नि से ही होता है, एवं पानी का संघात भी अग्नि से ही होता है। यत्र अग्नि वारुणाग्नि है। यही पानी को द्रुत बनाए हुए हैं। इस अग्नि का और पानी का परस्पर में अन्तर्य्याम सम्बन्ध है। यही अग्नि पानी का स्वरूपधर्म्म बना हुआ है। यदि पानी में से यह अग्नि निकल जाय, तो पानी का स्वरूप ही उच्छिन्न हो जाय। आत्मा के साथ प्राण का यही सम्बन्ध है।

दूसरी महिमा वित्त है। इस वित्त का आत्मा के साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है। पानी को अग्नि से गरम कर लीजिए। इस गरम पानी के साथ गरमी (अग्नि) का जो सम्बन्ध है, वही बहिर्य्याम सम्बन्ध कहलाता है। चौथा पाप्मा आत्मा में उपयाम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। पात्र में अङ्गार रख दीजिए। इस अङ्गार का पात्र के साथ जो सम्बन्ध है, उसे ही "उपयाम" कहा जाता है। आत्मसत्ता का प्रधान विकास वित्तपर्य्यन्त ही रहता है, जैसा कि—"यावद्वित्तं तावदात्मा" इत्यादि तैत्तिरीय-सिद्धान्त से स्पष्ट है।

प्रजापति के उक्त चारों पर्वों में से ईश्वरप्रजापति के साथ आत्मा-प्राण-वित्त इन तीन पर्वों का ही सम्बन्ध है। जीवप्रजापति के साथ ही पाप्मा नाम के चौथे पर्व का सम्बन्ध है। अतः उसे त्रिपात् कहा जायगा, एवं इसे चतुष्पात् कहा जायगा। चतुष्पात् जीवप्रजापति को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। पहिले त्रिपात् ईश्वरप्रजापति का विचार कीजिए। ईश्वर प्रजापति को षोडशी प्रजापति कहा जाता है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातो य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सरराणस्त्रीणिज्योतींषि सचते स षोड़शी॥

पूर्व के निर्गुणतत्व प्रकरण में बतलाया गया है कि, उस व्यापक परात्पर धरातल के एक प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ। उस परिच्छिन्न मायाबल से युक्त वही परात्परप्रदेश "पुरुष" कहलाया। इस पुरुष का अभियुक्तों ने "अनवच्छिन्नत्वे सति मायोपजनित पुरोपाधिकावच्छेदकत्वं पुरुषत्वम्" यह लक्षण किया है। सभी दृष्टियों से अनवच्छिन्न केवल मायोपाधि से अवच्छिन्न परात्पर ही पुरुष है। मायोपाधि से पुरुष का आविर्भाव हुआ। इस मायाविर्भावकाल में यह पुरुष विशुद्ध मनोमय बनता हुआ आकाशात्मा था, निष्कल था। परन्तु इसी क्षण में इस में दूसरा हृदयबल उत्पन्न होता है। इस हृदयबल का ही नाम प्रकृति है। आजकल माया और प्रकृति को पर्य्याय समझा जाता है। परन्तु वस्तुतः प्रकृति भिन्न तत्व है, माया भिन्न तत्व है। माया का परात्परसमकक्ष अनवच्छिन्नपुरुष के साथ सम्बन्ध है, एवं प्रकृति का षोड़शी पुरुष के साथ सम्बन्ध है। माया पुरुष की जन्मदात्री है, प्रकृति पुरुष की पत्नी है। माया के उदर में पुरुष और प्रकृति का आविर्भाव होता है। प्रकृति द्विपर्वा है, माया एकपर्वा है। माया का कार्य केवल अमित को मित करना है, एवं प्रकृति का काम मित निष्कलपुरुष को षोड़शकल बना देना है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से माया एवं प्रकृति का पार्थक्य सिद्ध हो जाता है।

अस्तु कहना यही है कि, मायापुर का केन्द्र ही प्रकृति है। जिस प्रकार उस पुरुष में रस-बल नाम के दो तत्त्व हैं, वे ही दो तत्त्व इस प्रकृति में विद्यमान हैं। इन्हीं दो रूपों के

कारण प्रकृति के अमृत–मृत्यु ये दो रूप हो जाते हैं। अमृताप्रकृति अक्षर कहलाती है, मर्त्या-प्रकृति क्षर कहलाती है। अक्षर अपरिणामी है, क्षर परिणामी है। स्वयं मूलपुरुष अव्यय है। यह अव्यय आरम्भ में निष्कल रहता है, परन्तु अक्षर के व्यापार से इस में रस-बल की चिति होती है। रसचिति आनन्दविज्ञानरूपा है, बलचिति प्राणवाग्रूपा है। चेतनारूप अक्षर से होने वाली इस चिति से मनोमय वह अव्यय पुरुष पञ्चकल बनता हुआ चिदात्मा नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।

आनन्द कला आनन्द है, विज्ञानकला चित् है, मन-प्राण-वाक् की समष्टि सत् है, समष्टि सच्चिदानन्द है। इस सच्चिदानन्द अव्यय की विद्या-वीर्य्य नाम की दो प्रधान भक्तिएं हैं। आनन्द विज्ञान की समष्टि विद्याभक्ति है, यही ब्रह्मभक्ति है। प्राणवाक् की समष्टि वीर्य्य-भक्ति है, यही कर्म्मभक्ति है। ये दोनों जिस मध्यस्थ श्वोवसीयस मन में चित् हैं, वह चिति-रूप अव्यय मन काममय चिदात्मा है। यह चिदात्मा प्रधानरूप से ज्ञानमूर्त्ति ही है।

अक्षर गतिमूर्त्ति है। यह गतितत्त्व गति, आगति, (गतिसमष्टिरूपा) स्थिति, स्थितिगर्भिता गति, स्थितिगर्भिता आगति भेद से पांच भागों में विभक्त है। इन पांचों को क्रमशः इन्द्र-विष्णु-ब्रह्मा-अग्नि-सोम इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। इन्द्र "द" है, विष्णु हृ है, ब्रह्मा "यम्" है। तीनों की समष्टि "हृदयम्" है। यही हृदयाक्षर त्रयी है। इसी को विज्ञानभाषा में अन्तर्य्यामी कहा जाता है। अग्नि "ऋ" है, सोम 'लृ" है। समष्टि पृष्ठ्या-क्षर है। यही सूत्रात्मा नाम से प्रसिद्ध है।

हृद्य तीनों अक्षरों में गति आगतिरूप विष्णु-इन्द्र दोनों ऋत हैं एवमेव उपसृष्ट गति-आगति रूप अग्नि-सोम भी ऋत हैं। परन्तु स्थितिलक्षण ब्रह्मा सत्यमूर्त्ति है। यह सत्यमूर्त्ति ब्रह्माक्षर अन्तर्य्यामिलक्षण इन्द्राविष्णुरूप, ऋतमूर्त्ति हृद्यभक्ति से, एवं सूत्रात्मलक्षण, अग्नी सोम रूप, ऋतमूर्त्ति पृष्ठ्यभक्ति से युक्त होता हुआ, हृदय स्थान से आरम्भ कर पृष्ठपर्य्यन्त (अपने विभूति सम्बन्ध से) व्याप्त रहता हुआ इस सम्पूर्ण विश्व को अपने आप पर प्रतिष्ठित रखता है—"सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्"।

सम्पूर्ण विश्व की आहुति इस में हो रही है, एवं यह सम्पूर्ण विश्व में आहुत हो रहा है। यही सर्वमेध नाम का सर्वहुत यज्ञ है, जिसका कि विशद विवेचन पाठक "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" इत्यादि श्लोकभाष्य में देखेंगे। ब्रह्मकर्तृक आत्मविश्वाहुतिलक्षण यज्ञ ही साक्षात् विष्णु देवता हैं—"यज्ञो वै विष्णुः"।

इस यज्ञ की मूलप्रतिष्ठा ब्रह्मकर्म्मात्मक अव्ययपुरुष ही है, जैसा कि—"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर" इत्यादि से स्पष्ट है। अव्यय के सच्चिदानन्दधर्म्मों से युक्त बनकर ही तो अक्षर सृष्टि निर्म्माण में समथ होता है। अव्यय के मन से अक्षर सर्वज्ञ बनता हुआ कामना करता है, अव्यय के प्राण से सर्वशक्ति बनता हुआ तप करता है, अव्यय के वाक् से सर्ववित् बनता हुआ श्रम करता है। इस प्रकार यह अमृत अक्षर ही काम–तपः–श्रम द्वारा अपने परिणामी क्षरभाग को विकार के लिए आगे करता हुआ सृष्टिवितान का कारण बनता है।

अव्यय पुरुष को ब्रह्म–कर्म्मात्मक बतलाया गया है। इस का यह कर्मभाग रसप्रधानामुमुक्षा, बलप्रधानासिसृक्षा के भेद से निवृत्त–प्रवृत्त इन दो भागों में विभक्त है। सिसृक्षामूलक मनः–प्राण–वाक् प्रधान प्रवृत्तकर्म्म के सहारे अक्षरतत्त्व विश्वप्रवृत्ति का कारण बनता है, यज्ञस्वरूपसम्पादक बनता है। एवं मुमुक्षामूलक-आनन्द-विज्ञान-मनः प्रधान निवृत्त-बल के सहारे वहीं अक्षरतत्त्व विश्वनिवृत्ति का कारण बनता है, यज्ञस्वरूपविध्वंसक बनता है। प्रवृत्तिकर्मयुक्त वही अक्षर विश्वयज्ञ का स्वरूपसम्पादक बनता हुआ साक्षात् विष्णु है, एवं निवृत्तकर्मयुक्त वही अक्षर विश्वनाशक बनता हुआ साक्षात् महेश्वर है। विष्णुरूप से वही संसार का पालक है, रुद्ररूप से वही संसार का संहारक है, ब्रह्मरूप से वही संसार का उत्पादक है, एवं अग्नीसोम रूप से वही उपादानद्रव्य का प्रेरक है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्थिति–गतिमत् है। बनता हुआ बिगड़ रहा है, बिगड़ता हुआ बन रहा है। स्थिति-गति के तारतम्य से ही विश्वपदार्थों में वैचित्र्य उत्पन्न होता है।

गति के गति–आगति भेद से दो विवर्त्त बतलाए गए हैं। अर्वाक्गति आगति है, पराग्-गति गति है। अर्वाक्गति विष्णु है, परागृगति इन्द्र है। अर्वाग् गतिरूप विष्णु स्थिति का रक्षक है। अतएव विष्णु को प्रतिष्ठा (ब्रह्मा) की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है। परागृगतिलक्षण इन्द्र स्थिति का नाशक है। इन दोनों रक्षक–विनाशक आगति–गतिरूप विष्णु–इन्द्र से युक्त सत्य-मूर्त्ति स्थितिलक्षण ब्रह्मा स्वस्वरूप से विश्व का उत्पादक है, विष्णुस्वरूप से विश्व का पालक है, एवं इन्द्र, किंवा पुराणभाषा के अनुसार महेश्वररूप से सृष्टिसंहार कारण है—"एका मूर्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः" । यही त्रिमूर्ति, किंवा पञ्चमूर्ति सत्याक्षर (पराप्रकृति) हमारा आत्मा (जीवात्मा) है, जैसा कि–"इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" इत्यादि से स्पष्ट है।

ऊपर बतलाया गया है कि इस अक्षरात्मा में विश्व की आहुति होती है। आहुतिद्रव्य का आत्मगर्भ में प्रविष्ट होजाना ही भोग है । इस भोग का आयतन "शरीर" कहलाता है । इस भोगायतन को उत्पन्न करना अग्नि- सोम नाम के दो अक्षरों का काम है। अग्नि विकास-शील बनता हुआ "तेज" है, सोम संकोचशील बनता हुआ "स्नेह" है। तेज गर्मी है, स्नेह सर्दी है। सर्दी–गर्मी का पारस्परिक सम्बन्ध ही ऋतु है। ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है। संवत्सर ही वृष्टिद्वारा भूतों का जनक बनता हुआ भूतानांपतिः कहलाता है। सम्पूर्ण मूर्त्तद्रव्य इसी से उत्पन्न हुए हैं। हमारा मूर्त्तशरीर भी इसी कारण का कार्य है। इसी आधार पर जाबाल म-हर्षि का–"अग्नीषोमात्मकं जगत्" यह निगम प्रतिष्ठित है।

अमृताक्षर का मर्त्य परिणामी भाग क्षर है। इस की भी ब्रह्मादि वे ही पांचों कलाएं हैं। पञ्चकल यह क्षर पुरुष ही अपरप्राकृति नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर इसी क्षर के द्वारा विश्व के जन्म-स्थिति-भंग का कारण बना हुआ है, जैसा कि–"जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि वेदान्त सि-द्धान्त से स्पष्ट है।

पञ्चकल अव्ययपुरुष, पराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध पञ्चकल अक्षरपुरुष, अपराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध पञ्चकल क्षरपुरुष की समष्टि ही अकार उकार-मकार हैं। अब प्रणवस्वरूप-

सिद्धि में केवल अर्द्धमात्रा बचजाती है । वह अर्द्धमात्रा, किंवा अमात्रा वही अनिर्वचनीय परात्पर है ।

सर्ववल विशिष्ट रस का ही नाम परात्पर है । जिस विशुद्ध रस में सत्ता-चेतना-आनन्द इन तीनों की उन्मुग्ध रूप से प्रतिष्ठा है, जो विशुद्ध आनन्दमूर्त्ति है, जिस का गुणानुवाद प्रकरणारम्भ में ही किया जा चुका है, वह विशुद्ध रस ही विशेषभाव प्रवर्त्तक वलों से पृथक् होता हुआ-"निर्विशेष" है ।

इस निर्विशेष रस में वललक्षण अनन्त मृत्युभाव नृत्य कर रहे हैं । मृत्युगर्भित यही रस ज्ञान है । असत्वलों की यही रस मौलिक सत्ता है । यहां वल सम्बन्ध से सच्चिदानन्द भावों का विकास है । यही उद्बुद्ध सच्चिदानन्द लक्षण, सर्ववलविशिष्टरसमूर्त्ति, अतएव सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म "परात्पर" है । इस प्रकार एक ही अनिर्वचनीय ब्रह्म के निर्विशेष (रस) परात्पर (अशेषवलगर्भितरस) ये दो रूप हो जाते हैं ।

इस परात्पर के भूमा-अणिमा-भूमाणिमा ये तीनरूप हो जाते हैं । सर्वथा असीम, अतएव अत्यनपिनद्ध महामहा परात्पर भूमालक्षण परात्पर है । सर्वथा असीम, अतएव अत्यनपिनद्ध शून्य विन्दुलक्षण परात्पर अणिमा लक्षण परात्पर है । जो भूमा है, वही अणिमा है । दोनों ही अगम्य-अगोचर-अनिर्वचनीय वनते हुए विश्वातीत हैं ।

वही परात्पर भूमाणिमारूप से विश्व में भी प्रतिष्ठित हो रहा है । विश्व से सम्बन्ध रखने वाले भूमा अणिमाभाव परस्पर में सापेक्ष हैं । एक ही पदार्थ छोटे की अपेक्षा भूमा है, वड़ की अपेक्षा अणिमा है । पाषाणखण्ड पर्वत की अपेक्षा अणिमा है, मृत्कण की अपेक्षा भूमा है । यही भूमाअणिमालक्षण परात्पर का तीसरा रूप है । इस तीसरे रूप में विश्वात्मा-एवं शरीरात्मा की तुलना में हम विश्वात्मा को महतोमहीयान कह सकते हैं, क्योंकि विश्वसीमा में विश्वात्मा से अतिरिक्त और कोई बड़ा नहीं है । एवं जीवात्मा को अणोरणीयान् कह सकते हैं, क्योंकि विश्व में सुसूक्ष्म जीवात्मा से अन्य कोई अणु नहीं है । विश्व में जो अंश भूमा-

णिमा का है, वही परात्पर है। यही अर्द्धमात्रा है। इस के सम्बन्ध से ही अव्यय-अक्षर-क्षर-मूर्त्ति विश्वात्मा षोडशीप्रजापति वन रहा है। परात्पर पहिला अमृतात्मा है, अव्यय दूसरा अमृतात्मा है, अक्षर तीसरा अमृतात्मा है। एवं आत्मक्षर चौथा अमृतात्मा है। परात्परयुक्त अव्ययात्मा आत्मा है, अक्षर प्राण है, क्षर वित्त है। समष्टि प्रजापति है। यह षोडशी प्रजापति अपनी अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीन ज्योतियों से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इस ईश्वर प्रजापति-लक्षण अमृतात्मा का वाचक प्रणव ही है—"तस्य वाचकः प्रणवः"।

"तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते" इस कठश्रुति के अनुसार उस एक ही आत्मा के-अमृत-ब्रह्म-शुक्र ये तीन विवर्त्त हैं। तीनों से अतिरिक्त वह स्वयं निर्विशेष पृथक् है, वही निरुपाधिक, निर्गुण आत्मा है। अमृतादि तीनों उस एक ही के तीन पृथक् पृथक् सोपाधिकरूप हैं। इन तीनों रूपों का सम्बन्ध ईश्वरात्मा से भी है, एवं जीवात्मा से भी है। ईश्वरात्मा का आत्मविवर्त्त स्थूलदृष्टि से चार भागों में, सूक्ष्मदृष्टि से १२ भागों में विभक्त है, एवं जीवात्मा का आत्मविवर्त्त १८ भागों में, विभक्त है। अष्टादशात्मवर्गात्मक जीवात्मविद्या प्रतिपादक गीताशास्त्र के १८ अध्यायो का भी यही मौलिक रहस्य है, जैसा कि भाष्यभूमिका प्रथमखण्ड में विस्तार से वतलाया जा चुका है।

१—ईश्वरात्मव्यूहप्रदर्शन

ईश्वर-जीव एक एक आत्मा नहीं है, अपितु दोनों हीं आत्मव्यूह हैं। इनमें सर्वप्रथम ईश्वरात्मव्यूह का ही विचार कीजिए। ईश्वरात्म के अमृतात्मा का स्वरूप वतला दिया गया। परात्परात्मा-अव्ययात्मा-अक्षरात्मा-आत्मक्षरात्मा चारों की समष्टि अमृतसत्यात्मा है, यही अमृतात्मव्यूह है, यही षोडशी प्रजापति है, यही सहस्रवल्शायुक्त अश्वत्थ है। इसी का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

यस्मात् परं नापरमस्तिकिञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

"षोडशीप्रजापति एक अमृत सत्यात्मा है, इस में अवान्तर चार आत्मविभाग हैं।" इस सम्बन्ध में पाठकों को केवल एक प्रश्न करने का अवसर रह जाता है। वह प्रश्न है प्रमाण विषयक। पाठकों के चित्तसमाधान के लिए हम कुछ एक प्रमाण भी साथ साथ उद्धृत करना चाहते हैं, जिनके आधार पर वे भी अपनी उस एकमात्र निर्विशेष भावना के साथ साथ शास्त्र सम्बन्धी आत्मव्यूह की ओर अपना ध्यान आकर्षित कर सकें। ईश्वरप्रजापति षोडशी है, इस सम्बन्ध में "यस्मादन्यो न परो०" इत्यादि प्रमाण पूर्व में उद्धृत होचुका है। अब क्रमशः परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर इन चारों आत्मविवर्त्तों के सम्बन्ध में श्रौतप्रमाण उद्धृत किए जाते हैं।

१—परात्परः (निष्कलः)।

१—यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मु० उ० ३।२।८।)।

२—नायमात्मा-प्रवचेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ० १।२।२२।)

३—बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥
मु० उ० ३।१।७।)।

४—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(मु० उ० ३।१।८।)।

५—ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मु० २।२।११)।

६—मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥
(मु० २।२।७)।

७—यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥ (केन० २।११)।

८—ततो यदुत्तरत्तरं तदरूपमनामयम् ।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥
(श्वेता० ३।१०)।

९—तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

—२—

१—गङ्गा, यमुना, सरस्वती कावेरी, कुभा, वेत्रवती, चन्द्रभागा, शतद्रू, विपाशा आदि नदिएं अपना अपना स्वतन्त्र नाम रूप कर्म्म छोड़ कर समुद्र में लीन हो जातीं हैं। उस समय केवल अनन्त समुद्र ही शेष रह जाता है। इसी प्रकार नाम-रूप से विमुक्त विद्वान् (ज्ञान-योगी) उस दिव्य परात्पर पुरुष में लीन होता हुआ तद्रूप ही बन जाता है।

श्रुतिनें परात्पर को पुरुष कहा है, इस का एकमात्र कारण प्राजापत्यसंस्था ही है। प्रजापति को षोड़शी पुरुष कहा गया है। परात्पर इसकी एक कला है। यद्यपि यह स्वस्वरूप से मायापुर से पृथक् रहता हुआ पुरुषमर्य्यादा से बहिर्भूत है। तथापि पुरुषसंस्था में प्रविष्ट होने के कारण लक्षणया इसे पुरुष कह देना अनुचित नहीं है। षोड़शी पुरुष के दिव्य-लौकिक

दो रूप हैं। दिव्यषोडशी ईश्वर है, लौकिकषोडशी जीव है। उक्त श्रुति दिव्यषोडशी के परात्पर का ही दिग्दर्शन करा रही है, अतएव "पुरुषमुपैति दिव्यम्" यह कहा गया है।

पाठकों को स्मरण होगा कि, हमनें अनन्त परात्पर की अनन्त समुद्र के साथ तुलना की थी। श्रुति जहां परात्पर को पुरुष शब्द से व्यवहृत करती हुई इसे प्रजापतिसंस्था से युक्त वतला रही है, वहां समुद्र को दृष्टान्त में रखती हुई इसकी अनन्तता, अनवच्छिन्नता भी सूचित कर रही है। नाम-रूप-कर्म्म का भी उपलक्षण है। नाम-रूप-कर्म्म तीनों का अव्यय पुरुष के मन-प्राण-वाक् से सम्बन्ध है। "मनः-प्राण-वाङ्मय नामरूपकर्म्म से विमुक्त पुरुष ही उस परात्पर पर पहुंच सकता है" यह कहती हुई श्रुति स्पष्ट ही परात्पर को अव्यय से पृथक् सिद्ध कर रही है। नामरूप मर्य्यादा अव्यय पर ही समाप्त है। अनन्त परात्पर नामरूप मर्य्यादा से वहिभूत है।

—१—

२—यह आत्मा शब्दप्रवचन से प्राप्त नहीं किया जासकता। आशुग्रहणशीला बुद्धि भी उसे प्राप्त नहीं कर सकती। जीवनभर उपदेश सुननें से भी उस का बोध नहीं हो सकता। हां जिस जीवात्मा का यह परात्परात्मा वरण कर लेता है, उसी विज्ञ जीवात्मा से यह प्राप्त करने योग्य है। उस जीवात्मा का यह परात्परात्मा (जीवात्मा के लिए) अपना भूमारूप शरीर प्रकट कर देता है।

शब्दातीत एकमात्र परात्पर ही हो सकता है। असीम परात्पर ही बुद्धि से अतीत है। जब वहां शब्द की गति ही नहीं तो उस के सम्बन्ध में शब्दश्रवण क्या उपकार कर सकता है। आवरण के आत्यन्तिक निराकरण होजाने से जब परात्पर का स्वत एव जीवात्मा पर अनुग्रह होजाता है, तब विना किसी प्रयास के यह उस भूमालक्षण परात्पर को प्राप्त हो जाता है।

—२—

३—वह बृहत् है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म वह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। वह दूर से दूर है, समीप से समीप है। देखनेवालों के लिए वह इसी अध्यात्मगुहा में प्रविष्ट है।

जो तत्त्व निःसीम होता है, उसे ही लोकभाषा में बृहत (बड़ा) कहा जाता है। जो तत्त्व अपरिच्छिन्न होता है, वही परिच्छिन्न मन से अचिन्त्य है। अव्यय सूक्ष्म है, परन्तु परात्पर इस सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। जो तत्व व्यापक होता है, वही दूर से दूर है, समीप से समीप है, अर्थात् सर्वत्र है। बुद्धियोगी उसे यहीं प्राप्त कर सकता है।

—३—

४—न वह आंख से देखा जासकता, न वाणी से कहा जासकता, न किसी अन्य देवता से एवं कर्म्म से उस का ग्रहण हो सकता। ज्ञान के अनुग्रह से जब जीवात्मा विशुद्धमूर्त्ति रह जाता है, तो उस समय यह ध्याता ध्यानयोग (ज्ञानयोग-बुद्धियोग) के प्रभाव से उस निष्कल को देख लेता है।

असीम परात्पर इन्द्रियातीत है। असीम परात्पर की उपासना नहीं हो सकती। आत्मदेवता से अन्य देवता की ही उपासना होती है। एवं अन्यदेवोपासना से देवता की ही प्राप्ति होती है। यज्ञकर्म्म की भी वहां गति नहीं है। वह एकमात्र बुद्धियोगापर पर्य्यायक ज्ञानयोग से ही प्राप्त होसकता है। अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों हीं पञ्चकल वनते हुए सकल हैं, निष्कल केवल परात्पर ही है। उपासना-कर्म्म दोनों का कलाभाव से सम्बन्ध है। अतएव न उसे उपासक प्राप्त कर सकता, न कर्मठ।

—४—

५—"वह अमृतब्रह्म ही पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तर-नीचे ऊपर सब ओर व्याप्त हो रहा है। वही विश्व है, वही सब कुछ है।" यह तत्व वही आपका परात्पर है। दिशाएं उस दिग्देशकालातीत को कभी सीमित नहीं कर सकतीं।

—५—

६—मनोमय, प्राणात्मक क्षरशरीर का संचालक अक्षरपुरुष अन्न में प्रतिष्ठित होता हुआ हृदय में विद्यमान है। धीर (बुद्धियोगी) पुरुष इस अक्षर के परिज्ञान से उसे देख लेते हैं, जो कि आनन्दामृतरूप प्रकाशित होरहा है।

हृदय अक्षररूप है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। क्षरप्रपञ्च अन्न है। इसी पर यह प्रतिष्ठित है। अक्षर परिज्ञान से ही अविद्याग्रन्थि का विमोक होता है। ग्रन्थिविमोक से ही सीमा का उच्छेद होता है। एवं तभी उस निःसीम परात्पर के दर्शन होते हैं।

—६—

७—जो व्यक्ति यह कहता है कि मैंनें उसे अपने मन से बड़ा पाया, मेरा मन उस की थाह न लगा सका, सचमुच उसने थाह लगाली। जो यह कहता है कि मेरा मन वहां पहुँच गया, विश्वास करो उसने उसे न पहिचाना। इसी तरह जो बुद्धियोगी उसे जान गया है, वह यही कहेगा कि, भाई वह जानने की वस्तु नहीं है। आज भी वह मेरे लिए अविज्ञात ही है। इस प्रकार जिसके मुख से "वह अविज्ञात है" यह अक्षर निकल रहे हैं, सचमुच वह उसे जान गया। ठीक इसके विपरीत जो यह कहता है कि, मैने अपनी बुद्धि से उसे जान लिया, विश्वास करो उसने उसे न पहिचाना। मन-बुद्धि दोनों ससीमभाव का मनन-ज्ञान कर सकते हैं। असीम परात्पर दोनों से अतीत है।

—७—

८—(अव्यय से भी) जो उत्तरतर है, वही आत्मरूप सर्वथा अनामय (क्लेश रहित) है। जो इसे जानगए, वे अमृत बन गए। एवं आत्मज्ञानवञ्चित दूसरे अन्य (संसारी लोग) दुःख में ही निमग्न रह गए।

उत्तर-उत्तम दोनों प्रायः समानार्थक हैं। त्रिपुरुषों में अव्यय उत्तमपुरुष होता हुआ उत्तर है। परात्पर इस उत्तर से भी उत्तर (पर-अव्यय-से भी पर-परात्पर) है, अतएव श्रुतिने इसे उत्तरतर कहा है। ध्यान रहे, अभी प्रजापतिसंस्था से कुछ भी सम्बन्ध न रखने

वाला निर्विशेषलक्षण परात्पर और बाकी बचा हुआ है। वह इस उत्तरतर से भी उत्तर बनता हुआ उत्तरतम है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए श्रुतिने इस संस्था सम्बन्धी परात्पर को उत्तरतम न कहकर उत्तरतर ही कहा है। परिच्छेद ही आमय (क्लेश) का जनक है। परात्पर चूँकि अपरिच्छिन्न है, अतएव इसके उस भूमारूप को " अनामय " कहा है।

—८—

९—धीर बुद्धियोगी का कर्त्तव्य है कि वह उसे जानकर एकमात्र उसी को चिन्तन में मनोयोग रक्खे। अधिक शब्दजाल से बचता रहे, कारण केवल शब्दाडम्बर वाक् का मन्थन है। यथार्थ है, जब वहां शब्द की गति ही नहीं, तो उसके सम्बन्ध में वाणी को श्रम देना व्यर्थ है। वहां तो इन्द्रियों का प्रत्यगावर्त्तन ही अपेक्षित है।

—९—

—१—

२—अव्ययः

१—सदृशां त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ (गो० ब्रा० पू० १।२६)।

२—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति॥
(मुण्डक० ३।२।७)।

३—पुरुष एवेदं विश्वं कर्म्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥
(मुण्डक० २।१।१०)।

४—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ मुण्डक० २।१।२)।

५—अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता । (श्वे० १।९)।

६— क्षरं प्रधान, ममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
श्वेता० १।१०)।

७—सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ (श्वेता० १।१६)।

८—सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ श्वेता० ३।१७)।

९—न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥
(श्वेता० ६।८)।

१०—यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः ।
स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोति ।
स नो दधातु ब्रह्माव्ययम् ॥ (श्वेता० ६।१०)।

११—नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥
(श्वेता० ५।१०)।

१२—एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता-भोग्यं-प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म वै तत् ॥
(श्वेता० १।१२)।

१३—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेता॰ ६।७)।

१४—ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥
(श्वेता॰ ३।७)।

—२—

१—स्त्री, पुरुष, नपुंसक भेद भिन्न तीनों प्रकार की लैङ्गिक सृष्टियों में अलिङ्ग, अभिव्यक्ति-स्वरूपसम्पादक व्यक्तिभावात्मक विभक्तियों में अविभक्तरूप (एकरूप) से विद्यमान, वाङ्मय प्रपञ्च में एकरसरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ जो तत्त्व स्वयं खण्डभावों में परिणत नहीं होता, वही अव्यय (वैविध्यं न गच्छति) है ।

—१—

२—मुक्त बुद्धियोगी जब शरीरत्रयी (स्थूल-सूक्ष्म-कारण) का परित्याग करता है, तो इसकी १५ कलाएं (५ अव्ययकला, ५ अक्षरकला, ५ क्षरकला) अपनी प्रतिष्ठारूप उन ईश्वर की १५ कलाओं में प्रतिष्ठित होजाती हैं । अग्निमयी वाक्, वायुमय प्राण, आदित्यमय चक्षु, भास्वर-सोममय मन, एवं दिक्सोममय श्रोत्र ये पांचों आध्यात्मिक देवता आधिदैविक देवताओं में (क्रमशः पार्थिव-अग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य आदित्य, चन्द्रमा एवं दिक्सोम में) लीन हो जाते हैं । प्रवृत्ति-निवृत्ति मूलक सम्पूर्ण सञ्चित कर्म्म, प्रज्ञानमनोयुक्त विज्ञानमय वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ लक्षण कर्म्मणा यह सब प्रपञ्च उस ईश्वरीय अव्यय में (जो कि पर नाम से प्रसिद्ध है) एकीभूत हो जाता है ।

—२—

३— यह सम्पूर्ण विश्व अव्यय पुरुष का ही विवर्त्त है । परामृत (अव्ययामृतात्मा) नाम से प्रसिद्ध वह अव्यय विश्व में अपने ज्ञानमय मनोभाग से ब्रह्म, प्राणमय क्रियाभाग से तप, एवं

वाङ्मय अर्थभाग से कर्म्म बना हुआ है। हे प्रियशिष्य! अध्यात्मगुहा में प्रतिष्ठित इस सर्व-मूर्त्ति अव्यय को (बुद्धियोग द्वारा) जो जान लेता है, वही संसारबन्धनमूला अविद्याग्रन्थि को तोड़नें में समर्थ है।

—३—

४—(प्रत्येक पदार्थ में रहने वाला वह अव्यय) दिव्य है (लोकात्मक भूतभाग से असंसृष्ट) है, अतएव अमूर्त्त है, अतएव (भूतों में) बाहर भीतर (रहता हुआ भी) अज (जन्म-मृत्यु-लक्षण द्वन्द्वरहित) है। वह स्वयं प्राणघन है, इसलिए-"सामान्ये सामान्या-भावः" के अनुसार अप्राण है, वह स्वयं मनोघन है, इसलिए अमना है, वह विशुद्धज्योतिर्म्मय है, अतएव शुभ्र है। ऐसा यह पर-पुरुष (अव्ययपुरुष) अक्षर से परे प्रतिष्ठित है।

जो महानुभाव परात्पर अव्यय-अक्षर सब को एक ही अर्थ का वाचक समझते हुए आत्मव्यूह के विश्लेषण में असमर्थ हैं, उन्हें थोड़े से अवधान से काम लेना चाहिए। जब कि श्रुति विस्पष्ट शब्दों में-"अक्षरात् परतः परः" इत्यादि रूप से अव्यय—अक्षर का पार्थक्य बतला रही है तो उन व्याख्याताओं को क्या अधिकार था कि उन्होंनें विभक्त आत्मव्यूह को इस तरह आवृत कर डाला।

—४—

५—विश्वदृष्ट्या अनन्त, विश्वरूप वह अव्ययात्मा (सब कुछ करता हुआ भी) अकर्त्ता है।

—५—

६—क्षर प्रधान (प्रकृति–उपादान) है, अक्षर अमृत है। इन दोनों का प्रभुदेव एक (अव्यय) है। इस एक देव के अभिध्यान से, बुद्धियोजना से, तत्वभाव प्राप्ति से अन्त में विश्वमाया निवृत्त होजाती है। यहां स्पष्ट ही क्षर-अक्षर-अव्यय तीनों का पार्थक्य सिद्ध हो रहा है। सचमुच इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों के रहते हुए भी जब व्याख्याताओं का एकात्मवाद हमारे सामने आता है, तो उनकी बुद्धि पर तरस आए बिना नहीं रहता।

—६—

७-(जो बुद्धियोगी-उस अव्ययात्मा को इस भौतिक विश्व में) सर्वव्यापक समझता है, दूध में घृत की तरह निगूढ देखता है, आत्मविद्या, एवं आत्मतप का मूल समझता है, वही ब्रह्म की वास्तविक उपनिषत् को पहिचानता है। कारण यही ब्रह्म की पर (अव्ययलक्षण) उपनिषत् है।

—७—

८—वह (अव्ययात्मा) सम्पूर्ण इन्द्रियों, एवं तीनों गुणों का मूल प्रवर्त्तक है, परन्तु स्वयं (नियतेन्द्रिय लक्षण) सर्वेन्द्रियों से परे है। सम्पूर्ण विश्व प्रपञ्च का प्रभु (उत्तमभर्त्ता-पोषक) है, ईशान (शासक) है, शरण (आश्रय-आलम्बन) है, क्योंकि (वही इस विश्व में सब से) बड़ा है। "प्रभुः साक्षी-निवासः शरणं सुहृत्" इत्यादि रूप से स्वयं गीताने भी अव्यय के इन्हीं श्रौतधर्म्मों का दिग्दर्शन कराया है।

—८—

९—न उस (अव्ययपुरुष) का कोई कार्य्य है, न कारण है। अर्थात् वह किसी से उत्पन्न न होने से जब कार्य्यरूप नहीं है, तो उसका कारण भी कौन हो सकता है। साथ ही में वह स्वयं भी न तो किसी का कार्य्य है, न कारण (उपादान एवं निमित्त) है। विश्व कार्य्य है, इस का उपादान क्षर है, निमित्तकारण अक्षर है। अव्यय कार्य्य-कारण दोनों से अतीत है। हां इतना अवश्य है कि इस अव्यय पुरुष की जो स्वाभाविकी शक्ति (पराप्रकृतिरूप अक्षर, एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर) है, वही ज्ञान-बल-क्रिया रूपों में परिणत होकर विश्व का उपादान, एवं निमित्त बनीं हुई है।

—९—

१०—वह अव्ययपुरुष अक्षरयुक्त क्षर नाम के प्रधान (प्रकृति) से उत्पन्न होने वाले विश्वसूत्रों से उसी प्रकार आवृत हो रहा है, जैसे कि अव्ययस्थानीया एक मकड़ी हृदयस्थानीय प्रधान से उत्पन्न तन्तुजाल से आवृत हो जाती है। इस प्रकार अपने रूप से आप ही आवृत होने वाला वह ब्रह्मदेव हमें अपने अव्ययरूप में प्रतिष्ठित करें।

—१०—

११—सर्वत्र समरूप से रहता हुआ यह असङ्ग पुरुष स्वस्वरूप से न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। अपितु जिस प्रकार अपना कोई भी आकार न रखता हुआ यानी कृष्ण-हरित रक्त-पीतादि वर्णों से युक्त होकर वैसा का वैसा ही प्रतिभासित होने लगता है, एवमेव यह अव्यय भी स्वयं निराकार रहता हुआ जिस जिस शरीर के साथ सम्बन्ध करता है, तद्रूप प्रतीत होने लगता है।

—११—

१२—अपनी आध्यात्मिकसंस्था में प्रतिष्ठित इसी अव्ययात्मपुरुष को जानने का प्रयास करना चाहिए। इससे बढ़कर और कोई भी जानने योग्य नहीं है। इसे भोक्ता (अक्षर)-भोग्य (क्षर)-प्रेरयिता (अव्यय) समझ कर ही इसे ढूँढना चाहिए। ये ही ब्रह्म के तीन रूप हैं।

—१२—

१३—आभू प्रतिमा, जीवादि जितने भी अवान्तर ईश्वर इस विश्वगर्भ में प्रतिष्ठित हैं, उन सब का यह महामायावच्छिन्न अव्यय परम महेश्वर है। ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि यच्च यावत् देवताओं का यह परमदेवता है। पालकों का पालक है। सम्पूर्ण भुवनों से वन्द्य इस परमपरस्तात् देव को मैं प्राप्त होगया हूँ।

—१३—

—२—

२—अक्षरः

१.—यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
(मुण्डक २।१)

२—एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥
(श्वेता० २।१६)।

३—यो देवो अग्नौ, यो अप्सु, यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः ॥ (श्वेता० २।१७) ।

४—य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥(श्वेता० ३।१)।

५—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(श्वेता० ३।१३)।

६—यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ (श्वे० ४।११)।

७—यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्नचासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥
(श्वे० ४।१८)

८—यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥
(श्वे० ५।५)।

९—आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥
श्वे० ६।५)।

१०—स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थिति बन्धहेतुः ॥ (श्वे० ६।१६)।

११—धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य ! विद्धि ॥
(मुण्डक० ३।२।३)।

१२—यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ।
(मुण्डक० ३।२।५)।

१३—यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥ (मुण्डक० १।१।८)।

१४—एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
(कठ० १।२।१६)।

१५—भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (मु० २।२।८)।

१६—स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदति वर्त्तन्ति धीराः ॥
(मुण्डक० ३।२।१)।

१७—तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ।
(श्वेता० ५।६।) ।

—१३—

—२—

१—जिस प्रकार एक धधकते हुए अङ्गार से उसी के आकार के छोटे मोटे सकड़ों हजारों विस्फुलिङ्ग [चिनगारिएं] उत्पन्न होतीं रहतीं हैं, ठीक इसी प्रकार [क्षरगर्भित] अक्षर

से [हे सोम्य !] अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होतें रहते हैं, एवं अन्त में उसी में लीन होते रहते हैं।

—१—

२—यही अक्षर देवता सम्पूर्ण दिशाओं में व्याप्त रहने वाला पूर्वदेव (पहिले प्रकट होने वाला सृष्टिनिमित्त) है। यही गर्भ में प्रतिष्ठित होकर जीवस्वरूप से उत्पन्न हुआ है, यही आगे जीवरूप से प्रकट होगा। प्रत्येक प्राणी के प्रति यह प्रत्यग्भाव से (हृदय में) प्रतिष्ठित होकर रश्मिरूप से सर्वतोमुख बना हुआ है । "जीवभूतां महाबाहो" इत्यादि गीतासिद्धान्त के अनुसार पराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध यही अक्षर जीवसृष्टि का अधिष्ठाता माना गया है।

—२—

३—जो अक्षर देवता (अन्तर्य्यामी रूप से) अग्नि, पानी, एवं सम्पूर्ण विश्व में विश्व के सातों भुवनों में प्रविष्ट है, जो ओषधि वनस्पतियों में प्रतिष्ठित है, ऐसे अक्षर देव के लिए हमारा बार बार नमस्कार है।

हृ-द-य रूप से त्र्यक्षरमूर्त्ति अक्षर प्रजापति ही प्रत्येक वस्तु के हृदय में प्रतिष्ठित होकर उसका संचालन करता है, अतएव अक्षर को अन्तर्य्यामी कहा जाता है। प्रकृत श्रुतिने अन्तर्य्यामी रूप से ही अक्षर की स्तुति की है।

—३—

४—क्षरजाल से जालवान् बना हुआ अक्षर अपनी शासनसूत्रप्रणालीरूप नियति से क्षरजाल का, एवं क्षरजाल से उत्पन्न विश्व का शासन कर रहा है। यही उद्भव (मैथुनीसृष्टि) का कारण (क्षरविद्या) है, यही ऋषि-मनु-आदि के सम्भव (भावसृष्टि) का कारण (अव्ययविद्या) है। जो इसे जान जाते हैं, वे अमृतभाव को प्राप्त होजाते हैं।

अक्षर के उस ओर अव्यय है, इस ओर क्षर है। क्षर से अक्षरद्वारा भूतोत्पत्ति होती है, एवं अव्ययद्वारा यही अक्षर भावोत्पत्ति का कारण बनता है। अव्यय भावसृष्टि का, क्षर

विकारसृष्टि, किंवा मैथुनीसृष्टि का अधिष्ठाता है। गुणसृष्टि का अधिष्ठाता स्वयं अक्षर अव्यय-द्वारा सम्भूति (भावसृष्टि) का कारण बनता है, एवं क्षरद्वारा उत्पत्ति (मैथुनीसृष्टि) का कारण बनता है, यही तात्पर्य्य है।

—४—

५—(अन्तर्य्यामी नाम से प्रसिद्ध, अतएव) अन्तरात्मा (कहलाने योग्य) पुरुष प्राणियों के हृदय में अंगुष्ठमात्र स्वरूप धारण कर प्रविष्ट होरहा है। यह हृदयस्थ अन्तर्य्यामी हृदय से, हृदयस्थित मनीषाभावयुक्त (बुद्धियोगयुक्त) मन से ही पकड़ा गया है, जो इसे जान लेते हैं, वे अमृतभाव को प्राप्त होजाते हैं।

—५—

६— जो अक्षरतत्त्व विश्वयोनिरूप योनिभाव पर प्रतिष्ठित रहने वाला एकाकी है, जिस में यह सम्पूर्ण प्रपञ्च समाजाता है, एवं जिस के द्वारा उत्पन्न होता है, उस सर्वेश, वरप्रद प्रणम्य देव को पृथक् छांटकर बुद्धियोगी इस (सुप्रसिद्ध) आत्यन्तिक शान्ति को प्राप्त होजाता है।

परिणामी क्षर विश्व का उपादान है। उपादान कारण ही अपने कार्य की योनि माना गया है। भौतिकसृष्टि का उपादान कारण चूंकि क्षर है, अतएव हम इसे विश्वयोनि, किंवा भूतयोनि कहने के लिए तय्यार हैं। क्षरयोनि मर्त्यविकार के कारण नानाभावापन्न है। इस भूतयोनिरूप क्षर-कूटपर एक ही कूटस्थ अक्षर प्रतिष्ठित रहता है। इस की अव्यक्तावस्था में प्रलय है। व्यक्तावस्था में सृष्टि है जबतक यह क्षर बुद्धि से देखा जाता है, दूसरे शब्दों में जबतक क्षरविशिष्ट अक्षर पर दृष्टि रहती है, तबतक यह अक्षर विश्वप्रवृत्ति का, किवा विश्वबन्धन का कारण बना रहता है। परन्तु बुद्धियोगद्वारा यदि इसे क्षर से सर्वथा पृथक् करके देखा जाता है, तो यही विशुद्ध अक्षर हृद्ग्रन्थिविमोक का कारण बनता हुआ अव्यय पर पहुंचा देता है, जोकि अव्यय परा-शान्ति की आवासभूमि है।

—६—

७—जिस समय यह सब कुछ प्रपञ्च तम के गर्भ में प्रविष्ट था, जिस अप्रतर्क्य अनिर्देश्य, अलक्षण, अप्रज्ञात, प्रसुप्तवत् युग में न दिन था, न रात थी, न सत् था, न असत् था, उस समय केवल (अव्ययशान्ति से शिव बना हुआ) शिवमूर्त्ति अक्षर ही था। (गायत्री के उपासकों का) यही अक्षर सविता देवता का संग्रहणीय तत्व है। इसी से वह पुरातना प्रज्ञा (ज्योतिर्म्मय अन्तर्मन) निकली है, जो कि शिवभाव की मूलभूमिका है, एवं जिस प्रज्ञानेत्र के सम्बन्ध से अक्षरमूर्त्ति शिव त्रिनेत्र कहलाते हैं।

—७—

८—जो विश्वयोनि (अक्षर) अपने स्वभाव (क्षर) का परिपाक करता है। पाकयोग्य (भौतिक) पदार्थों को जो तत्त्व परिणामी बनाता है, वही इस सम्पूर्ण विश्व का एकमात्र अध्यक्ष है। जोकि सर्वाध्यक्ष त्रिगुणभावों का सृष्टिप्रक्रिया में उपयोग करता है।

यद्यपि विश्वयोनि क्षर का नाम है, जैसाकि पूर्वश्रुति में बतलाया गया है। तथापि अक्षर चूकि क्षर के बिना अनुपपन्न है, अतः तत्सम्बन्ध से इसे भी विश्वयोनि कह दिया गया है। विश्व की योनिरूप क्षर की जो योनि है, उसे भी अवश्य ही विश्वयोनि (सर्वयोनि) कहा जासकता है। विश्वशब्द संसार का भी वाचक है, एवं सर्व का भी द्योतक है। "विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव" "य इमा विश्वा भुवनानि" इत्यादि मन्त्रों में सर्वता के अभिप्राय से ही विश्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। तथैव प्रकृतश्रुति का विश्वयोनि शब्द भी सर्वयोनि का ही सूचक है। क्षर अक्षर का ही मर्त्यरूप है, अतएव यह अक्षर का "स्व-भाव" (अपना भाव) माना जासकता है। सृष्टिकामुक अक्षर सृष्ट्युपादान के लिए इस स्वभावभूत क्षर का ही परिपाक करता है। भृगु-अङ्गिरा के तप से क्षर को युक्त करना ही इस का परिपाक है। पाच्य वैकारिक क्षररूप भौतिकपदार्थ स्वस्वरूप से सर्वथा जड़ हैं। इन्हें तत्तत् परिणामों के लिए आगे करना एकमात्र अन्तर्य्यामी अक्षर का ही काम है। "ययेदं धार्यते जगत्" इस गीता सिद्धान्त के अनुसार पराप्रकृति लक्षण यही अक्षर विश्व का अधिष्ठाता माना गया है। व्यक्त क्षर प्रकृति

के तीनों गुणों को सृष्टि के लिए विनियुक्त करना भी इसी नियन्ता अक्षर का काम है।

—८—

९—वह अक्षरात्मा सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च का आदि है। वही (भौतिक क्षरपरमाणुओं के) संयोगनिमित्तो का मूल कारण है। वह अव्यक्त–व्यक्त–अव्यक्त तीनों कालों से अतीत होता हुआ अकल भी देखा गया है। विश्वरूप (सर्वरूप) भूतभावन, प्रणम्य उस देव की जोकि देव स्वस्थचित्त (स्थिरप्रज्ञा) पर प्रतिष्ठित रहता है, उपासना करनी चाहिए।

विश्व का निमित्त कारण अक्षर है, अतः हम अवश्य ही इसे विश्वादि कह सकते हैं। भौतिक परमाणुओं का पारस्परिक संयोग [ग्रन्थिबन्धनलक्षण अन्तर्य्यामसम्बन्ध] ही भौतिकसृष्टि का प्रधान निमित्त है। इस निमित्त का निमित्त [हेतु] वही अक्षर है। अक्षर ही प्राणात्मक बनता हुआ विधर्त्ता है। क्षरपरमाणुओं को एकसूत्र में बद्ध रखना विधर्त्ता अक्षर का ही काम है। भूत-भविष्यत् वर्त्तमान का, वा अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त इन तीनों कालों का क्षणभावापन्न क्षरप्रपञ्च के साथ ही सम्बन्ध है। अविनाशी, शाश्वत अक्षर ऐसे त्रिकाल से परे है। यद्यपि वह पञ्चकल होने से सकल है, परन्तु सकलक्षरकूट में एकरूप से प्रतिष्ठित रहने के कारण उसे हम अकल ही देखेंगे। भूत को सृष्टि के लिए भावित करने के कारण ही वह भूतभावन, किंवा भवभूत नाम से प्रसिद्ध है। भौतिक विषयासक्ति से चित्त की प्रज्ञा अस्थिर होजाती है, अक्षर का स्वरूप बिगड़ जाता है। ऐसा अक्षर क्षर का अनुगामी बनता हुआ, अनुपास्य है। उपास्य है एकमात्र स्थिरप्रज्ञा पर प्रतिष्ठित शान्तअक्षर।

—९—

१०—वह विश्वनिर्म्माता है, विश्वप्रपञ्च का ज्ञाता है, जीवात्मा की योनि है, ज्ञानमूर्त्ति है, काल (क्षर) का भी काल है। सगुण है। सर्वज्ञ है। प्रधान (क्षर) नाम के क्षेत्रज्ञ का पति है। गुण (गुणमयी व्यक्त क्षर प्रकृति) का वह ईश है। वही सम्पूर्ण विश्व की मोक्ष [भंग], स्थिति, बंध का कारण है।

क्षर उपादान है, अक्षर निमित्त है। निमित्त को ही कर्त्ता, किंवा निर्म्माता कहा जाता है। वह अक्षर अव्यय के ज्ञान से अपने द्वारा निर्मित विश्व का ज्ञाता [भोक्ता] बना हुआ है। जीवात्मा की स्वरूपनिष्पत्ति अव्ययक्षरगर्भित अक्षर से ही हुई है। क्षर मृत्युरूप होने से काल है। सम्पूर्ण विश्व का इस उपादान कारण में ही लय है। परन्तु कालरूप क्षर का इस अक्षरगर्भ में लय है, अतः यह काल-काल है। विश्व क्षेत्र है। इस का पति क्षेत्रज्ञ क्षर है। अक्षर इस का भी पति है। इसी अक्षर से क्षर द्वारा विश्व की मुक्ति–स्थिति–बन्धन होते हैं।

—१०—

११—हे आत्मजिज्ञासु! औपनिषद ज्ञानरूप धनुष को हाथ में उठा। उस पर उपासना-रूप महास्त्र [अन्वर्थ] शर [तीर] को तान। शर रखकर उसे कान तक खेंच। शर-धनुष, एवं स्वयं इन तीनों का भेद छोड़ता हुआ तन्मय बन कर लक्ष्य पर तीर छोड़दे। लक्ष्य वही अक्षर है, हे सोम्य! उसी को वींध डाल।

अव्यय का ज्ञानयोग से, क्षर का कर्म्मयोग से सम्बन्ध है। उपासना का एकमात्र मध्यपतित अक्षर से ही सम्बन्ध है। कारण इस का यही है कि, उपासना में ज्ञान–कर्म्म दोनों का भाग है। इसी भागसम्बन्ध से इसे भक्तियोग कहा जाता है। अक्षर मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ दोनों से युक्त है।

—११—

१२—जिस आत्मा [अक्षर] में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ तीनों ओत [प्रविष्ट] हैं, जिस में प्रज्ञानमन अपने प्राणात्मक इन्द्रिय के साथ प्रतिष्ठित हो रहा है, उसी एकमात्र अक्षर को आत्मा [जीवात्मा] समझो, और सब निरर्थक का वाक्प्रपञ्च [वितण्डावाद] छोड़ो। यही आत्मा अमृत [अव्यय] का किनारा है।

जगद्धारक अक्षर ही जगत् का आधार बन सकता है। साधारण मनुष्यों ने इन्द्रिय मन आदि को ही आत्मा समझ रक्खा है। वस्तुतः आत्मा वह है, जिस में ये सब प्रतिष्ठित है।

ये सब क्षरप्रपञ्च है, अतएव अनेक हैं। उधर कूटस्थ अक्षर एक है। अमृतात्मा [अव्ययात्मा] की प्राप्ति का उपाय एकाक्षरज्ञान [एकाक्षरोपासना] ही है।

—१२—

१३—जो सर्वज्ञ है, सर्ववित् है, जिस का तप [प्राणव्यापार] ज्ञानमय है, उस से [अक्षरसे] ब्रह्म [भूतप्रतिष्ठा लक्षण क्षर], नामरूपात्मक ज्योति, एवं अन्नात्मक यज्ञ उत्पन्न हुआ है ।

अव्ययज्ञान से मध्यस्थ अक्षर सर्वज्ञ बना हुआ है, क्षरार्थ से यह सर्ववित् बना हुआ है, एवं स्वप्राण से यह सर्वशक्ति बना हुआ है। हमारा कर्म्म भी तप है, परन्तु यह ज्ञानमय [ज्ञान-प्रधान] नहीं है। अतएव हमारा कर्म्म अभ्युदय के स्थान में पतन का कारण बन जाता है। उधर ईश्वराक्षर का तप [कर्म्म] ज्ञानप्रधान बनता हुआ विश्व-विभूति का भी कारण बन जाता है, एवं असंग ज्ञान के प्रभाव से वह विश्वबंधन में भी बद्ध नहीं होता। यही ईश्वर प्रजापति का अबन्धन बुद्धियोग है। "ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" के अनुसार क्षर ही ब्रह्म है, इस का विकास उक्त लक्षण अक्षर से ही हुआ है। नाम-रूप सत्यरूपा ज्योति है। अक्षर ही इस ज्योति का प्रभव है। ब्रह्माक्षर ही अन्नात्मक वैष्णवयज्ञ का प्रवर्त्तक है, जैसा कि पूर्व के षोडशी निरूपण में बतलाया जाचुका है।

—१३—

१४—यह अक्षर ही ब्रह्म (क्षर) है, अक्षर ही पर (अव्यय) है। इस अक्षर को जान कर जो व्यक्ति जो कुछ चाहता है, उस की वही कामना पूर्ण होजाती है।

अव्यय की पांच चितिएं इसी चेतनारूप अक्षर से सम्पन्न हुई हैं। अक्षरद्वारा (हृदयद्वारा) होने वाली चिति से ही अव्यय चिदात्मा कहलाया है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इसी दृष्टि से हम अक्षर को अव्यय भी कह सकते हैं। अक्षर से ही क्षर का विकास हुआ है। अतएव अक्षर को ब्रह्म भी कहा जासकता है। अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द (अक्ष-रप्रकरण में पढा हुआ) क्षर का ही वाचक है। एवं पर शब्द अव्यय का वाचक है, जैसा

कि "अक्षरात् परतः परः" इस पूर्वोक्त अव्ययश्रुति से स्पष्ट है। "अक्षर ही अव्यय है, यही क्षर है" इस का तात्पर्य्य यही है कि अक्षर दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ दोनों के धर्म्मों से युक्त है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ ये तीन हीं इच्छा के विषय हैं। अक्षरोपासना से तीनों मिल सकते हैं।

—१४—

१५—उस परावर (अक्षर) के परिज्ञान से (बन्धनमूला) हृद्ग्रन्थि टूट जाती है, सम्पूर्ण संशय दूर होजाते हैं। जीवात्मा के सम्पूर्ण कर्म्मलेप हटजाते हैं। क्षर अक्षर से नीची श्रेणि में प्रतिष्ठित रहनें के कारण "अवर" कहलाता है। अव्यय अक्षर से ऊंची श्रेणि में प्रतिष्ठित रहने के कारण "पर" कहलाता है। मध्यस्थ अक्षर अव्ययापेक्षा अवर, क्षरापेक्षया पर बनता हुआ "परावर" नाम से प्रसिद्ध है। स्थूलशरीरग्रन्थि का मन से सम्बन्ध है, इस के विमोक से मृत्यु होती है। सूक्ष्मशरीरग्रन्थि का बुद्धि से सम्बन्ध है, इस के विमोक से सायुज्यभाव-लक्षणा अपरामुक्ति होती है। कारणशरीर* की ग्रन्थि का अक्षर से सम्बन्ध है। यही हृद्ग्रन्थि है। इस के विमोक से समवलय लक्षणा परामुक्ति होती है। क्षरात्मक विश्व द्वैतभावापन्न है। द्वैत, किंवा विषयद्वैविध्य ही संशय का कारण है। जबतक क्षरविश्व का अनुगमन है, तभी तक संशय है। अद्वैताक्षर पर पहुँचे बाद स्याद्वाददर्शनमूलक संशयवाद को कोई अवसर नहीं मिलता। क्षरविश्व ही आसक्ति का मूल है। आसक्ति ही कर्म्मलेप का कारण है। असक्त अक्षर परिज्ञान से कर्म्मलेप को भी अवसर नहीं मिलता।

—१५—

* ज्ञात्वा देवं (अक्षरं) सर्वपाशापहानिः।
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः॥
तस्याऽभिध्यानस्तृतीयं देहभेदे।
विश्वैश्वर्य्यं केवल आप्तकामः॥ (श्वे १अ०।११मं)॥

१६—(वे ही उपासक बुद्धियोगी) उस परमब्रह्मधाम को जान सकते हैं, जहां पर कि उस ज्ञानमय परमब्रह्म (अक्षर) का ज्ञानमय विश्व प्रतिष्ठित है, जोकि निष्कामभाव से उस अक्षर पुरुष की उपासना करते हैं। वे ही धीर (बुद्धियोगी) इस शुक्र (विश्व) का तरण करने में समर्थ हैं।

अव्यय पर है, क्षर अवम है, मध्यस्थ अक्षर परमब्रह्म है। निष्कामोपासक ही इस परमब्रह्मधाम (अक्षरधाम) में पहुँचते हैं। शुक्र क्षरविभूति है। क्षर ही विश्व का बीज बनता हुआ शुक्र कहलाता है, जैसा कि ईशविज्ञानभाष्य की "शुक्रनिरुक्ति" में विस्तार से बतलाया गया है। इस शुक्रबीज से त्राण पाने के लिए, साथ ही में परमब्रह्मधाम में पहुँचने के लिए अक्षर पुरुष की ही निष्कामभक्तिलक्षणा उपासना (बुद्धियोग) अपेक्षित है।

—१६—

—३—

४—आत्मक्षरः

१—युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकायन्ति पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्र आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥
(श्वेता० २।५।)।

२—अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः॥ (श्वेता० २।६।)।

३—सवित्रा प्रसवेन जुषते ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत्॥ (श्वेता०२।७।)।

४—नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य च चरस्य च॥ [श्वेता०३।१८।]।

५—य एको वर्णो वहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु ॥
[श्वेता० ४।१।] ।

६—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥ [श्वेता० ४।२।] ।

७—त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार, उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः [श्वेता० ४.३।] ।

८—नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ [श्वे०४।४।)।

९—यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ [श्व०४।१३।) ।

१०—तत्कर्म्मकृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ।
[श्वेता० ६।३।] ।

११—आरभ्य कर्म्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ।
तेषामभावे कृतकर्म्मनाशः कर्म्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ [श्वे०६ ४।) ।

१२—स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्त्ततेऽयम् ॥
धर्म्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ [श्वे०६।६।) ।

१३—एको वशी निष्क्रियाणां वहूनामेकं बीजं वहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ [श्वे०६।१२।)।

—१३—

—४—

१—इस प्रथम मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य है। यह मन्त्र "श्वेताश्वतरोपनिषत्" (२ अ०।४ मं० ।) ऋक्संहिता (१०।१३।१), एवं यजुःसंहिता [११ अ०।५मं०] में प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र की व्याख्या सनातनधर्म्म के मुख्य आचार्य भगवान् शङ्कर, सर्वश्रीसायण, सर्वश्रीउव्वट, सर्वश्रीमहीधर, ने की है। इन के अतिरिक्त श्वे.भाष्य के साथ साथ श्रीश्वेताश्वतरोपनिषद्दीपिकाकार **श्रीनारायण स्वामी**, श्वेताश्वतरोपनिषद्विवरणकार **श्रीविज्ञानभगवान्**, आदि कतिपय टीकाकारो नें भी उक्त मन्त्र की व्याख्या की है। वैदिकसाहित्य से अंशतः पराङ्मुख आजकल के सनातनधर्म्मी विद्वान् जब अपनी कल्पना से स्वतन्त्र किसी वैदिक-अर्थ पर दृष्टि डालते हैं, तो सहसा क्षुब्ध होजाते हैं। वैदिकप्रमाणसम्मत उस अर्थ का प्रतिवाद करने में तो यह विद्वम्मन्य असमर्थ हैं। ऐसी दशा में इन के पास अपने क्षोभ प्रकट करने का एकमात्र साधन रह जाता है—"**आचार्यभक्ति**"। "यह अर्थ सायण, महीधरादि भाष्यों से विरुद्ध जाता है, इसलिए अप्रामाणिक है" बस इसी महातर्क को आगे कर यह महानुभाव विज्ञानसम्मत अर्थ की अवहेलना में अपने पुरुषार्थ की इतिश्री कर देते हैं।

इन आचार्यभक्तों से हम यह पूछने की धृष्टता करते हैं कि, कृपया वे यह बतलाने का कष्ट करें, कि वे किस आचार्य की व्याख्या को सनातनधर्म्मानुकूल समझते हैं ? इस प्रश्न का हेतु यह है कि, आचार्यों की व्याख्याओं में भी परस्पर सर्वथा विरोध है। इधर आचार्यवाक्य श्रुति भी नहीं है, जिस से कि इन के सभी विरुद्धार्थों को (परस्पर में विरुद्ध श्रुतिवचनों की तरंह) प्रमाणभूत मान लिया जाय। उदाहरण के लिए उक्त मन्त्र ही उन के सामने रक्खा जाता है। साथ ही में व्याख्यातासम्मत अर्थ भी उद्धृत किया जाता है। विद्वान् बतलावे कि, इन उद्धृत व्याख्याओं में से कौन व्याख्या सनातनधर्म्मानुकूल है, एवं कौन प्रतिकूल बनती हुई त्याज्य है।

१—भगवान्शङ्कराचार्य—

करणरूप जीवात्मा, अनुग्राहकरूप परमात्मा इन दोनों से सम्बन्ध रखनेवाला जो चिरन्तन ब्रह्म है, उसी का तुम्हारे लिए समाधान किया है। अर्थात् जीवेश्वर का भेद मिथ्या

है, एक ही ब्रह्म के दो विवर्त्त हैं)। चित्तप्रणिधानादिरूप नमस्कारों से ही उस का समाधान (ज्ञान) किया [करवाया] है। इस प्रकार समाधान करते हुए मेरे कीर्त्तितव्य [भाव की ओर] उसी प्रकार मनुष्य जावे, जैसे एक समझदार सन्मार्ग में जाता है। अथवा प्रार्थनारूप इस वाक्य को हिरण्यगर्भ नामक अमृतब्रह्म के पुत्र सुनें, जो कि पुत्र दिव्यलोकों में प्रतिष्ठित हैं।

२—श्रीशङ्करानन्दस्वामी—

तुम दोनों [जीवात्मा- परमात्माओं] से पूर्व ही वर्त्तमान, त्रिविध परिच्छेद रहित चिदानन्दैकरसरूप जो ब्रह्म है, उस के लिए विविध कीर्त्तियुक्त बनते हुए उसी ओर जारहे हो। कैसे ? जैसे कि विद्वान् सन्मार्ग की ओर जाते हैं।

३—श्रीनारायणस्वामी—

हे मन-बुद्धियो ! तुम से सम्बन्ध रखनेवाला जो ब्रह्म नाम का योगमार्ग है, उसी की ओर तुम्हारे मन का योग करवाता हूं।

४—श्रीविज्ञानभगवत्स्वामी—

अनादिसिद्ध ब्रह्म के साथ अपने प्रत्यगात्मा का एकीकरण कर रहा हूँ। इस का साधन है मनःप्रणिधान। हे मनो बुद्धी ! मैं तुम दोनों को प्रत्यगात्मा में युक्त करताहूं।

५—श्रीसायणाचार्य—

हे हविर्धान शकटो ! मैं [यज्ञकर्त्ता-अध्वर्यु, अथवा यजमान] अनादिकाल से प्रवृत्त ब्रह्म [मन्त्र] का उच्चारण करके सोमादिलक्षण अन्नों से तुह्मारा योग करता हूं। अर्थात्

तुह्मारे ऊपर - सोमादि [वल्ली] रखकर पत्नीशाला के समीप प्रतिष्ठित हविर्द्धानमण्डप की ओर तुम्हें लेजाता हूं। अमृतब्रह्म के पुत्र [स्थानीय] सम्पूर्ण देवता तुह्मारी ध्वनि सुनें, जोकि देवता दिव्यलोकों में प्रतिष्ठित हैं।

६—सर्वश्रीउव्वट—

हे दम्पती ! (यजमान एवं यजमानपत्नी) अन्नयुक्त सप्तर्षिब्रह्म को तुह्मारे लिये युक्त करता हूं।

७—सर्वश्रीमहीधर—

हे–पत्नी–यजमान ! पुरातन महर्षियों से अनुष्ठित जो अग्निचयन नाम का ब्रह्म (कर्म) है, उस का (तुम्हारे लिए) सम्पादन करता हूँ। अथवा ब्रह्मशब्द सप्तर्षिब्राह्मणों का वाचक है। मै तुम्हारे लिए उस पुरातन ब्राह्मणजाति को अन्न से युक्त करता हूं। "अन्न से ब्राह्मणों को तृप्त करता हूं" यही तात्पर्य्य है।

भगवान् शङ्कर, एवं शङ्करानन्द की दृष्टि में ब्रह्मशब्द निर्विशेष का वाचक है, पूर्व्य-शब्द चिरन्तनभाव का वाचक बनता हुआ ब्रह्म का विशेषण है, "वां" पद जीवात्मा—परमात्मा का सूचक है। एवं मन्त्र का उद्देश्य अभेदवाद का शिक्षण है।

नारायणस्वामी ब्रह्म को योगपरक समझ रहे हैं, 'वां' से मन बुद्धि का ग्रहण करते हुए मन्त्र का यह तात्पर्य्य समझ रहे हैं कि, उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ब्रह्मनाम योगमार्ग में ही मन का योग करना चाहिए। इस प्रकार यह भी अद्वैत के ही अनुगामी बन रहे हैं। विज्ञान-भगवत्स्वामी भी द्रविड़प्राणायाम के द्वारा अपनी अद्वैतभक्ति ही पुष्ट कर रहे हैं।

सायणाचार्य के मतानुसार "वां" हविर्द्धानशकटों* का वाचक है। पूर्व्यशब्द ब्रह्म का विशेषण है। एवं ब्रह्मशब्द वेदमन्त्र का वाचक है। इस प्रकार इन के मतानुसार यह मन्त्र शकट में सोमवल्ली का योग बतला रहा है। उव्वट महोदय 'वां' से यजमान, एवं यजमानपत्नी का ग्रहण कर रहे हैं। ब्रह्म से सप्तर्षि का ग्रहण समझ रहे हैं। ब्राह्मणजाति के शुभचिन्तक महीधर ब्रह्म से अग्निचयन नाम के यज्ञकर्म्म का ग्रहण कर रहे हैं। दूसरी दृष्टि से वे ब्रह्म को ब्राह्मणजाति का वाचक समझते हुए मन्त्र को ब्राह्मणभोजनपरक भी मान रहे हैं।

हां तो प्रश्न उन सनातनधर्म्मियों से हमारा यह था कि, इन व्याख्याओं में से कौन-सी व्याख्या सनातनधर्म्मानुकूल मानी जायगी? सभी तो सनातनधर्म्म के कर्णधार हैं। फिर इन में क्यों वैषम्य। वैषम्य का निराकरण कीजिए, परन्तु सावधान! कहीं किसी आचार्य का निरादर न होजाय।

अब हमें वेदवचनों के आधार पर स्वतन्त्र दृष्टि से मन्त्रार्थ का अन्वेषण करना चाहिए। इस दृष्टि से यह मन्त्र क्षरब्रह्म का ही प्रतिपादक बन सकता है। अनुपसृष्ट ब्रह्म–"ब्रह्माक्षर समुद्भवम्"–"तस्मादेतद् ब्रह्म" इत्यादि स्मार्त्त-श्रौत वचनों के आधार पर एकमात्र क्षरब्रह्म का ही वाचक बन सकता है। इस दृष्टि से मन्त्र का निम्न लिखित अर्थ होता है—

"हे मन-बुद्धियो! हम तुम दोनों को पूर्व्यब्रह्म (क्षरब्रह्म) के साथ युक्त करते हैं। अथवा ब्रह्म को तुम्हारे साथ युक्त करते हैं। जिस ब्रह्म की, कि एक सन्मार्ग की भांति विद्वान् लोग नमोवचनों से गुणगाथा गाया करते हैं। एवं दिव्यलोकों में प्रतिष्ठित उस अमृतब्रह्म के पुत्र (जीवात्मा) जिस की कीर्त्ति सुना करते हैं"।

कार्यरूप विश्व की जो पूर्वावस्था (आदिअवस्था) होगी, उसे ही पूर्व्य कहा जायगा। विश्व की पूर्वावस्था विश्व का उपादान कारण ही हो सकता है, एवं वह है एकमात्र क्षरब्रह्म। अतः-

* यज्ञ में सोमाहुति होती है। इस के लिए जिन छकड़ों में सोमवल्ली लाई जाती है, वे ही हविर्द्धानशकट कहलाते हैं

"पूर्व्यं ब्रह्म" से हम त्तरब्रह्म का ही ग्रहण कर सकते हैं। इस मन्त्र से पूर्व के "युञ्जते मन उत युञ्जते धियः,, इत्यादि मन्त्र में मन–बुद्धि के योगभाव का उल्लेख है। उसी का आगे के प्रकृतमन्त्र में–"युजे वां" पढ़ा हुआ है। ऐसी दशा में समानप्रकरणप्राप्त "वां" से हम मन बुद्धि का ही ग्रहण करेंगे।

जो काम दर्शनशास्त्र के वैशेषिक तन्त्र ने किया है, वही उपदेश इस मन्त्र से हुआ है। साधारणतया मनुष्यो की मन–बुद्धि भौतिक वैकारिकविश्व (विषय) में आसक्त रहती है। स्थूलारुन्धती न्याय से श्रुति उन का ध्यान उस ओर से हटाती हुई उन्हें आदेश दे रही है कि, तुम इस कार्यरूप ब्रह्म के उत्तररूप में अपने मन-बुद्धि को मत फंसने दो। अपितु इस उत्तरब्रह्म (विश्व) का कारणभूत जो पूर्व्यब्रह्म (आत्मक्षरब्रह्म) है, उसी की ओर मन बुद्धि का योग करो। यही तुम्हारे लिए सन्मार्ग है। विद्वान् लोग इसी मार्ग का अनुगमन करते हैं। वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर ही गमन करते हैं। विश्व से सम्बन्ध रखने वाले भौतिक-विषय असत् बलप्रधान बनते हुए असद्रूप हैं। फलतः इन में आसक्त होना असन्मार्ग का अनुगमन करना है। विद्वान् लोग उस रसप्रधान, अतएव सद्रूप पूर्व्यब्रह्म का ही अनुगमन करते हैं। "असतो मा सद् गमय" के अनुसार तुम्हें भी उसी पथ का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रकार मन्त्र का पूर्वभाग हमें–"असत् विश्व की आसक्ति छोड़ते हुए तुम विद्वत्सम्मत सल्लक्षण पूर्व्यब्रह्म (आत्मक्षर) के साथ ही अपने मन-बुद्धि का योग करो, दूसरे शब्दों में भूतयाजी के स्थान में आत्मयाजी बनो, अर्थयोगी के स्थान में आत्मयोगी बनो" यही उपदेश दे रहा है।

मन्त्र का उत्तरभाग फलभाग से सम्बन्ध रखता है। आत्मयोगी बनने से होगा क्या? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है कि, अमृत के पुत्र, जो कि दिव्यधामो में प्रतिष्ठित है, तुम्हारा यश सुनें। [सुनेंगे] यद्यपि श्वेताश्वतर में– 'शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्र आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः" यह पाठ है, परन्तु "विश्वे"-"ये" इन के सम्बन्ध से पुत्रः के स्थान में "पुत्राः" पाठ होना चाहिए। एवं परोक्षप्रिय देवताओं की परो-

स्वभाषा के अनुसार शृण्वन्ति के स्थान में "शृण्वन्तु" पाठ होना चाहिए। स्वयं मूलसंहिता में भी–"शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः" यही पाठ है। साथ ही में आनन्दाश्रम प्रेस में मुद्रित सभाष्य श्वेताश्वतरोपनिषत् में भी संहितासम्मत पाठ ही उद्धृत है।

जो व्यक्ति सांसारिक मर्त्यविषयों में आसक्त रहते हैं, उन का अमृत आत्मा मृत्युपाश में बद्ध होता हुआ इसी मृत्युसंसार सागर में "जायस्व-म्रियस्व" बना रहता है। सभी जीवात्मा यद्यपि उस अमृतात्मा के अंश बनते हुए अमृत के ही पुत्र हैं। परन्तु विषयासक्तिरूप मृत्यु-भाव से ये अपने आत्मवंश की प्रतिष्ठा से गिरते हुए मृत्युपुत्र बन जाते हैं। ऐसे संसारी कभी दिव्यलोकों के अधिकारी नहीं बनते। ठीक इस के विपरीत जो संसार में रहते हुए भी मृत्यु-भाव में आसक्त न होते हुए उस पूर्व्य अमृतब्रह्म के अनुगामी बने रहते हैं, वे अपने आत्मवंश को सुरक्षित रखते हुए उन दिव्यलोकों के अधिकारी बन जाते हैं। जब ऐसे प्राणी शरीर छोड़ते हैं, तो दिव्यधामों में प्रतिष्ठित (इन से पहिले दिव्यधामों में पहुंचे हुए कर्म्मदेवता, एवं नित्यदेवता) अमृत के पुत्र सुना करते हैं कि देखो? अपना एक सहयोगी और आया। श्रुति इस प्ररोचना वाक्य से यही बतलाना चाहती है कि, ब्रह्मानुगामी योगी का इस लोक में तो गुण-गान होता ही है, साथ ही में परलोकस्थ देवता भी ऐसे व्यक्ति का यशोगान करते हैं। मृत्यु अनुगमन में यहां दुःख, वहां गमन अवरुद्ध, पूर्व्यब्रह्मानुगमन में यहां भी यश, वहां भी आनन्द।

—१—

२—जहां अग्नि मथा जाता है, वायु जहां अवरुद्ध हो जाता है, सोम जहां निःशेष बन जाता है, वहीं हमारा मन संलग्न है–(संलग्न हो)।

अग्नि-वायु-सोम तीनो तत्त्व दारसृष्टि के मूल आलम्बन माने गए हैं। अग्नि सोम का समन्वयरूप यज्ञ ही "सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०" के अनुसार सम्पूर्ण विश्व है। अग्नि यज्ञ की योनि है, सोम आहुतिद्रव्य है। दोनों स्वस्थान पर प्रतिष्ठित हैं। इस सोमरेत को अग्नियोनि

में आहुत करना गतिधर्म्मा वायु का ही काम है। एवं यही वायु आहुत रेत का वेष्टन कर वहीं अवरुद्ध बनता हुआ गर्भसम्पत्ति का कारण बनता है। सृष्टिकामुक मनुष्य के शरीर का अग्नि वायुप्रेरणा से क्षुब्ध होता है। इस अग्निसंघर्ष का ही नाम अग्निमन्थन है। अग्निमन्थन से स्नेहधर्म्मा शरीरशुक्र (सोम) स्वस्थान से च्युत होता है, यही इस का अतिरेचन है। यहां से वायुद्वारा यह शुक्रसोम स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित योनिरूप शोणिताग्नि में आहुत होता है। वायु चूंकि शुक्र के चारों ओर घिरा रहता है, अतएव वह च्युतशुक्र इतस्ततः नहीं जा सकता। साथ ही में यह भी निश्चित है कि यदि वायु दो भागों में विभक्त हो जाता है, तो शुक्र भी दो ही भागों में विभक्त होकर यमज सन्तान का कारण बन जाता है। इस प्रकार विश्वसृष्टि, एवं विश्व में होने वाली प्रजासृष्टि दोनों की स्वरूपनिष्पत्ति अग्निमन्थन, वायु के अवरोध, एवं सोम के अतिरेचन से ही होती है। ये तीनों हीं वैकारिकपदार्थ हैं। इन का मूल वही आत्मक्षर ब्रह्म है। इसी क्षर धरातल में तीनों विकारक्षर अपने उक्त तीनों व्यापार करने में समर्थ बनते हैं। श्रुति परोक्षविधया आदेश करती है कि, प्रजात्मक, किंवा विश्वात्मक अग्नि–सोम-वायुरूप मृत्युभावों से तुम आसक्ति मत करो, इन के साथ मन का योग मत करो, अपितु जहां, जिस धरातल पर ये तीनों प्रतिष्ठित हैं, उस आत्मक्षरलक्षण पूर्व्यब्रह्म के अनुगामी बनो।

—२—

३—सविता देवता की प्रेरणा से तुम पूर्व्यब्रह्म का ही सेवन करो। उसी को अपनी योनि समझो। उस ब्रह्मने तुम्हारे पूर्वभाव का (आज भी) परित्याग नहीं किया है।

सभी चाहते हैं कि हम दुःख से छुटकारा पाजायँ। परन्तु विना पूर्व्यब्रह्म का आश्रय लिए दुःखनिवृत्ति असम्भव है। साथ ही में हृदयस्थ सविता प्राण की प्रेरणा के विना हमारा मन उस ओर जा भी नहीं सकता। इस के साथ ही हमें यह भी विश्वास रखना चाहिए कि, हम चाहे उसे भले ही भूल जायँ परन्तु वह हमें नहीं भूल सकता। क्योंकि हमारी योनि बनता हुआ वही हमारा पूर्वभाव है। योनि एकमात्र क्षरब्रह्म ही है। अतएव इस पूर्व्य ब्रह्मशब्द

को हम आत्मक्षर का ही वाचक माननें के लिए तय्यार हैं।

—३—

४—नवद्वारात्मक इस पुर (शरीर) में हंस (कर्म्मात्मा) वाहर की ओर दौड़ लगाया करता है। यहां हंस सम्पूर्ण भौतिकप्रपञ्च का, एवं जङ्गमसृष्टि का वशी (संचालक) है।

कर्म्मात्मा कर्म्मरूप वनता हुआ क्षरप्रधान है। भौतिकविश्व इस का सजातीय है। इसी सजातीय आकर्षण से आकर्षित यह उन वहिरङ्ग विषयों में आसक्त वना रहता है। परन्तु इसे यह विदित नहीं है कि, मैं (क्षरात्मा) ही इन सब का अध्यक्ष हूं जिस दिन यह अपने वशी-भाव को पहिचान जायगा, उस दिन इसकी वहिरासक्ति निवृत्त हो जायगी।

—४—

५—(अमृताक्षर से संश्लिष्ट रहने के कारण जो स्वयं) एकवर्ण (एकरूप) है, वह अपनी विविध शक्तियों के योग से विविधवर्णों का जनक वन रहा है। सुव्यवस्थित अर्थ का सञ्चालक वन रहा है। विश्व का आदि अन्त दोनों यही देव है। यही मुझे (कर्म्मात्मा को) शुभ बुद्धि से युक्त करै।

अनेकभावात्मिका सृष्टि का संचालक, सृष्टि का उत्पादक, सृष्टि का आद्यन्त एकमात्र आत्मक्षर ही है। ऐसी दशा में श्रुत्युक्त देव से हम आत्मक्षर का ही ग्रहण कर सकते हैं।

—५—

६—वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा (भास्वर सोम है, वही शुक्र (विश्वयोनि) है, वही ब्रह्म (उपादानकारण) है, वही आपः (दिक्सोम) है, एवं वही प्रजापति है।

अग्नि-वायु-आदित्य तीनों अग्नि हैं, चन्द्रमा, आपः दोनों सोम) हैं। इन पाचों का, दूसरे शब्दों में अग्नि सोम का प्रभव वही क्षरात्मा है। उस की अग्निकला से अन्नादाग्नि का, एवं सोमकला से अन्नसोम का विकास हुआ है। उस की ब्रह्मकला शुक्र है, विष्णुकला ब्रह्म है, इन्द्रकला प्रजापति है।

तात्पर्य यही है कि, आत्मक्षर की मर्त्यभाव प्रधान ब्रह्मा विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम ये पांच कलाएं हैं। इन में ब्रह्मा नामक आत्मक्षर, किंवा आत्मक्षर की ब्रह्मकला ही–"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्" के अनुसार विश्व की योनि है। सम्पूर्ण विश्व की मूल योनि ब्रह्मा ही माने गए है। योनि को ही शुक्र कहा जाता है। ब्रह्मात्मक प्राण ही शुक्र है। आत्मक्षर की विष्णुकला आपोद्वारा भौतिकविश्व का उपादान बनती है, उपादान को ही ब्रह्म कहा जाता है। आत्मक्षर की इन्द्रकला वाक्‌द्वारा प्रजासृष्टि की अधिष्ठात्री बनती है, अतएव इसे प्रजापति कहा जा सकता है। आत्मक्षर की अग्निकला अन्नाददद्वारा वैकारिक अग्नित्रयी की, एवं सोमकला अन्नद्वारा सोमद्वयी की उत्पादिका बन रही है। इस प्रकार वही अपनी पांचों मूलकलाओं से तूलकलाओं द्वारा सब कुछ बन रहा है, जैसाकि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

मूलकलाः	तूलकलाः	कार्यविवर्त्तम्
१–ब्रह्मा	——→ प्राणः	——→ ततः शुक्रविकासः (तदेव शुक्रम्)।
२–विष्णुः	——→ आपः	——→ ततो ब्रह्मविकासः (तद् ब्रह्म)
३–इन्द्रः	——→ वाक्	——→ ततः प्रजापतिविकासः (स प्रजापतिः)
४–अग्निः	——→ अन्नादः	——→ततः-अग्निवाय्वादित्यविकासः (तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः)
५–सोमः	——→ अन्नम्	——→ ततः अप्चन्द्रमसोर्विकासः (तदुचन्द्रमाः-ता आपः)
आत्मक्षरः	विकारक्षरः	वैकारिकभावाः

—६—

७—तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम कन्या हो, तुम कुमार हो। तुम बहुत पुराने हो, इसी लिए दण्ड से सब की वञ्चना किया करते हो। तुम्हीं नानारूपों से उत्पन्न हो रहे हो।

दाम्पत्य अवस्था के सूचक स्त्री–पुरुष शब्द हैं। एवं दाम्पत्य अवस्था की पूर्वावस्था के सूचक कुमार–कुमारी शब्द हैं। अव्यय-अक्षर एक थे, अविशेष थे। उन से यह विशेष-भाव कैसे उत्पन्न होगए। और श्रुति ने–"न स्त्री पुमानेष" से स्पष्ट ही उन्हें विशेषभाव से वहिर्भूत सिद्ध किया है। ऐसी दशा में मानना पड़ता है कि, अवश्य ही आत्मवर्ग में कोई विशेष-भाव का उत्पादक विशेष आत्मा भी है। वह आत्मा वैशेषिकतन्त्रसम्मत वही क्षरात्मा है, जिस के कि विशेषभाव का "दर्शनपरीक्षाप्रकरण" में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। वही स्त्री-पुंभावादि विशेषभावों का जनक बनता है। ताड़न करना अक्षर का काम है, परन्तु धमकी देना इस क्षर का काम है। इसीलिए–"वञ्चसि" कहा है। सारा संसार इस की वञ्चना में व्यस्त है।

श्रुति लोकसिद्ध उदाहरण को सामने रखती हुई कहती है कि, बड़े बूढे मनुष्य जिस प्रकार दण्ड से बच्चों को धमकी दिखाया करते हैं (मारते नहीं) वैसे ही यह जीर्ण (पुरातन-पुरुष) भी दण्ड से धमकी दिखा रहा है। यही विश्वरूप है, उत्पन्न होने वाला है। स्पष्ट ही आत्मक्षर की अभिव्यक्ति हो रही है।

—७—

८—नील-पतङ्ग हरित लोहिताक्ष-तडिद्गर्भ-ऋतु-समुद्र ये सब तुम्हीं (आत्मक्षर) हो।* क्योंकि अनादि (आत्मा) होने से तुम विभु हो। जिस (तुम) से कि सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं।

—८—

९ जो देवताओं का अधिपति है, जिस में सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं, जो द्विपात्, चतुष्पात् पशुओं का शास्ता है, उस "क" रूप अनिरुक्त प्रजापति के लिए हम हवि का विधान करते हैं।

---

*नीलकण्ठ, भ्रमर, शुक, मैना आदि पक्षी, मेघ, ६ ऋतुएं, ७ समुद्र।

७ वां मन्त्र पार्थिव मनुष्यसृष्टि का, ८ वां मन्त्र आन्तरिक्ष्य पक्षिसृष्टि, एवं ऋतलक्षण ऋतु- समुद्र सृष्टि का, ९ वां मन्त्र दिव्यसृष्टि का एवं पशुसृष्टि का निरूपण करता हुआ लोक-सृष्टि का निरूपण करता है। त्रैलोक्य, त्रैलोक्य में रहने वाले स्थावर—जङ्गमप्रजा सब का उपादान एकमात्र आत्मक्षर ही है।

—९—

१०—वह (क्षरात्मा) सृष्टिकर्म्म करके उस से निवृत्त हो जाता है। पुनः वह तत्त्व के तत्त्व से युक्त होकर योगभाव को प्राप्त हो जाता है। समय पर वही एक, दो, तीन, आठ इन अपने सूक्ष्म आत्मगुणों से पुनः सृष्टि में प्रवृत्त हो जाता है।

यह मन्त्र आत्मक्षर की सारी अवस्थाओं का विस्पष्ट निरूपण कर रहा है। सृष्टिदशा में आत्मक्षर कर्म करता है। इस कर्म्म से प्राण-आप-वागादि विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन विकारक्षरों से ही वैकारिकविश्व उत्पन्न होता है। आत्मक्षर का काम है, केवल विकार उत्पन्न कर देना। विकारोत्पत्तिदशा में ही यह विश्वकर्म्म का प्रभु बना रहता है। विकारोत्पत्ति के अनन्तर यह उस कर्म्म से सर्वथा पृथक् हो जाता है, स्वयं विश्वकर्म्म में आसक्त नहीं होता। इस अविकृतदशा में यह अपने विशुद्ध तात्त्विकरूप में आ जाता है। आत्मक्षर का मूलतत्त्व अक्षरात्मा है, क्योंकि अक्षर से ही इस का विकास हुआ है। इस अक्षरतत्व का भी मूलतत्त्व अव्ययात्मा है। तत्त्व (अक्षर) का तत्त्वरूप अव्यय जिस प्रकार अविकृत, एवं एकरूप है, एव-मेव सृष्टिकर्म्म से उपरत विशुद्ध अविकृत आत्मक्षर भी इस तत्व के तत्त्व के साथ योग करके तद्रूप [अव्ययरूप] ही बन जाता है।

"क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या" (श्वे० ५।१)- 'ज्ञाज्ञौ द्वौ०" श्वे० १।९)-"क्षरं प्रधानममृताक्षरम्"श्वे० १।१०) इत्यादि वचनों के अनुसार क्षर अविद्यारूप (सृष्टिकाल में) है, अक्षर विद्यारूप है। क्षर "अज्ञ" है, अक्षर 'ज्ञ' है। क्षर "प्रधान" है, अक्षर "अमृत" है। अव्यय विशुद्ध सत्वमूर्त्ति है, अक्षर विशुद्ध रजोमूर्त्ति है, एवं क्षर विशुद्ध तमोमूर्त्ति है। तम ही अविद्या है। यही सृष्टि का मूलबीज है। यही आत्मक्षर का सृष्ट्युपयिक एकरूप (प्रथमरूप)

है। अपने इस एक मूलरूप से सर्वप्रथम यह दो रूप धारण करता है। वे दोनों रूप प्रकृति विकृति नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मक्षर स्वयं प्रकृति (प्रधान) है, एवं इस से उत्पन्न होनेवाली प्राणादि पञ्चविकारसमष्टि विकृति है। अव्यय पुरुष है, अक्षर प्रकृति है, किन्तु सृष्टिकाल में आत्मक्षर प्रकृति-विकृति है। ये ही इस के दो रूप हैं। आगे जाकर इन विकारों से वैकारिक-सृष्टिनिर्म्माण के लिए यह त्रिगुण भाव में परिणत होता है। अव्ययसत्त्व से सत्त्वगुण का, अक्षररज से रजोगुण का, अपने आप से तमोगुण का संग्रह कर त्रिगुणमूर्त्ति बनता हुआ यह उन विकारों से त्रैगुण्य विश्वोत्पत्ति का कारण बनता है, यही इस के तीन रूप हैं। भूमि (गन्धतन्मात्रा), आपः (रसतन्मात्रा) अनल (रूपतन्मात्रा), वायु (स्पर्शतन्मात्रा), आकाश (शब्दतन्मात्रा) इन पांच तन्मात्राओ से, एवं मन, बुद्धि, अहंकार इन तीन आत्मगुणों से युक्त होता हुआ यह अष्टगुणोपेत बन जाता है। सांख्यमतानुसार प्रकृति--विकृतिरूप इस आत्मक्षर के सात ही विवर्त्त हैं, वह बुद्धि का ग्रहण नहीं करता, क्यों कि उसे बुद्धियोग का पता नहीं है, जैसा कि पूर्व की दार्शनिक निरुक्ति में (प्राधानिक तन्त्रनिरूपण में) विस्तार से बतलाया जाचुका है। परन्तु हमारा बुद्धियोगशास्त्र (गीता) प्रकृति–विकृतिलक्षण, अपराप्रकृतिरूप इस आत्मक्षर के आठ विवर्त्त मानता है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

> भूमि, रापो, नलो, वायुः, खं, मनो, बुद्धिरवच।
> अहंकार इनीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ॥(गीता)।

येही इस के आठ रूप हैं। अविद्या, प्रकृति-विकृति, तीनगुण, आठ विवर्त्त ये सब इस आत्मक्षर के सूक्ष्मगुण हैं, सूक्ष्मरूप हैं। इन्हीं से स्थूलभूतात्मक स्थूलविश्व उत्पन्न हुआ है।

—१०—

११.—इस प्रकार यह आत्मक्षर अपने उक्त एक-दो तीन-आठ रूप से कर्म्मों का संचालक बनता हुआ, जो कि कर्म्म त्रिगुणभाव से युक्त हैं, सम्पूर्ण भूतभावों की उत्पत्ति का कारण बना हुआ है। प्रतिसंचरदशा में इन सब अविद्यादि सूक्ष्मगुणों के अव्यक्तरूप में परिणत हो

जानें के अनन्तर क्षर की इस कर्म्ममयी सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश होजाता है। सृष्टिकर्म्म के आत्यन्तिक निवृत्त होजाने पर यह आत्मक्षर पुनः अपने उसी अन्य, अविकृत आत्मतत्त्वरूप में परिणत होजाता है।

तात्पर्य्य यह है कि, क्षर ही अविद्यादि द्वारा वैकारिक विश्व का उपादान बनता है। इस विश्वदशा में यह अपने विकारभाव से विश्वमूर्त्ति बना हुआ आत्मभाव से वञ्चित रहता है। अतएव इसे "क्षर" (विनाशी) कहा जाता है। परन्तु विश्वाभावदशा में विकार से पृथक् रहता हुआ यह विशुद्ध आत्मरूप में परिणत रहता है, अतएव क्षर होते हुए भी इसे "आत्मक्षर" कह कर आत्मकोटि में समाविष्ट मान लिया जाता है। इस प्रकार इस के तात्त्विक यौगिक भेद से दो रूप हो जाते हैं। तात्त्विकरूप आत्मा है, यौगिकरूप विश्व है। दोनों में से तात्त्विकरूप ही ग्राह्य है, यही उक्त श्रुतियों का तात्पर्य्यार्थ है।

—११—

१२—वह (आत्मक्षर) वृक्ष, काल, आकृति इन तीनों से परे, एवं भिन्न है, जिस से कि यह सारा विश्वप्रपञ्च परिवर्तित होता रहता है। धर्म्मप्रदाता, पापविनाशक, विश्वेशमूर्ति, विश्वधाममूर्त्ति इस आत्मक्षर को आत्मस्थ, एवं अमृत जानकर जो व्यक्ति इस की उपासना करता है, वह मुक्त हो जाता है।

ब्रह्माश्वत्थ-एवं कर्म्माश्वत्थ भेद से औपनिषद वृक्षविद्या दो भागों में विभक्त है। इन में ब्रह्माश्वत्थ का अव्यय से सम्बन्ध है, एवं कर्म्माश्वत्थ का विश्वकर्म्मप्रवर्तक आत्मक्षर से सम्बन्ध है। मध्यस्थ अक्षर दोनों का स्वरूपसम्पादक है। साधारण मनुष्यों ने इस विश्ववृक्ष को ही आत्मक्षर समझ रक्खा है। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि, यह विश्ववृक्ष तो उस का वैकारिक रूप है, वह इस का मूल बनता हुआ इस से परे, एवं भिन्न है। इसी प्रकार त्रिकालमर्य्यादा से भी वह अतीत है। आकृतिरूपा अविद्या से भी वह पृथक् है। इन तीनों से पृथक् वही विश्वप्रपञ्च का मूलाधिष्ठाता है। वह अपने अविकृतरूप से धर्म्मबुद्धि

का प्रवर्त्तक है, पापरूप कर्म्मलेप का विनाशक है। वह स्वयं भत्र (विश्व) नहीं है, अपितु भत्रेश है। वह स्वयं विश्व नहीं है, अपितु विश्व का धाम (आलम्बन) है।

पूर्वश्रुतिनें इस के आत्म-विश्व भेद से दो रूप बतलाए हैं। विश्वरूप दशा में यह अवश्य ही मृत्युप्रधान बनता हुआ विश्वकालाकृतिरूप बनकर धर्म्माधर्म पाप्मा-भत्रादिरूप है। परन्तु आत्मदशा में यह विशुद्ध अमृतरूप बनता हुआ इन सब से अतीत है। अव्ययाक्षरात्मा में प्रतिष्ठित, अतएव आत्मस्थ वही क्षर आत्मक्षर बनता हुआ अमृत है। विश्व में प्रतिष्ठित, अतएव विश्वस्थ वही क्षर क्षर बनता हुआ मृत्यु है। दोनों में आत्मस्थ अमृतरूप ही ज्ञेय है।

—१२—

१३— निष्क्रिय अनन्त पदार्थों का वह एक ही वशी है। जो तत्त्व एक ही बीज को नानाभावों में परिणत कर देता है, उसे जो आत्मा में प्रतिष्ठित देखते हैं, वे ही आत्मानन्द के अधिकारी हैं। इतर व्यक्ति (जो इसे आत्मस्थ न देखकर विश्वस्थ देखते हैं) इस आनन्द से वञ्चित है।

ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता अव्यय है, क्रियाशक्ति का प्रवर्त्तक अक्षर है, एवं अर्थशक्ति का प्रभु आत्मक्षर है। भौतिकपदार्थ अर्थरूप है। ये सर्वथा जड़ बनते हुए निष्क्रिय हैं। इन अनन्त निष्क्रियभावों का (भौतिकपदार्थों का) वह एक ही प्रभु है। वह स्वयं शुक्रात्मक एक बीज है, उस से यह असंख्यभावात्मक विश्व उत्पन्न हुआ है। बुद्धियोगी धीर उसे आत्मस्थ समझकर आत्मानन्द के अधिकारी बन रहे हैं। मन्दबुद्धि उसे विश्वस्थ समझकर दुःख के अनुगामी बने हुए हैं। आत्मक्षर के बीजरूप की उपासना करो, मूलरूप का अन्वेषण करो, आत्मरूप के अनुगामी बनो, दुःखनिवृत्ति, एवं आनन्दप्राप्ति का एकमात्र यही अभ्यतम उपाय है।

—१३—

—४—

५–परात्परयुक्त अव्यय-अक्षर-क्षरात्मा के प्रतिपादकवचन

१—तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्द्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥
(श्वेता० १।४।)।

२—पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्म्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्त्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाषड्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥
(श्वेता० १।५।)।

३—उद्गीथमेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥
(श्वेता० १।७।)।

४—संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते, विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(श्वेता० १।८।)।

५—ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, अजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
(श्वेता० १।६।)।

६—क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानात्–योजनात्–तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।
(श्वेता० १।१०।)।

७—एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता–भोग्यं–प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म वै तत्॥
(श्वेता० १।१२।)।

८—द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥
(श्वेता० ५।१।) ।

९—भावग्राह्यमनीडाख्यं, भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ (श्वेता० ५।१४।) ।

१०—यत्तदद्रश्येम ग्राह्यमगोत्रमवर्णमवचक्षुश्रोत्रम् ।
अपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् ॥
तदव्यय तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ (मुण्डक० १।१।६।) ।

११—पुरुष एवेदं विश्वं कर्म्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥
(मुण्डक० २।१।१०।) ।

१२—पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (श्वेता० ३।१५।) ।

उक्त वचन समष्ट्यात्मक (परात्परयुक्त अव्यय–अक्षर–आत्मक्षरात्मक चतुष्कल) षोडशी पुरुष का निरूपण कर रहे हैं । जैसाकि निम्नलिखित संक्षिप्त तात्पर्य्यार्थों से प्रकट है ।

१—एक नेमिरूप, त्रिवृत, षोडशान्त, शतार्द्धार, विंशतिप्ररायुक्त, ६ भागों में विभक्त आठ अष्टकों से युक्त, विश्वरूपात्मक एकपाश, त्रिमार्गभेदभिन्न, द्विनिमित्त, एकमोहात्मक उस प्रजापति का ही यह सारा वैभव है । उसे ही हम देख रहे हैं, उसी का अध्ययन कर रहे हैं ।

षोडशीप्रजापति का मुख्यभाग अज नाम से प्रसिद्ध महामायावच्छिन्न अव्ययपुरुष है । वही इस विश्वचक्र का एक नेमि है । रथदृष्टान्त से प्रजापति का सम्पूर्ण स्वरूप गतार्थ

होजाता है। रथ में नेमि, आरे, परिधि, आदि अनेक विभाग रहते हैं। नेमि उस लौह कीलक का नाम है, जिस के आधार पर दोनों चक्र [पहिए] दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण रथ प्रतिष्ठित है। जिस में यह कीलक प्रोत रहता है, उसे "नाह" कहा जाता है। नाहछिद्रों में प्रोत ऊर्ध्वदण्ड आरे हैं। आरों से बद्ध बहिश्चक्र परिधि है। इन सब से रथचक्रों का स्वरूप निष्पन्न हो रहा है। इसी के आधार पर रथ का रथत्व प्रतिष्ठित है।

नेमि अव्यय है, नाह अक्षर है, धुरे-परिधि-आत्मक्षर है। एवं रथ वैकारिकविश्व है। नेमि मूल है, धुरे-परिधि तूल हैं। दोनों का संयोजक नाह है। नाह में ही नेमिरूप कीलक प्रतिष्ठित है, नाह में ही आरे-और परिधि प्रतिष्ठित हैं। यही दशा त्रिपुरुषात्मक पुरुष की है। अव्यय इस विश्वरथ की नेमि है, यह भी मध्यस्थ अक्षर के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। क्षर धुरे तथा परिधि है। यह भी अक्षररूप नाह में ही प्रोत हैं। इस प्रकार अव्ययदृष्ट्या वही इस विश्वरथ का नेमि बना हुआ है, अक्षरदृष्ट्या नाह बना हुआ है, एवं आत्मक्षरदृष्ट्या अरा-परिधि बना हुआ है। एक ही आत्मा के इन तीनों विवर्त्तों का श्रुति समष्टिरूप से निरूपण कर रही है।

अव्ययपुरुष सर्वालम्बन बनता हुआ एक नेमिरूप है। सब कुछ इसी नेमि में अर्पित है। अव्ययपुरुष की इसी सर्वालम्बनता का, दूसरे शब्दों में एक नेमित्व का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनेन विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्यरूपे किमपि स्विदेकम्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

त्रिवृत्-षोडशान्त-शतार्द्धार-विंशतिअरा-अष्टधा विभक्त ६ षट्कयुक्त, त्रिमार्गभेद, द्विनिमित्त-एकमोह इन शब्दों का आत्मक्षर से सम्बन्ध है। त्रिवृत् नाम ९ संख्या का है। षोडशीप्रजापति के अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों त्रिवृद्भावापन्न हैं। तीनों में तीनों का समावेश है।

इसी त्रिवृत्करण प्रक्रिया के लिए "तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणि" यह कहा गया है। त्रिवृत् ही अव्यय है, त्रिवृत् ही अक्षर है, त्रिवृत् ही यद्यपि आत्मक्षर है। परन्तु सृष्टिप्रक्रिया के सम्बन्ध से त्रिवृद्भाव का पूर्णविकास आत्मक्षर में ही माना गया है। आत्मक्षर ही शुक्र का उद्भावक है। वाक्-आपः-अग्नि की समष्टि शुक्र है। वाक् अन्न है, आपः अप् है, अग्नि तेज है। तेज-अप्-अन्न के त्रिवृद्भाव से ही शुक्रावच्छिन्न आत्मक्षर सप्तलोक, किंवा पञ्चभूत-सृष्टि का कारण बनता है। अथवा सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणों के त्रिवृद्भाव से भी इसे त्रिवृत् कहा जासकता है। अथवा मनः-प्राण-वाक् के त्रिवृद्भाव से भी यह 'त्रिवृत्' कहला सकता है।

पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न होनेवाले पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियं, ५ कर्म्मेन्द्रिएं, १ इन्द्रियमन इन १६ भौतिक कलाओं की समष्टि षोडशी है, जिसका कि दर्शननिरुक्ति के प्राधानिकतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। इन १६ ओं का अन्त (परायण) आत्मक्षर ही है। क्योंकि इसी से पञ्चतन्मात्रादि का विकास हुआ है, एवं इन्हीं से उक्त १६ भाव उत्पन्न हुए हैं। चूंकि यह इन १६ विकारों की अन्तिम विश्रामभूमि है, अतएव "षोडशकोऽन्तो यस्य" इस निर्वचन के अनुसार आत्मक्षर को अवश्य ही षोडशान्त कहा जासकता है। अथवा इन १६ कलाओं से प्रश्नोपनिषत् की प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, आप, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य्य, तप, मन्त्र, कर्म्म, लोक, नाम, इन १६ कलाओं का भी ग्रहण किया जासकता है। इन के सम्बन्ध से भी इसे षोडशान्त कहा जासकता है। तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, ये पांच विपर्य्यय, ११ इन्द्रियों की मूकत्व, बधिरत्व, अन्धत्व, पङ्गुत्व आदि ११ अशक्तिएं, अन्तःकरण से सम्बन्ध रखनेवाली ९ तुष्टियों की प्रतिबन्धकरूपा ९ अशक्तिएं, ८ सिद्धियों की प्रतिबन्धिका ८ अशक्तिएं, इस प्रकार सब मिलकर २८ अशक्तिएं, ९ तुष्टिएं ८ सिद्धिएं संभूय शतार्द्ध (सौ के आधे ५०) भाव होजाते हैं। इन सब का मूल भी वही आत्मक्षर है, अतएव इसे शतार्द्धार कहा जासकता है। यह पचासों भाव अक्षररूप नाद के आधार पर प्रति-

ष्ठित छररूप आरे हैं। इसीलिए "पञ्चाशत्प्रत्ययभेदा अरा इव यस्य" इस निर्वचन के अनुसार उसे अवश्य ही शताद्धार कहा जासकता है।

वह बीस प्रत्यरों से युक्त है। अरा को दृढ करने के लिए नाह एवं परिधि में जो कीलक लगाए जाते हैं, वे प्रत्यरा हैं। कौषीतकि सम्मत १० इन्द्रिएं, एवं उन के १० नियत विषय यह विंशति आत्मचक्र के प्रत्यरारूप हैं। इन से युक्त होकर वह शताद्धारमूर्त्ति बना हुआ है। यह आत्मचक्र निम्न लिखित ६ अष्टकों से युक्त है—

प्रकृत्यष्टकम्	धात्वष्टकम्	ऐश्वर्याष्टकम्	भावाष्टकम्	देवाष्टकम्	गुणाष्टकम्
१–भूमिः	१–त्वक्	१–अणिमा	१–धर्म्मः	१–ब्रह्म	१–दया
२–आपः	२–चर्म्म	२–महिमा	२–ज्ञानम्	२–प्रजापतिः	२–शान्तिः
३–अनलः	३–मांसम्	३–गरिमा	३–वैराग्यः	३–देवाः	३–शौचम्
४–वायुः	४–रुधिरः	४–लघिमा	४–ऐश्वर्य्यम्	४–गन्धर्वाः	४–अनायासः
५–खम्	५ मेदः	५–प्राप्तिः	५–अभिनिवेशः	५–यक्षाः	५–मङ्गलम्
६–मनः	६–अस्थि	६–प्राकाम्यम्	६–मोहः	६–राक्षसाः	६–अकार्पण्यम्
७–बुद्धिः	७–मज्जा	७–वशित्वम्	७–आसक्तिः	७–पितरः	७–अनुसूया
८–अहंकारः	८–शुक्रम्	८–ईशित्वम्	८–अस्मिता	८–पिशाचाः	८–अस्पृहा
१	२	३	४	५	६
प्रकृतिविकृतयः	धातव.	सिद्धयः	बुद्धयः	योनयः	गुणाः

ज्ञान–कर्म्म–उपासना भेद से वह तीन मार्गों से गम्य बनता हुआ त्रिमार्गभेद युक्त है।

क्षरदृष्ट्या वह कर्म्ममार्ग का, अक्षरभावना से वही उपासनामार्ग का, एवं अव्ययभावना से वही ज्ञानमार्ग का प्रवर्त्तक बना हुआ है।

वह अपनी तमोमयी अविद्या, एवं काममय मन इन दो निमित्तों से विश्वमोह प्रवृत्ति का कारण बनता हुआ "द्विनिमित्तैकमोह" बन रहा है।

"विश्वरूपैकपाशम्" वाक्य अक्षर से सम्बन्ध रखता है। नानारूप रहने पर भी विश्व एक है। एकवत् प्रतीत होरहा है। यह एकत्वप्रतीति नानाभावापन्न क्षरकूट पर रहने वाले उस कूटस्थ अक्षरपाश की ही कृपा का फल है। अव्यय पशुपति नें इसी एकरूप कूटस्थ अक्षरपाश से विश्वरूप क्षरपशु का नियन्त्रण कर रक्खा है।

—१—

२—यह मन्त्र एक नदी को दृष्टान्त बनाता हुआ षोडशी प्रजापति का निरूपण कर रहा है। आनन्द–विज्ञान –मन–प्राण–वाक् अव्यय की ये पांचों कलाएं कोशात्मक बनतीं हुईं पांच स्रोत हैं। इन्हीं से मात्रा लेकर सब उपजीवित हैं। अमृतभावप्रधान ब्रह्मा–विष्णु-इन्द्र–अग्नि सोम यह की ये पांचों कलाएं प्रखर पांच योनिएं हैं। प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नादरूप पांचों (प्राणात्मक) ऊर्म्मियों का पञ्चकल क्षर से सम्बन्ध है। यही क्षर मनोरूप से पञ्चज्ञानेन्द्रियजन्य ज्ञान की मूल प्रतिष्ठा है। पांच ऐन्द्रियक विषय इस क्षर के (प्राणियों के लिए) डूबने, व तैरने के स्थान हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच क्लेश इसी विश्वोपहित क्षर से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार ६ भागों में विभक्त पञ्च–पञ्चरूप उस प्रजापति का मैं अध्ययन कर रहा हूं। मन्त्रगत–"पञ्चस्रोतोऽम्बुम्" अव्यय का सूचक है। "पञ्चयोन्युग्रवक्राम्" अक्षर का सूचक है। एवं शेष चारों पञ्चक आत्मक्षर से सम्बन्ध रखते हैं।

—२—

३—परमब्रह्म (अक्षरब्रह्म) तो उद्गीथ है। भोक्ता–भोग्य–प्रेरयिता लक्षण त्रयंब्रह्म इसी में प्रतिष्ठित है। (यद्यपि ये तीनों हीं प्रतिष्ठारूप हैं, परन्तु इन में) अक्षर ही-सुप्रतिष्ठा है। इस

प्रतिष्ठात्रयी में निगूढ तत्त्व (अव्यय) को ब्रह्मज्ञानी पहिचान लेते हैं, पहिचानकर तत्पर (अव्ययपर) होतेहुए जन्म—मृत्युलक्षण द्वन्द्वयोनि से विमुक्त होते हुए उसी ब्रह्म (अव्यय) में लीन होजाते हैं।

अक्षर को संकेतभाषा में परमब्रह्म कहा जाता है। छान्दोग्य के अनुसार हृदयस्थ-भाव को ही उद्गीथ कहा जाता है। हृदयरूप अक्षर ही परमब्रह्म है, यहीं अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों की प्रतिष्ठा है। तीनो विश्व की प्रतिष्ठा है। इन में अक्षर ही विश्व की सुप्रतिष्ठा है।

—३—

४—व्यक्त क्षर, अव्यक्त अक्षर दोनों परस्पर में संश्लिष्ट रहते हुए विश्व का भरण-पोषण करते हुए विश्वेश वन रहे हैं। जो जीवात्मा अपने इस ईशभाव को न जानता हुआ अनीश वना रहता है, वहीं विषयभोग में आसक्त बनकर बन्धन में आजाता है। जो जीव उस अपने ईशदेव को पहिचान लेता है। (अव्यय को पहिचान लेता है) वह मुक्त हो जाता है।

—४—

५—क्षरगर्भित, अतएव क्षररूप अज्ञ अज, अक्षर रूप ज्ञ अज दोनों क्रमशः अनीश एवं ईश हैं। इन के भोग्यभोक्तृभाव को निष्पन्न करने वाली अजा नाम की त्रिगुणभावमयी प्रकृति (योगमाया) है। इन दोनों से अतिरिक्त, कारण—कार्य्यातीत वह अनन्त आत्मा (अव्ययात्मा) (क्षरद्वारा) विश्वरूप बनता हुआ भी अकर्त्ता है। जब अव्यय-अक्षर क्षर—तीनो को एक स्थान पर देख लिया जाता है, तभी ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है।

—५—

६—विश्व की प्रकृति भूत क्षर प्रधान है, अमृताक्षर हर (पापनाशक ग्रन्थिवन्धविमोचक) है। इन दोनों का शास्ता देव (अव्यय) पृथक् है। इसी अव्यय के ध्यान से, बुद्धियोग से, तत्त्वमीमांसा से सर्वान्त में विश्वमाया निवृत्त होती है।

—६—

७—अपनी अध्यात्मसंस्था में प्रेरयितारूप से प्रतिष्ठित अक्षर, भोक्तारूप से प्रतिष्ठित अव्यय, भोग्यरूप से प्रतिष्ठित क्षर तीनों की समष्टि ही ज्ञेय है। इन तीनों को जानलेना सब कुछ जानलेना है। एक ही ब्रह्म (आत्मा) के ये तीन रूप हैं।

—७—

८—विद्या-अविद्यात्मक दो अक्षर [अक्षर एवं तत्संश्लिष्ट, अतएव अक्षरशब्द से ही व्यवहृत आत्मक्षर] उस अनन्त, निगूढ, परब्रह्म [अव्ययब्रह्म] में प्रतिष्ठित है। क्षर अविद्या है, अमृताक्षर विद्या है। इन दोनों का जो प्रभु है, वह [अव्यय] दोनों से भिन्न है।

—८—

९—वह प्रजापति [अव्यय की अपेक्षा से] केवल भावगम्य है, अशरीर है। [अक्षरदृष्टि से] भावाभावात्मक सदसत् सृष्टि का कर्त्ता है। एवं [क्षरदृष्टि से वही] कलात्मक विश्वसर्ग का उपादान है। जिन्होंने इस त्रिपुरुष पुरुषात्मक आत्मदेव को पहिचान लिया, वे शरीर-बन्धन से विमुक्त हो गए।

—९—

१०—वह [प्रजापति] अव्ययदृष्ट्या अदृश्य है, अग्राह्य है, अगोत्र है, अवर्ण है, चक्षु-श्रोत्रादि से अतीत है। [अक्षरदृष्ट्या] पाणिपाद रहित है, नित्य है, विभु है, सर्वगत [भूतगत] है, सुसूक्ष्म है। उसे विद्वान्लोग अव्यय भी कहते हैं, भूतयोनि [आत्मक्षर] रूप से भी उसे देख रहे हैं।

—१०—

११—यह सब कुछ पुरुष का ही विवर्त्त है। (क्षरदृष्ट्या) वह पुरुष विश्वकर्म्मरूप है, अक्षरदृष्ट्या वह तपोरूप है, एवं (अव्ययदृष्टि से) पर नामक अमृतब्रह्म है। अपनी शरीर गुहा में प्रतिष्ठित इस त्रिमूर्त्ति पुरुष को जो जानलेता है, हे सोम्य ! वह यहीं, इसी शरीर में, इसी लोक में अविद्याग्रन्थिविमोक में समर्थ होजाता है।

—११—

१२—स्पष्टार्थ है।

—१२—

उक्त प्रमाणवाद पाठकों को अरुचिकर अवश्य प्रतीत हुआ होगा। फिर भी इस सम्बन्ध में उन्हें इस अरुचि के साथ साथ इस विचारविमर्श का भी अवसर मिलेगा कि श्रौतवचन किसी एक अद्वैततत्त्व को (परात्पर को) लक्ष्य बनाते हुए भिन्न भिन्न आत्मविवर्त्तो का ही निरूपण कर रहे है। सब वही है, परन्तु सब परस्पर में एक नहीं है। आंख नाक-कान मुख आदि अवश्य ही "अहम्" है। सब का एक अहंपर ही विश्राम है। इसीलिए मै देखता हू, मैं सुनता हूं, इत्यादि रूप से सभी ऐन्द्रियक प्रत्यक्षों के साथ अहं शब्द समानरूप से सम्बद्ध है। परन्तु चक्षु-श्रोत्र-नासा आदि परस्पर में अभिन्न हैं, यह बात कोई नहीं मान सकता। इन्द्रिएं परस्पर मे भिन्न हीं हैं, अहं सब में अभिन्न हीं है। ठीक यही दशा इन आत्मविवर्त्तो में समझिए। परात्पर सब के लिए अभिन्न है। परन्तु अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। वह अव्यय भी हैं, अक्षर भी हैं, क्षर भी हैं, सब कुछ हैं। परन्तु अव्यय अक्षर–क्षर नहीं है, अक्षर अव्यय क्षर नहीं है, क्षर अव्यय–अक्षर नहीं है। पूर्वश्रुतिएं मूल में अपने अद्वैत-सिद्धान्त को सुरक्षित रखतीं हुईं भीं इस आत्मव्यूह का स्पष्टीकरण कर रही है।

पाठकों को स्मरण होगा कि हमनें एक ही आत्मा के अमृत-ब्रह्म-शुक्र ये तीन विवर्त्त बतलाए थे साथ ही में तीनों की ईश्वरसंस्था, एवं जीवसंस्था भेद से दो संस्थाएं बतलाई गईं थीं। इन में क्रमप्राप्त निरूपणीय ईश्वरसंस्था के अमृतात्मविभाग का संक्षेप से निरूपण किया गया। अश्वत्थ (ब्रह्माश्वत्थ) ही ईश्वर है। इस के धातु-विवर्त्त-आत्मा-पर्व ये चार विभाग हैं। धातुदृष्टि से इस के अमृत-अमृत-ब्रह्म-शुक्र ये चार विभाग हैं। विवर्त्तदृष्टि से इन चारों को क्रमशः परात्पर-पुरुष-प्रकृति-वैकारिक इन नामों से पुकारा जासकता है। आत्मदृष्टि से इन चारों को क्रमशः निगूढोत्मा, परमात्मा, अधियज्ञात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, कहा जासकता है। पर्वदृष्टि से निगूढोत्मा सर्वशक्तिघन, अनन्तरबाह्यभूमा है। इस में कोई पर्व नहीं है। हैं

तो भूमा-अणिमा, भूमाणिमा ये तीन पर्व हैं। परमात्मा में अव्यय-अक्षर-क्षर ये तीन पर्व हैं। अधियज्ञात्मा में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी ये पांच पर्व हैं। सर्वभूतान्तरात्मा में विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ ये तीन पर्व हैं। इस प्रकार समष्टिदृष्ट्या ईश्वरात्मव्यूह ४ भागों में, एवं व्यष्टिदृष्ट्या १४, किंवा ११ भागों में विभक्त है। इनमें से त्रिपर्वा परमात्मा का, एवं अपर्वा, किंवा त्रिपर्वा परात्पर का सप्रमाण दिग्दर्शन कराया गया। अब आगे के प्रकरण में क्रमप्राप्त ब्रह्म नाम के दूसरे, किंवा तीसरे पञ्चपर्वायुक्त अधियज्ञात्मा का सप्रमाण दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—१—परात्परात्मा (निगूढोत्मा–अभयात्मा–तुरीयं ब्रह्म)। (अपर्वा)

१—भूमात्मा, २–अणिमात्मा, ३–भूमाणिमात्मा। (किंवा त्रिपर्वा)

२–१–अव्ययात्मा--> ज्ञानमूर्त्तिः———→ आलम्बनात्मा }
३–२–अक्षरात्मा--> क्रियामूर्त्तिः सर्वमूर्त्तिः→ नियन्तात्मा } →परमात्मा (पुरुषः)
४–३–क्षरात्मा—-> अर्थमूर्त्तिः———→ परिणाम्यात्मा }

स एष चतुष्पर्वा–अमृतात्मा प्रथमो व्याख्यातः

—१—

इति–सगुण–अमृतात्मनिरुक्तिः

—ग—

घ—आधियज्ञात्मनिरुक्तिः

॥ श्रीः ॥

घ—अधियज्ञात्मनिरुक्तिः

ह एक स्मरण रखने की बात है कि उत्तर उत्तर की आत्मसंस्था कार्यरूप है, एवं पूर्व पूर्व की संस्था कारणरूप है। साथ ही में उत्तरकार्य की कारण-भूता पूर्व की आत्मसंस्था में उस के पूर्व की आत्मसंस्थाओं का भी समावेश रहता है। इस का एकमात्र कारण —"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" यही निगम है। इस दृष्टि से परात्पर कारण है, अव्यय कार्य है। इस कार्यरूप अव्यय में परात्पर का भी समावेश है। परात्परयुक्त अव्यय कारण है, अक्षर कार्य है। कार्यरूप अक्षर में परात्परयुक्त अव्यय का भी समावेश है। परात्पर-अव्ययुक्त अक्षर कारण है, क्षर कार्य है। कार्यरूप क्षर में परात्पर अव्ययुक्त अक्षर का भी समावेश है।

प्रकृत ब्रह्मात्मसंस्था की साक्षात् कारणता यद्यपि अमृतात्मा के चौथे पर्व क्षर को ही है। परन्तु क्षर अक्षर—अव्यय—परात्पर से अविनाभूत है। अतएव श्रुतिनें षोडशीप्रजापति को ही कारण बतलाते हुए—"प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" यह कह दिया है। यही कार्य—कारण प्रवाह आगे की आत्मसंस्थाओं में समझिए। इस प्रवाह का फल यह निकलता है कि, आप चाहे एक सर्षप [सरसों का दाना] अपने सामने रख लीजिए, उस में भी आपको ब्रह्म की वे सारी विभूतिएं, सम्पूर्ण आत्मसंस्थाएं मिलेगी, जो कि महाविश्व में है। सब में सब का साम्राज्य हो रहा है। यही ब्रह्म की सर्वता है, यही इस की सर्वव्यापकता है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव"—"प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च"—"सर्वमुह्येवेदं प्रजापतिः"—"यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः" इत्यादि श्रौतसिद्धान्तों का भी यही मौलिक रहस्य है। इस रहस्य को अपने लक्ष्य में रखिए, एवं अमृतात्मा के क्षरभाग से उद्भूत पञ्च-पर्वा अधियज्ञात्मा की मीमांसा कीजिए।

आत्मक्षर का विकास अक्षर से हुआ है। दोनों एक ही चणक के दो दल हैं। एक दल अपरिणामी है, वही अमृतप्रधान अक्षर है। एक दल परिणामी है, वही वलप्रधान क्षर है। वह पराप्रकृति है, यह अपराप्रकृति है। जो कलाएं उसकी हैं, वे ही कलाएं इसकी हैं। अन्तर दोनों के स्वरूप में यही है कि अक्षरकलाएं नित्यभाव के साथ साथ परिणाम रहित हैं। उन से कोई विकार उद्भूत नहीं होता। इधर क्षरकलाएं सकारणता की दृष्टि से सर्वथा नित्य, एवं अविकृत रहतीं हुईं भी परिणाम की जननी हैं। इन कलाओं से ही विकारों का प्रादुर्भाव हुआ है।

अक्षरब्रह्म पर, किंवा अक्षर की अमृतप्रधाना ब्रह्मकला पर प्रतिष्ठित क्षर की मृत्युप्रधाना ब्रह्मकला से, जो विकार उत्पन्न होता है, वह "प्राण"[1] नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर की अमृतप्रधाना विष्णुकला पर प्रतिष्ठित क्षर की मृत्युप्रधाना विष्णुकला से उत्पन्न विकार "आपः"[2] नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर की अमृतप्रधाना इन्द्रकला पर प्रतिष्ठित क्षर की मृत्युप्रधाना इन्द्रकला से प्रादुर्भूत विकार "वाक्[3] नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर की अमृतप्रधाना अग्निकला पर प्रतिष्ठित क्षर की मृत्युप्रधाना अग्निकला से प्रादुर्भूत विकार "अन्नाद"[4] नाम से प्रसिद्ध है। एवं अक्षर की अमृतप्रधाना सोमकला पर प्रतिष्ठित क्षर की मृत्युप्रधाना सोमकला से समुद्भूत विकार "अन्न"[5] नाम से प्रसिद्ध है।

प्राधानिकतन्त्र (सांख्यदर्शन) जिन्हें गुणभूत कहता है, जो गुणभूत इस तन्त्र की परिभाषा में "तन्मात्रा" नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्हीं को विज्ञानशास्त्रने (वेदशास्त्रने) "विकारक्षर" नाम से व्यवहृत किया है। प्राणविकार शब्दतन्मात्रा है, आपोविकार स्पर्शतन्मात्रा है, वाक्विकार रूपतन्मात्रा है, अन्नादविकार गन्धतन्मात्रा है, एवं अन्नविकार "रसतन्मात्रा है।

उक्त पांचों विकार, (किंवा तन्मात्राएं) उत्पन्न होने के अनन्तर क्षणमात्र भी स्वतन्त्र नहीं रहते। अपितु पांचों की परस्पर में आहुति हो जाती है। यही प्राथमिकयज्ञ है। अग्नि में सोमाहुति होना हीं यज्ञ है। जिस में आहुति होती है, वह संकेतपरिभाषा में अग्नि है, यही

योनि है। एवं जिस की आहुति होती है, वह सोम है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। चूंकि पांचों में पांचों की आहुति होती है, अतएव उक्त परिभाषानुसार पांचों हीं अन्न-अन्नाद बन जाते हैं। इसी आधार पर श्रुति का "सर्वमन्नं-सर्वमन्नादः" यह निगम व्यवस्थित है।

प्राण को योनिरूप अग्नि समझिए, आपः- वाक्-अन्न-अन्नाद चारों को रेतोरूप आहुति-द्रव्य समझिए। इन की आहुति से जो पञ्चात्मक प्राण विकसित होगा, वह "पञ्चीकृतप्राण" कहलाएगा। यही आगे जाकर भौतिकसर्ग का कारण बनेगा, अतएव इसे-"विश्वसृट्प्राण" कहागया है। यद्यपि इस में पांचो हैं, परन्तु प्रधानता योनिस्थानीय प्राण की ही है, रेतः-स्थानीय शेष चारों गौण हैं, अतएव तद्वाद न्याय से (पांचों के रहने पर भी) प्राण की इस पञ्चीकृत अवस्था को "प्राण" ही कहा जायगा। ठीक यही क्रम पञ्चीकृत आपः, वाक्, अन्न, अन्नाद में समझिए। यही दर्शनशास्त्र की सुप्रसिद्ध पञ्चीकरण प्रक्रिया है। इसे ही विज्ञानभाषा में यज्ञप्रक्रिया कहा जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि, क्षर की पाचों कलाओं से उत्पन्न प्राणादि पांच विकारक्षरों के पञ्चीकरणरूप यज्ञ से यज्ञात्मक प्राणादि पांच "विश्वसृट्" हुए।

इसी विश्वसृट् को पञ्चजन कहा जाता है। उत्पत्तिभाव का सूचक जनत् शब्द है। स्थूलजगत् की उत्पत्ति इसी से हुई है, अतएव इसे पञ्चजन कहा जाता है। प्राणादि भेद से पांच पञ्चजन हैं, जैसा कि आगे की-'यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इस प्रमाणश्रुति में स्पष्ट होने वाला है। प्रत्येक जन में पाचो हैं, सब हैं, सब में सब हुत हैं। यही पहिला सर्वहुत नाम का सर्वमेधयज्ञ है, जिस का कि रहस्यभेद पाठक-"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०" इत्यादि श्लोकभाष्य में देखेंगे। विश्वसृट्मूर्त्ति यही सर्वहुतयज्ञ वेदादिसृष्टियों का मूलप्रवर्त्तक माना गया है, जैसाकि-"तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

सृष्टि के मूल यदि ये ही पांचों होते, तो सृष्टि में वैषम्य न आता। परन्तु हम देखते हैं कि, सृष्टि के पांचों पर्वों में अहोरात्र का अन्तर है। इस अन्तर का मूलकारण है-पञ्च-

जनों की विशेषता। केवल यज्ञ से (पञ्चीकृतपञ्चजन से) ही यदि सृष्टि हो जाती, तब तो अवश्य ही विश्व में समानता रहती। परन्तु होता यह है कि, इस यज्ञ से पुनः यज्ञ होता है। यज्ञ से उत्पन्न यज्ञ समत्व से च्युत होकर विषम बन जाता है। पञ्चीकृतप्राण यज्ञमूर्त्ति है। इसे योनि समझिए, इस में शेष चारों पञ्चीकृत यज्ञक्षरों की आहुति दीजिए। इस से जो एक अपूर्व एवं विशेषभाव उत्पन्न होगा,वही "पञ्चीकृतपञ्चजन" कहलावेगा। यहां प्राणादि नाम नहीं रहने पाते। इन पांचों के नाम हैं वेद लोक, देव, भूत, पशु, ये। प्राणप्रधान पञ्चीकृतपञ्चजन वेद है, आपःप्रधान पं० पं० लोक है, वाक्प्रधान पं० पं० देव है, अन्नप्रधान पं० पं० पशु है, एवं अन्नादप्रधान पं० पं० भूत है। येही पांचों सुप्रसिद्ध प्रत्यक्षदृष्ट पांच पुरों के उपादान बनते हैं, अतएव इन्हें पुरञ्जन कहा जाता है। पञ्चजनात्मक यज्ञ से पुनः यज्ञ होने पर ही यज्ञगर्भित (पञ्चजनगर्भित) यज्ञमूर्त्ति इन पुरञ्जनों का विकास हुआ है। शारीरकतन्त्र की दृष्टि जहां अक्षरधिया अव्यय पर है, प्राधानिकतन्त्र जहां गुणभूतरूप विकारक्षर पर विश्राम मानता है, विशेषभावप्रिय वैशेषिक वहां पञ्चजनो पर ही विश्राम मान रहा है। यही वैशेषिक का अणुवाद है। एवं पुरञ्जनवाद ही तार्किकों का परमाणुवाद है।

वक्तव्य यही है कि वह आत्मक्षर ही विकार, पञ्चजन, पुरंजन रूप में परिणत होजाता है। इन्हीं उक्त पांच पुरंजनों से सुप्रसिद्ध स्वयम्भूपुर, परमेष्ठीपुर, सूर्य्यपुर, पृथिवीपुर, एवं चन्द्रपुर नाम के पांच पुर उत्पन्न हुए हैं। वेद से स्वयम्भू का, लोक से परमेष्ठी का, देव से सूर्य्य का, भूत से पृथिवी का, एवं पशु से चन्द्रमा का विकास हुआ है। पांचों पुरंजनों से उत्पन्न पांचों आगे जाकर इन्हीं के स्थूलरूपों के जनक बनते हैं। वेदमय स्वयम्भू वेदसृष्टि का, लोकमय परमेष्ठी लोकसृष्टि का, देवमय सूर्य्य देवसृष्टि का, भूतमयी पृथिवी भूतसृष्टि का, पशुमय चन्द्रमा पशुसृष्टि का अधिष्ठाता बनता है। यही सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च (पञ्चपर्वा विश्वप्रपञ्च) है। पांचों का एक आत्मा "अधियज्ञात्मा"नाम से प्रसिद्ध है। अनुपसृष्ट क्षर को ब्रह्म कहाजाताहै, अतएव इस सप्तलोकाधिष्ठाता अधियज्ञात्मा को हम "ब्रह्म" किंवा ब्रह्मात्मा कहने के लिए तय्यार हैं। यही विज्ञानभाषा में उपेश्वर कहाजाता है।

पाठक शायद यह न भूले होंगे कि, हमनें उस अखण्ड परात्परधरातल पर एक एक माया से एक एक अश्वत्थब्रह्म का सम्बन्ध बतलाया था, एवं एक एक अश्वत्थब्रह्म की सहस्र-सहस्र वल्शाएं बतलाई गई थीं। साथ ही में यह भी कहागया था कि, एक एक वल्शा में पांच पांच-पर्व होते हैं। पञ्चपर्वात्मिका एक वल्शा एक छोटा विश्व है। उस महामायी महेश्वर में ऐसे १००० विश्व हैं। सहस्रविश्वात्मक एक महाविश्व है। वह जब महेश्वर है, तो उस से संलग्न (उप) इन सहस्रवल्शेश्वरों को (प्रत्येक को) हम अवश्य ही उपेश्वर" कह सकते हैं।

सम्भवतः पाठक यह भी न भूले होंगे कि, परात्पर को हमने "वन" कहा था, एवं षोडशीप्रजापति नाम से प्रसिद्ध महेश्वर को उस वन का एक वृक्ष कहा था। वृक्ष कैसा, अश्वत्थ। इसे अश्वत्थ (पिप्पल) क्यों कहा गया ? इस का समाधान तो गीता की अश्वत्थविद्या में ही उपलब्ध होगा। यहां हमें इस सम्बन्ध में केवल यही बतलाना है कि, अश्वत्थवृक्ष की गणना वनस्पति विभाग में है, एवं इस वनस्पति के द्वारा ही श्रुतिने इसे सहस्रवल्शा कहा है। वनस्पतिरूप अश्वत्थवृक्ष सहस्रवल्शा (हजार टहनियोंवाला) है।

इस की एक एक वल्शा में स्व०पर०सू०पृ० च. ये पाच पाच पर्व हैं। इन पांचों में ब्रह्माग्निरूप स्वयम्भू द्युलोक है, देवाग्निरूप सूर्य्य अन्तरिक्षलोक है, अन्नादाग्निरूप पृथिवी पृथिवी लोक है। यही सप्तलोकावच्छिन्न उपेश्वर प्रजापति की भूः—भुवः—स्वः नाम की तीन महाव्याहृतिए हैं। त्रिवृद्भाव के कारण प्रत्येक में भूः (पृ.), भुवः (अन्त०), स्वः (द्यौ) इन तीन तीन व्याहृतियों का उपभोग है। इस प्रकार तीन के सातलोक होजाते हैं। जिस पर हम प्रतिष्ठित हैं, वह भू है, सूर्य्य स्वः है, दोनों का मध्यस्थान भुवः है। यही पहिली रोदसीत्रिलोकी है। रोदसी त्रिलोकी भू है, परमेष्ठी स्वः है, दोनों के मध्य का स्थान भुवः है। यही दूसरी क्रन्दसी त्रिलोकी है। क्रन्दसी त्रिलोकी भूः है, स्वयम्भू स्वः है, दोनों के मध्य का स्थान भुवः है। यही तीसरी संयती त्रिलोकी है।

रोदसी त्रिलोकी क्रन्दसी का भूः है, क्रन्दसी संयती का भूः है। अतएव ९ के ७ ही लोक रह जाते हैं। वे सातों लोक क्रमशः भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तपः-सत्यम्—इन नामो से

प्रसिद्ध हैं। यह उसी प्रजापति की सात छोटी व्याहृतिएं हैं। पृथिवी भू है, सूर्य्य स्वः है, दोनों का मध्यस्थान (जिसमें कि चन्द्रमा भी प्रतिष्ठित है) भुवः है। सूर्य्य—परमेष्ठी का मध्यस्थान महः है, परमेष्ठी जनत्, किंवा जनलोक है । स्वयम्भू सत्यलोक है। परमेष्ठी-स्वयम्भू के मध्य का स्थान तपोलोक है। इन सातों लोकों में महाव्याहृतिरूप स्वयम्भू सूर्य्य-पृथिवी यह तीन ही लोक प्रधान हैं। तीनों क्रमशः ब्रह्माग्नि, देवाग्नि,- अन्नादाग्नि हैं। परमेष्ठी—चन्द्रमा दोनो सोम हैं। परमेष्ठीसोम ब्रह्माग्नि—देवाग्नि के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ तद्ग्रहण से गृहीत है। चान्द्र-सोम अन्नादाग्नि-देवाग्नि के मध्य में प्रतिष्ठित रहता हुआ तद्ग्रहण से गृहीत है। इस प्रकार एक वल्शा में तीन ही मुख्य पर्व रह जाते हैं। ब्रह्माग्नि ब्रह्मा है, देवाग्नि विष्णु है, अन्नादाग्नि शिव है। ब्रह्मा सत्यपति हैं, विष्णु देवपति हैं, शिव भूतपति हैं। वल्शात्मिका त्रिलोकी के सञ्चालक येही तीनों देवता हैं। सत्यमूर्त्ति ब्रह्मा (स्वयम्भू) उपेश्वर का मस्तक है, देवमूर्त्ति विष्णु (सूर्य्य) चक्षु से उपलक्षित हृदय है, एवं भूतमूर्त्ति शिव (पृथिवी) पाद है। चूंकि उस महाअश्वत्थवृक्ष में ऐसी एक सहस्र संस्थाएं हैं, दूसरे शब्दो में एक सहस्र उपेश्वर हैं, अतएव उस महामायी महेश्वर को (इन एक सहस्र उपेश्वरों के सम्बन्ध से) सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपात् कहा जाता है, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (यजुःसंहिता)।

उक्त विषय का आगे की तालिकाओं से स्पष्टीकरण हो जाता है—

महामायावच्छिन्न ईश्वरप्रजापति (महेश्वरप्रजापति) अश्वत्थवृक्ष है, इस की सहस्र-शाखा हैं, प्रत्येक शाखा एक एक उपेश्वर हैं, इन सब का सप्रमाण विशदनिरूपण ब्रह्मविज्ञानादि इतरग्रन्थों में ही देखना चाहिए। यहां केवल कुछ एक वचन उ त कर दिए जाते हैं, जिनसे कि महामायी की सहस्र विश्वधाराओं का स्पष्टीकरण हो रहा है।

१—वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्राणिनां महते सौभगाय (ऋक् ३।८।११।)

परात्पराव्ययाक्षरयुक्तं—
ब्रह्म-(क्षर.)

१—ब्रह्मा—क्षरः—ततः—→ १—प्राणः
२—विष्णुः—क्षरः—ततः—→ २—आपः
३—इन्द्रः—क्षरः—ततः—→ ३—वाक्
४—अग्निः—क्षरः—ततः—→ ४—अन्नादः
५—सोमः—क्षरः—ततः—→ ५—अन्नम्

}—→ **विकारक्षराः—शुद्धाः**
(पञ्चतन्मात्राः—गुणभूतानि)

१—विशुद्धः प्राणो विकारः—सर्वहुतयज्ञात्—पञ्चीकृतप्राणः
२—विशुद्धा आपः—विकारः— „ „ आपः
३—विशुद्धा वाक्—विकारः— „ „ वाक्
४—विशुद्धः अन्नादः विकारः— „ „ अन्नादः
५—विशुद्ध—अन्नं—विकारः— „ „ अन्नम्

(यज्ञक्षराः—विश्वसृजः)
}—→ **पञ्चपञ्चजना.**
(अणुभूतानि)

१—पञ्चीकृतः प्राणः—ततो यज्ञात्—वेदपुरञ्जनः
२— ,, आपः— ,, —लोकपुरञ्जनः
३— ,, वाक्— ,, —देवपुरञ्जनः
४— ,, अन्नादः— ,, —भूतपुरञ्जनः
५— ,, अन्नम— ,, —पशुपुरञ्जनः
पञ्चपुरञ्जनाः
(परमाणवः)
१—पञ्चविंशतिकलो वेदपुरञ्जनः—ततः—स्वयम्भुपुरम्
२— ,, लोकपुरञ्जनः—ततः—परमेष्ठिपुरम्
३— ,, देवपुरञ्जनः—ततः—सूर्य्यपुरम्
४— ,, भूतपुरञ्जनः—ततः—पृथिवीपुरम्
५— ,, पशुपुरञ्जनः—ततः—चन्द्रपुरम्
पञ्चपुराणि
[महाभूतानि]
१ - स्वयम्भूः—ब्रह्माग्निः—स्वः
+ —परमेष्ठी
सोमः
२—सूर्य्यः—देवाग्निः—भुवः
+ —चन्द्रमाः
सोमः
३—पृथिवी—अन्नादाग्निः—भूः
महाव्याहृतयः

संयती ३—स्वः
- ३—स्वः .... ७—सत्यम्—स्वयम्भूः—आकाशः
- २—भुवः .... ६—तपः—सूत्रम्— +
- १—भूः

क्रन्दसी २—भुवः ....
- ३—स्वः .... ५—जनत्—परमेष्ठी—वायुः
- २—भुवः .... ४—महः—शिवः— +
- १—भूः

रोदसी १—भूः ....
- ३—स्वः...३—स्वः——सूर्य्यः—तेजः
- २—भुवः २—भुवः—चन्द्रमाः-रुद्रः-जलम्
- १—भूः १—भूः——पृथिवी—पृथिवी

१—स्वयम्भूः ——→ ब्रह्मा——सत्यमूर्त्तिः—शिरः
२—सूर्य्यः——→ विष्णुः—देवमूर्त्तिः—चक्षुः (हृदयम्)
३—पृथिवी——→ शिवः——भूतमूर्त्तिः—पाद्
} ——→ **उपेश्वरः**
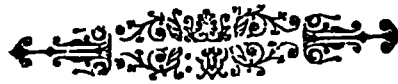
२—गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्। (ऋक् १।१६४।४१)

३—प्र सोमाय व्यश्ववत् पवमानाय गायत।
महे सहस्रचक्षसे। (ऋक् ९।६५।७।)

४—क त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥ (ऋक् ७।८८।५।)

५—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्॥
(ऋ० १०।११४।८।)।

१—हे वनस्पते [अश्वत्थवृक्ष]! आप शतवल्श हैं। [आप के यथार्थ विस्तार को जानता हुआ] मैं आप की उन सहस्रवल्शाओं पर आरोहण कर सकूं, ऐसा अनुग्रह कीजिए।

जिस आप को कि यह यज्ञकर्त्ता प्राणियों के [यज्ञकर्त्ता यजमानों के] महासौभाग्य [वृद्धि] के लिए आप को काट रहा है।

यज्ञ में वृक्षशाखा का उपयोग होता है। काटना एक बुरा कर्म्म है। इसी की अपह्नुति के लिए उक्त प्रार्थना मन्त्र का प्रयोग हुआ है। इसे उस अश्वत्थ की भावना से युक्त करते हुए कहा जाता है कि आप की तो हजार वल्शा हैं। आप पूर्ण हैं। आप कभी छिन्न नहीं हो सकतीं। आप स्वयं हीं अपना थोड़ा सा प्रदेश (एकवल्शा) सप्तलोकनिवासी प्राणियों के जीवन के लिए प्रदान कर देती हैं।

—१—

२—(वीची तरंगरूपा) उस गौरी (गौभावयुक्ता अक्षरवाक्) नें ही इस समुद्र को सीमित वना दिया है। वही भिन्न भिन्न आपोमय पदार्थों का मान करती हुई एकपदी, द्विपदी, सप्तपदी चतुष्पदी, अष्टापदी, नवपदी बनती हुई अन्त में अपने उस महामायामय परमाकाश में व्याप्त होकर सहस्राक्षरा (सहस्रवल्शात्मिका) वन गई है।

—२—

३—उस सोम के लिए वृद्धिभाव होगया है। उस सहस्रद्रष्टा पवमान सोम के लिए स्तोत्र-पाठ करो।

सोम पारमेष्ठ्य तत्त्व है। यहीं वाक् की सहस्र धाराओं का विकास होता है। अतएव सोम को सहस्रचक्षा कह दिया गया है। इसी सहस्रधार सोमाहुति से सूर्य्य सहस्रांशु वनता है। सोम की यह सहस्रधाराएं उस सहस्रवल्शात्मिका वाक् की ही तूलावस्थाएं हैं। "सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्-वागेवसाऽसृज्यत" के अनुसार वाक् ही अप्मूर्त्ति सोमरूप में परिणत होती है।

—३—

५—उस प्रजापति में सहस्रभावात्मक, किंवा सहस्ररूप से विकसित होनें वाले १५ उक्थ हैं। जहांतक द्यावापृथिवी (महाव्याहृतिएं) व्याप्त हैं, वहांतक उस का यह सहस्रभाव व्याप्त

है। यही नहीं उस के सहस्रपर्व आगे जाकर अपनी महिमा से (प्रत्येक) पुनः सहस्र–सहस्र भावों में परिणत हो जाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि जहांतक (परमाकाशतक) यह अधियज्ञात्मा व्याप्त है, वहांतक वागूरूप इस एक सहस्रधारा का वितान समाप्त हो जाता है।

—५—

इन के अतिरिक्त ऋक्संहिता के ६, ६०, १,। ६, २६, २। ८, ७७, ७,। १, ८०, १२। १, ८५, ६,। १, ११२, १०,। ४, ५, ३। इत्यादि स्थलों में भी उस महामायी-के सहस्रभावों का ही भिन्न भिन्न रूप से दिग्दर्शन कराया गया है।

सत्र का मूल चूंकि सहस्रभावापन्न अश्वत्थप्रजापति है, अतएव उस के विश्वमें, विश्व के पर्व पर्व में आप सहस्रभाव का साक्षात्कार कर सकते हैं। प्रत्येक वस्तु में अपना अपना नियत साहस्रीमण्डल रहता है, जोकि वेद, लोक, वाक् भेद से तीन तीन भागों में विभक्त है। पदार्थ भौतिक है। भौतिकविश्व के सञ्चालक ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र ये तीन देवता हैं। इन में ब्रह्मा प्रतिष्ठा है। इस के आधार पर प्रतिष्ठित इन्द्रा-विष्णु की स्पर्द्धा से ही उक्त तीनों साहस्रियों का वितान होता है, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्र–ब्राह्मण वचनों से स्पष्ट है—

उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे न परा जिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्चविष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदै रयेथाम् ॥
किं तत् सहस्रमिति ?
इमे लोकाः,
इमे वेदाः,
अथो वागिति ब्रूयात ॥

सहस्रसंख्यापर पूर्णेश्वर की (महेश्वर की) पूर्णता समाप्त है। अतएव संख्याविज्ञान निष्णात आचार्यों ने सहस्रशब्द को पूर्णार्थक मानलिया है, जैसा कि–"*सर्वं वै सहस्रम्"

*कल्पनारसिक पश्चिमी विद्वानोंने सहस्रशब्द का मौलिक रहस्य न जानते हुए यह कहने का दुःसाहस किया है कि, ऋषियों को एक हजार से अधिक संख्या का ज्ञान न था।

"पूर्णं वै सहस्रम्" इत्यादि श्रौतवचनों से स्पष्ट है। प्रत्येक पदार्थ में सहस्रवर्त्मा सामवेद के सम्बन्ध से १००० सहस्र गौ का उपभोग होता है। इन्हीं से वषट्कार नाम की वाक्साहस्री का स्वरूप निष्पन्न होता है। हजारवां साम उस वस्तु की समाप्ति है, पूर्णता है, अतएव यह उद्वंशसाम, निधनसाम आदि नामों से सम्बोधित हुआ है। अस्तु इन सब विषयों के स्पष्टीकरण के लिए प्रकृत में अवसर नहीं है।

यहां उक्त साहस्री प्रकरण से हमें यही बतलाना है कि, महामायी अश्वत्थेश्वर की एक शाखा से सम्बन्ध रखने वाला वल्शेश्वर ही उपेश्वर है। इसी सप्तवितस्तिकाय वल्शेश्वर को हम "ब्रह्मात्मा", किंवा "अधियज्ञात्मा" कहेंगे। जिस प्रकार वह षोडशी अन्य वल्शाविश्वों में प्रविष्ट होरहा है, एवमेव इस हमारी वल्शा में भी वह प्रविष्ट होरहा है। पञ्चपर्वात्मिका वल्शा में अवारपारीण रहने वाला वह एक षोडशी ही अधियज्ञात्मा है। वह क्षरब्रह्म को आगे करके ही इस वल्शा का, किंवा यज्ञ का अध्यक्ष बना है, अतः इस यज्ञविश्व की अपेक्षा से उसे हम ब्रह्मात्मा ही कहेंगे। वह स्वयं आत्मा है, वल्शा उस का शरीर है। दोनों की समष्टि प्रजापति (उपेश्वरप्रजापति) है। महाविश्व षोडशी का शरीर है, वल्शात्मक सप्तपर्वा, किंवा पञ्चपर्वा विश्व इस क्षरप्रधान अधियज्ञात्मा, किंवा ब्रह्मात्मा का शरीर है। क्षरप्रधान इसी अधियज्ञात्मा का (जिस के कि उदर में तीनों त्रैलोक्य, त्रैलोक्यों में रहने वाली चर-अचर प्रजा प्रतिष्ठित है) दिग्दर्शन कराते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं।

अतएव उन्होंने-"पूर्णं वै सहस्रम्" यह कहते हुए सहस्र संख्या पर ही विश्राम मान लिया है। सचमुच वैदिकरहस्यानभिज्ञ ये पश्चिमी सर्वथा दया के पात्र हैं। तभी वे ऐसी भ्रान्तकल्पनाएं करने में अपने को धन्य समझ रहे हैं। शायद उनकी दृष्टि में श्रुति का--"तदिदमिमान् अतिविध्य दशधा, शतधा, सहस्रधा, अयुतधा, प्रयुतधा, नियुतधा, अर्बुदधा, न्यर्बुदधा, निखर्वधा, पद्म, मक्षिति, व्योमान्तः। यथौघौ विष्यन्दमानः परः परोवरीयान् भवति, एवमेवैतत्स्वरं परः-परोवरीयो भवति" (जै०ब्रा०उप०२।३।५)। यह वाक्य न आया होगा।

१–अधियज्ञात्मा (सप्तलोकाधिष्ठाता–उपेश्वरः–यज्ञपुरुषः) ।

१—तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥
(ऋक् सं० २।३।१५।) ।

२—एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभव येष आत्मा ।
(मुण्डक० ३।१।९।) ।

३—छन्दांसि, यज्ञाः, क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्चवेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतव तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः॥
(श्वे० ४।९।) ।

४—यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेवमन्ये आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

५—यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
तदेव भूतं तदु भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ॥

६—येनावृतं खं च दिवं महीं च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च ॥
यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजा ः॥

१—तीन माताओं, तीन पिताओं (एवं तीन अन्तरिक्षों) को धारण करता हुआ वह हृदयस्थ एक तत्व (अधियज्ञात्मा) जरा भी नहीं थकता है । इस के स्वयम्भूरूप द्युलोक के पृष्ठ में सातों लोकों के पदार्थ उस वाक् से मन्त्रणा कर रहे हैं, जोकि वाक् सम्पूर्ण विश्व बनती हुई भी विश्वातीत है ।

तीन द्यौ, तीन पृथिवी, तीन अन्तरिक्ष इस प्रकार ९ लोक हो जाते हैं । द्यौ को पिता कहा जाता है, पृथिवी को माता कहा जाता है–(देखिए ऋक् सं० ४।८।११)। इन ९ के

आगे जाकर ७ ही लोक रह जाते हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है। इन सब की प्रतिष्ठा वही एक (सप्तलोकव्यापी) अधियज्ञात्मा है। सातों लोकों में रहने वाली चर-अचर प्रजा मूलप्रतिष्ठारूप द्युलोकस्थानीय सत्यस्वयम्भू की वाक् से मन्त्रणा कर रही है। वाक् से सम्बन्ध करना ही मन्त्रणा है। "वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता" के अनुसार वाक् में ही सम्पूर्णभूत अर्पित हैं। फलतः वाक् का विश्वातीतत्व सिद्धत्व हो जाता है। इसीलिए **"अविश्वमिन्वाम्"** कहा गया है।

अधियज्ञात्मा वाङमय है, वाक्प्रधान है। अव्यय के मन का विकास स्वयं अव्यय में रहता है, प्राण की विकासभूमि अक्षर है, एवं वाक् की विकासभूमि क्षर है। वाङ्मय क्षर-ब्रह्म ही पूर्वकथनानुसार अधियज्ञात्मरूप में परिणत हुआ है। अधियज्ञात्मा की इस वाक् का विकास सत्यस्वयम्भू में ही होता है। इसीलिए स्वयम्भूब्रह्मा को जहां प्राणसम्बन्ध से प्राणमूर्त्ति कहा जाता है, वहां इस वाक्सम्बन्ध से इसे वाक्पति भी माना गया है। यही द्यु का पृष्ठ है। यहीं से सातों लोक वाक् को लेकर जीवित हैं।

—१—

२—यह अणु आत्मा (अधियज्ञात्मा) विशुद्धचित्त से विज्ञेय है। जिस में कि प्राण—आप वाक्-अन्न--अन्नाद ये पांच प्राण (यज्ञक्षर), प्रविष्ट हैं। इन्हीं प्राणों के आधार पर सप्तलोक प्रजा के चित्त जिस में ओत हैं, जिस चित्त के विशुद्ध होने पर यह आत्मा अपने महिमारूप में आजाता है, वही विज्ञेय आत्मा है।

—२—

३—गायत्र्यादि सातो छन्द, अतियज्ञ, महायज्ञ, शिरोयज्ञादि सम्पूर्णयज्ञ (पुरुषार्थकर्म्म), अग्निहोत्र, अग्न्याधानादि सम्पूर्ण क्रतु (क्रत्वर्थकर्म्म), भूत-भविष्यत, और जो कुछ वेद बतला रहे हैं, वह सब कुछ इसी से प्रकट हुए हैं। वह मायी इस विश्व को उत्पन्न करता है, उधर इसी का अंशभूत दूसरा मायी (जीवात्मा· अपनी अज्ञता से) इस माया से बद्ध होरहा है।

—३—

४— जिस (अधियज्ञात्मा) में पञ्चीकृत प्राण-आप् वाक् अन्न-अन्नाद पांच पञ्चजन प्रतिष्ठित हैं, पांचों का मूलभूत स्वयम्भूरूप आकाश जिस में प्रतिष्ठित है, व्योम की भी प्रतिष्ठारूप, अतएव परमव्योम नाम से प्रसिद्ध उस अधियज्ञात्मा को ही मैं (विश्वका) विश्वका (एक) आत्मा मान रहा हूं। जो इस अमृतलक्षण ब्रह्मात्मा को जान लेता है, वह स्वयं भी तद्रूप ही बन जाता है।

—४—

५—जिस [अधियज्ञात्मा] में यह सातों लोक समाए हुए हैं, जिस में-सम्पूर्ण देवता प्रतिष्ठित हैं, वही भूत की प्रतिष्ठा है, वही भविष्य का आलम्बन है। ऐसा सर्वप्रतिष्ठा लक्षण क्षरमूर्त्ति यह अधियज्ञात्मा परमव्योमलक्षण उस अक्षर में प्रतिष्ठित रहता हुआ तद्रूप बन रहा है।

—५—

६—आकाश [स्वयम्भू], द्यौ [सत्य], पृथिवी [भूत] सब कुछ जिस से आवृत [जिस के गर्भ में] हैं, जिस के प्रभाव से आदित्य अपने वर्चोलक्षण तेज, एवं दीप्तिलक्षण भ्राज से तप रहा है, वेदविज्ञानवेत्ता जिसे इस [पारमेष्ठ्य] समुद्र की गहराई में [महानात्मा के गर्भ में] सूत्ररूप से वितत कर रहे हैं, जिस अक्षरसहयोगी, अतएव अक्षरमूर्त्ति अधियज्ञात्मा में सम्पूर्ण प्रजापवर्ग [जीवसर्ग] प्रतिष्ठित हैं, वही आत्मा विज्ञेय है।

—६—

जिस प्रकार षोडशीप्रजापति नाम से प्रसिद्ध एक ही अमृतात्मा के परात्पर-अव्यय अक्षर-क्षर भेद से चार पर्व हैं, एवमेव सप्तलोकव्यापी इस अधियज्ञात्मा के भी अवान्तर पांच पर्व हैं। इन पांचों में एक तो परमप्रजापति, आभूप्रजापति, परोरजा, आदि नामों से प्रसिद्ध है, एवं शेष चारों प्रतिमाप्रजापति कहलाते हैं। इन में से क्रमप्राप्त पहिले परमप्रजापति को ही लीजिए।

१—परमप्रजापतिः (स्वयम्भूः—परोरजाः)।

स्वयम्भूतत्त्व ही परमप्रजापति है। एक प्रकार से अधियज्ञात्मा, एवं यह स्वयम्भू

दोनों अभिन्नवत् ही हैं । तथापि प्राणपर्व की दृष्टि से हम इसे वह न कह कर उस का एक पर्व ही कहेंगे । "यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश" के अनुसार प्राणरूप स्वयम्भू, अब्रूप परमेष्ठी आदि पांचों उस एक ही अधियज्ञात्मा में प्रोत हैं । यद्यपि स्वयम्भू की महिमा में भी पांचों हैं, परन्तु पांचवां वह स्वयं ही है, अतः उस के सम्बन्ध में–"यस्मिन् प्राणः पञ्चधा०" यह वचन यथावत् चरितार्थ नहीं बनता । एक कारण ।

सातों में स्वयम्भू केवल सत्यलोकप्रधान बनता हुआ स्वस्वरूप से आकाशात्मा है । आकाशरूप है । इस में केवल चार ही पञ्चजन प्रतिष्ठित है । पांचवां पञ्चजन यह स्वयं ही है । उधर उस में पांचों पुरञ्जन, सातों लोक, सप्तलोकाधिष्ठाता स्वयं सत्याकाश सब कुछ प्रतिष्ठित है । "फलतः–यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" यह श्रुति भी उसी से सम्बन्ध रखता है ।

स्वयम्भू ब्रह्म है, प्राणप्रधान है, यज्ञात्मा का प्राणरूप एक पर्व है । यही सत्यलोकाधिष्ठाता है, यही आकाशात्मा है । इस के आत्मा-पद-पुनःपद भेद से तीन पर्व हैं । हृदयस्थ भाव आत्मा है, इसे हम प्राणात्मा, किंवा सत्यात्मा कहेंगे । स्वयम्भूपिण्ड पद है, स्वयम्भू की महिमा [आकाश] पुनःपद है । पदरूप से स्वयम्भू परमेष्ठी के ऊपर प्रतिष्ठित है । एवं महिमारूप से यह परमेष्ठी-सूर्य्य चन्द्रमा–पृथिवी इन चारों को अपने गर्भ में रखता है । यह सत्यलोक मूर्त्ति सर्वथा स्थिर है, शेष ४ रों विचाली हैं । चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर, सचन्द्रा पृथिवी सूर्य्य के चारों ओर, सपृथिवी सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर, एवं ससूर्य्य परमेष्ठी इस सत्य स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं । भूरादि ६ ओं लोक इसी परिक्रमा के कारण "रज" कहलाते हैं । सत्यस्वयम्भू सर्वथा स्थिर है, अतएव इसे परोरजा कहा जाता है ।

यह ६ओं में आसमन्तात् व्याप्त है, अतएव इसे आभूप्रजापति कहा जाता है । पांचों पर्वों में यही सब से बड़ा है, अतएव इसे परमप्रजापति कहा जाता है । वेद–सूत्र-नियति इस के ये तीन मनोता हैं । वेदात्मा बनकर यही अव्यक्त स्वयम्भू व्यक्त प्रजासृष्टि का कारण बनता है । नियतिरूप से यही अन्तर्य्यामी बनता है, एवं सूत्रभाग को सत्यसूत्र-ऋतसूत्र

इन दो भागों में विभक्त कर इन दोनों से विश्व के ऋत-सत्यात्मक पदार्थों में अपनी मात्रा प्रदान करता है। इस प्रकार सप्तलोकात्मक विश्व का सर्वेसर्वा यही स्वयम्भू बना हुआ है। इसीलिए आरम्भ में हमनें इसे अधियज्ञात्मा के समकक्ष बतलाया है। इसी विश्वकर्म्मा स्वयम्भू का निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

१—विश्वकर्म्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद्गन्धर्वो अभवद्द्वितीयः।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा ॥
यजुः १७।३२)।

२—या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वावृधानः ॥
(य० १७।२१)

३—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन् महिना विश्वचक्षाः ॥
(यजुः १७।१८)।

४—यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(यजुः १७।२७)।

५—परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति।
किंस्विद्गर्भं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे ॥
(यजुः १७।२९)।

६—तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥
(यजुः १७।३०)।

७—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमिं जनयन् देव एकः ॥
(यजुः १७।१९)।

(वेदसृष्टिः ८—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥

९—घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा देवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

(अन्तर्यामी)१०—एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

११—हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥

१२—स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥

१३—त्रीणिपदा निहिता गुहासु यस्तद्वेद स पितुः पितासत् ।
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥

१४—सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्तजिह्वाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति गुहाशया निहिताः सप्तसप्त ॥

१५—ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥

१.—(सर्वप्रथम विश्व में) विश्वकर्म्मा नामक देवता प्रकट हुआ । इस के अव्यवहितोत्तर काल में ही गन्धर्व नामक दूसरा तत्व उत्पन्न हुआ । तीसरा औषधियों का पिता (सो-

म) उत्पन्न हुआ, जिसनें कि पानी के गर्भ को (सूर्य्य को) अनेक भागों में, १२ भागों में, किंवा सहस्रभागो में) विभक्त किया।

यह मन्त्र स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य इन तीन पर्वों का निरूपण कर रहा है। विश्वकर्म्मा स्वयम्भू है, यह महाभूतों का आकाशात्मक आदिभूत है । इस के अनन्तर आपोमय परमेष्ठी का विकास होता है । परमेष्ठी सोमलोक है, जैसा कि–"तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्" इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। सोम को असुराक्रमण से बचाने वाला पारमेष्ठ्यप्राण ही गन्धर्व है। गन्धर्व से परमेष्ठी ही उपलक्षित है। तीसरा सोम शुक्ररूप से सब का पिता है, अतएव सौम्यप्राण को पितर कहा जाता है। यह ओषधियो का पिता (सोम) ही आपोमय समुद्र के गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित अग्नि में आहुत होकर उसे सूर्य्यरूप में परिणत कर देता है। इसी सोमाहुति से सूर्य्यज्योति के १२ भेद हो जाते हैं । यही द्वादश आदित्य है। "अजनयत् सूर्य्ये ज्योतिरिन्दुः" के अनुसार इसी सोमाहुति से सूर्य्य में ज्योतिर्म्मयी सहस्ररश्मियों का विकास हुआ है।

—१—

२—हे विश्वकर्म्मन् ! तुम्हारे जो परमधाम हैं, अवमधाम हैं, एवं जो मध्यमधाम हैं, इन मित्ररूप धामों को तुम अपनी जैसी ही शिक्षा दे रहे हो । आप इस विश्वरूप हवि में अपने आप यजन करते हुए अपने शरीर को बढाते हुए यजन करो (यजन कर रहे हो)।

स्वयम्भू-परमेष्ठी ये दो परमधाम हैं। पृथिवी-चन्द्रमा ये दो अवमधाम है। एवं मध्यस्थ, सप्तवर्गात्मक सूर्य्य मध्यमधाम है। परमेष्ठी आदि चारों स्वयम्भू के अभिन्न मित्र हैं। पांचों समानशीलव्यसन हैं। अतएव इन चारों को स्वयम्भू की प्रतिमा (प्रतिकृति) माना जाता है। स्वयम्भू की तरह इन में भी आत्मा-पद-पुनःपद, तीन तीन मनोता, सब कुछ विद्यमान है । यही इन को इस की शिक्षा है । सर्वहुतयज्ञ द्वारा यह स्वयं हवि बनकर विश्वरूप में वितत होगया है। स्वयम्भू का शरीर इसी यज्ञ के प्रभाव से पांच भागों में वितत होगया है।

—२—

३—इस विश्व का अधिष्ठान (आलम्बन) क्या था, आरम्भण (उपादानकारण) कौन था ? कैसा था ? जिस के सहारे प्रतिष्ठाभूमि (विश्व) को उत्पन्न करते हुए विश्वद्रष्टा विश्वकर्म्मानें द्यौ को फैला दिया।

अव्यय आलम्बन था, क्षर उपादान था, अक्षर क्रियारूप निमित्त था। इन्हीं के आधार पर विश्वकर्म्मा स्वयम्भू विश्वरचना में समर्थ हुए।

—३—

४—जो हमारा पालक एवं उत्पादक है, जो हमारी प्रतिष्ठा है, जो इन सम्पूर्ण लोकधामों को (सातों लोकों को) जानता है, जो देवताओं का एक सामान्य नाम है, सम्पूर्ण भुवन उसी का आश्रय लेते हैं।

—४—

५—द्युलोक [सूर्य्यलोक] से परे, पृथिवी से परे, देवता [सौरदेवता] ओं से परे, असुरों [पारमेष्ठ्यआप्यप्राणात्मकअसुरों] से भी जो परे हैं, उस सर्वपर तत्व के आधारपर पानियोंनें अपने गर्भ में किसे प्रतिष्ठित किया, जिस आपोलोक में प्रतिष्ठित उस गर्भ में सम्पूर्ण देवता सम्मिलित है।

स्वयम्भूतत्व पृथिवी, सूर्य्य, परमेष्ठी इन सब से परे है। इस के आधार-पर आपोमय परमेष्ठी ही उस स्वायम्भुव वेदाग्नि को अपने गर्भ में धारण करता है। यही गर्भ आगे जाकर सोमाहुति से सूर्य्यरूप में परिणत होता हुआ देवताओं की निवासभूमि बनता है, जैसा कि-प्रथम मन्त्रार्थ से गतार्थ है।

—५—

६—उसी को पानियोंनें अपनें गर्भ में धारण किया, जहां (जिस गर्भ में) कि सम्पूर्ण देवता सम्मिलित हुए। अव्यय की जो नाभि (केन्द्र) है, उसी में यह गर्भ अर्पित है, जिस गर्भ के आधार पर कि सम्पूर्ण भुवन प्रतिष्ठित हैं।

सूर्य्य ही अप् का गर्भ है । यही सूर्य्य विश्व का केन्द्र माना गया है। इसी केन्द्र में षोडशी आत्मा का पूर्ण विकास होता है, अतएव सौरइन्द्र को षोडशी कहा जाता है। अज शब्द अव्यय का वाचक है। यह मनःप्राणवाङ्मय है। स्वयम्भू में केवल वाक्कला का, परमेष्ठी में प्राण-वाक् इन कलाओं का, किन्तु सूर्य्य में मन-प्राण-वाक् तीनों कलाओं का विकास है। अतएव गर्भरूप सूर्य्य को अज (अव्यय) की नाभि मान लिया गया है। छन्मूलासृष्टिविज्ञान के अनुसार यही विश्व की प्रतिष्ठा है।

—६—

७—वह (विश्वकर्म्मा प्रजापति) सर्वतः चक्षुरूप है, सर्वतः मुखरूप है, सर्वतः बाहु, एवं पादरूप है। अपने बाहुओ से वह विश्व का संगमन करता है, अपने पक्षों से वह संगमन करता है। अथवा बाहुरूपपक्षों से संगमन करता है। इसी व्यापार से द्यावाभूमि उत्पन्न करता हुआ वह एकदेव है।

विश्वकर्म्मा स्वयम्भू प्राणप्रधान है। यह प्राण "असत्"-"ऋषि" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। यह प्राण आगे जाकर चितियज्ञद्वारा सप्तपुरुषपुरुषात्मक बन जाता है। सात-प्राणो की समष्टि ही सप्तपुरुषपुरुषात्मक है, यही स्वयम्भू प्रजापति है। यही विश्व में सर्व से पहिले प्रतिष्ठारूप से प्रकट होता है, जैसा कि-"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा"-"ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। इस के अङ्गभूत सातप्राणों में चार आत्मा है, दो पक्ष हैं, एक पुच्छप्रतिष्ठा है। सातों का श्री (सार) भाग मस्तक है। यही सुपर्णचिति है; सुपर्ण पक्षी है। इस पक्षीरूप प्रजापति के बाहुरूप, किंवा पत्र (पंख) रूप जो दो पक्ष है, उन्हीं धमन से इस द्यावाभूमि का निर्म्माण हुआ है। कैसे हुआ है? इस का विवेचन शतपथविज्ञान-भाष्य (प्रथम-द्वि०) में देखना चाहिए।

—७—

८—ब्रह्मा (स्वयम्भू) सम्पूर्ण देवताओं में पहिले प्रकट हुए हैं। यह विश्वकर्त्ता, एवं सप्त-भुवनरक्षक हैं। इन्होंने सम्पूर्णविद्याओं की प्रतिष्ठारूप ब्रह्मविद्या (त्रयीविद्या) अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा में प्रतिष्ठित की।

स्वयम्भू त्रयीवेदमूर्त्ति है। इन से आगे के परमेष्ठी-आदि चारों प्रतिमाप्रजापतियों का विकास हुआ है, अतएव इन्हे हम स्वयम्भू के पुत्रस्थानीय मान सकते हैं। चारों में ज्येष्ठपुत्र आपोमय परमेष्ठी ही हैं, यही अथर्ववेद है। वह त्रयीमूर्त्ति ब्रह्मा—"सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्" के अनुसार इस में प्रविष्ट होजाता है। त्रयी का आगमन सर्वप्रथम आपोमय अथर्वा (परमेष्ठी) में ही होता है। यह मन्त्र अध्यात्म—अधिभूत—अधिदैवत तीनों भावों से सम्बन्ध रखता है, जैसा कि मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य में विस्तार से निरूपित है।

—८—

९—सम्पूर्ण भूतों में गूढ, घृत से परे मण्ड की तरह अतिसूक्ष्म, विश्व के एकमात्र आवपनरूप उस देव (स्वयम्भू) को जानकर प्राणी सम्पूर्ण मृत्युपाशों से विमुक्त होजाता है।

श्रुतिने घृत के दृष्टान्त से उस का वोध कराया है। "आदिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते" इस मन्त्रवर्णन के अनुसार घृत अप्तत्व है। परमेष्ठी आपोमय है। इस में मण्डरूप से वह स्वयम्भू प्रतिष्ठित है। घृत में अप्—तेज दो भाग हैं। वरुण से प्रतिमूर्च्छित इन्द्र जैसे तैल है, एवमेव वरुण से प्रतिमूर्च्छित अग्नि का ही नाम घृत है। अप्सम्बन्ध से घृत तरल है, यह प्रकट है। मूर्च्छित अग्नि निगूढ है, यही तेज है, इसी आधार पर—"तेजो वै आज्यम्" कहा जाता है। परमेष्ठी घृत है, तो निगूढ अग्निमूर्त्ति (त्रयीमूर्त्ति) स्वयम्भू तेजोरूप मण्ड है। यही घृत का सारभाग है।

—९—

१०—यह विश्वकर्म्मा देवता (अपने नियतिभाव से) सदा प्राणियों के हृदय में (अन्तर्य्यामी रूप से) प्रतिष्ठित रहता है। यह हृदय से, हृदयस्थ मननशीला बुद्धि से, तद्युक्त मन से ही सम्बन्ध रखता है। जो इसे जान जाते हैं, वे मृत्युपाश से विमुक्त होजाते हैं।

—१०—

११—हृत्कमलरूप, विरज, विशुद्ध, विशोक, विशद, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तमूर्त्ति, ब्रह्म-

योनिरूप, प्रशान्त, अमृत, शिवरूप इस प्रजापति का चिन्तन करने वाले (जन) मृत्युपाश से विमुक्त होजाते हैं।

—११—

१२—वही संचरकालरूप अहरागम में अपने अव्यक्तभाव से व्यक्तरूप में आता हुआ भुवन का रक्षक, अधिपति, एवं सम्पूर्ण भूतों में प्रविष्ट होजाता है। जिस में ब्रह्मर्षि, देवता युक्त हैं, उसे ऐसा जानकर विद्वान् अपने मृत्युपाशों को काट देता है।

—१२—

१३—(भूः–भुवः–स्वः यह महाव्याहृतिरूप) तीन पर (धाम) जिस की गुहाओं में (बस्ति गुहा–उरोगुहा–शिरोगुहाओं में) प्रतिष्ठित हैं, उसे जो जान जाता है, वही अपने पिता का स्वरूपविज्ञाता है। वही हमारा सब मे बड़ा हितैषी है। वही उत्पादक है, वही हमारी प्रतिष्ठा है, वही इन (पदरूप) सम्पूर्ण धामों का ज्ञाता है।

—१३—

१४—सप्तर्षिप्राण, सप्तअग्निज्वाला, सप्तसमिधा, सप्तजिह्वा, सप्तलोक, अध्यात्मसंस्था की शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, बस्तिगुहा, इन चार गुहाओं में प्रतिष्ठित (प्रत्येक में) सात सात देवजऋषिप्राण यह सब सप्तक उसी सप्तपुरुष पुरुषात्मक स्वयम्भू प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं।

—१४—

१५—(सृष्टिकामना के अनन्तर) वह अव्यक्त स्वयम्भू भगवान् सब कुछ व्यक्त करते हुए प्रकट हुए। यही (आकाशरूप होनें से) महाभूतों के आदिभूत हैं। वर्त्तुलवृत्त हैं। ऐसे यह असद्रूप तम को दूर करते हुए स्वयमेव प्रकट हुए। अतएव इन्हे स्वयम्भू कहा जाता है–"स्वयमुद्बभौ"।

—१५—

२—परमेष्ठी (प्रतिमाप्रजापतिः)।

स्वयम्भू प्रजापति को वेदमूर्त्ति बतलाया गया है। यह वेदतत्व ऋक्-साम-यजुः भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन में ऋक्-साम वयोनाध (छन्द-आयतन) हैं, यजु वय (वस्तु) है। इस यजु के यत्-जू दो विभाग हैं। यत् गतिरूप प्राण है, यही वायु है, जू स्थितिरूपा वाक् है, यही आकाश है। आकाश-वायु, किंवा-वाक्-प्राण, किंवा स्थिति-गति की समष्टि ही "यज्जू" है। यज्जू ही परोक्षभाषानुसार यजु है। (देखिए शत१०।३।५।२।)।

यजु का वाग्रूप आकाश अमृत-मर्त्य भेद से दो प्रकार का है। इन में अमृताकाश अमृत देवसृष्टि का प्रवर्त्तक है, एवं मर्त्याकाश मर्त्यभूतों का जनक है। प्राणवायु के व्यापार से यजुःपुरुष का यह मर्त्यावाकूरूप आकाश ही अंशरूप से द्रुत होकर पानी बन जाता है। जैसा कि 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्, वागेव साऽसृज्यत'' इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इस प्रकार वेदमूर्त्ति (त्रयीमूर्त्ति) स्वयम्भू के वाक्भाग से सर्वप्रथम अप्तत्त्व का ही विकास हुआ है। इसी अबुत्पत्ति का प्राथम्य बतलाते हुए श्रुत्यर्थानुगामिनी मनुस्मृति कहती है—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ (मनु० १।८)।

यह आपोमय मण्डल ही दूसरा परमेष्ठी प्रजापति है। इस में भी स्वयम्भूवत् आत्मा पद-पुनःपद ये तीन संस्थाए हैं। परमेष्ठीपिण्ड सूर्य्य से ऊपर है, इसी पिण्ड के चारों ओर सूर्य्यदेव परिक्रमा लगाया करते हैं। पुनःपदरूप से यही ऋतपरमेष्ठी सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी (पुण्डीरस्वयम्भू को भी) को अपने गर्भ में लिएहुए हैं। इसी महत्ता के कारण इन्हे **महानात्मा** कहा जाता है। भृगु-अङ्गिरा-अत्रि इन के ये तीन मनोता हैं। इसी समानता के कारण इन्हें स्वयम्भू की प्रतिमा माना गया है।

यही परमेष्ठी त्रिगुणमूर्त्ति बनकर त्रैगुण्यविश्व का संचालन कर रहे हैं। यही प्राधानिकों की अव्यक्त प्रकृति है। यही षोडशी पुरुष की योनि है, यही आकृति, प्रकृति, अहंकृति

भाव के जनक हैं। यही लोकसृष्टि के अधिष्ठाता हैं। यही स्थूलभूतों के आदि हैं। इन्हीं का स्वरूप बतलाते हुए निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं—

१—महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥ (श्वेता॰ ३।१२।)।

२—यो योनि योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत॥
(श्वेता॰ ५।२।)।

३—एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥
(श्वेता॰ ५।३।)।

१—यह महानात्मा (परमेष्ठी) सब का प्रभु है, (सब पुरुषों की योनि बनता हुआ) पुरुष है, सत्व [अव्यय] भाव का प्रवर्त्तक है। विशुद्ध सत्त्वरूपा जो पराशान्ति [अव्ययशान्ति] है, उस की प्राप्ति के प्रति यही महान् ईशान [समर्थ] है, जोकि शान्तिज्योतिर्म्मयी [ज्ञानमयी] एवं अव्ययरूपा है।

अव्ययात्मा महान् में ही गर्भधारण करता है। महत् पुर के सम्बन्ध से ही वह अज जन्मधारण करता है। वह इसी में प्रतिष्ठित है, अतः इसी के द्वारा उस की प्राप्ति हो सकती है, "मम योनिर्महद्ब्रह्म" इत्यादि स्मार्त्तसिद्धान्त भी उक्त श्रौतसिद्धान्त का ही अनुगमन कर रहे हैं।

—१—

२—जो (महानात्मा) प्रत्येक योनि का एकमात्र अधिष्ठाता है, जो सम्पूर्ण विश्वरूपों (आकृतिभावों), एवं योनियों (प्रकृतियों) की प्रतिष्ठा है। जो महानात्मा अपने आप से प्रसूत (स्वयम्भू) परमर्षि, विष्णु के अवतार कपिल को अपनी ज्ञानरश्मियों से युक्त करता है, एवं जो अपने से उत्पन्न विश्व को देखता है, वह अव्ययप्राप्ति का द्वार है।

कपिल प्राधानिक हैं, गुणवादी हैं। इस गुणज्ञान का त्रैगुण्य महान् से ही सम्बन्ध है। व्याख्याताओं नें कपिल को हिरण्यगर्भ का वाचक माना है। परन्तु सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कहीं भी कपिलशब्द हिरण्यगर्भ का वाचक नहीं देखा गया। कपिल सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति है। सांख्यप्रणेता कपिल शारीरकात्मा के अनुयायी बनते हुए प्रतिशरीरभिन्न चैतन्यवाद (ज्ञानवाद) के अनुयायी हैं। यह नानाज्ञाना धारा गुणत्रयी पर अवलम्बित है, एवं गुणत्रयी महान् पर अवलम्बित है। कपिल में जो भेदमूला ज्ञानधारा आई है, वह एकमात्र इस भेदक, विभिन्न ज्ञानमूर्त्ति महान् का ही अनुग्रह है।

—२—

३—इस क्षेत्र (विश्व एवं शरीर) में एक एक जाल को अनेक रूपों में परिणत कर यह देव (महानात्मा) अन्त में (सब का) अपने आपमें हीं संहार (लय) कर लेता है। संचर काल में पुनः प्रतिशरीरभिन्न शरीराभिमानी प्रजापतियों को उत्पन्न कर उन सब का ईश बनता हुआ यह महानात्मा सर्वाधिपति बन जाता है।

महानात्मा शुक्र की प्रतिष्ठा है। शुक्रगतमहान् ही सात पिण्डों तक जालरूप से वितत होता है। यही जालरूप तननभाव (सन्तानभाव) के विस्तार का कारण है। यही प्रजातन्तु की मूलप्रतिष्ठा है। प्रतिशरीर में जो पृथक् पृथक् चैतन्य (आत्म) भेद उपलब्ध हो रहा है, इस का भी अन्यतम ईश यही महानात्मा है। यही प्रजापति (आत्मा) को क्षेत्र भेद से अनन्तरूपों में विभक्त कर देता है। संहारकाल में यही सब का परायण बन जाता है।

—३—

३—सूर्य्यः (प्रतिमाप्रजापतिः)।

स्वयम्भू से आपोमय परमेष्ठी प्रादुर्भूत हुआ। इस के गर्भ में अपौरुषेयलक्षण वह त्रयी-ब्रह्म बीजरूप से प्रतिष्ठित हुआ। यही बीजाग्नि आगे जाकर उस पारमेष्ठ्यसमुद्र के गर्भ में

पारमेष्ठ्य सोमाहुति से प्रज्वलित होगया । यही सूर्य्य कहलाया । इसी को हिरण्यगर्भऋषिनें "हिरण्यगर्भ" नाम से विभूषित किया ।

इस में भी आत्मा पद-पुनःपद ये तीन संस्थाएं हैं । हृदयस्थभाव आत्मा है, सूर्य्यरूप प्रत्यक्षदृष्ट भौतिकपिण्ड पद है, सौरप्रकाशमण्डल पुनःपद है। पदात्मक सूर्य्य भूपिण्ड से ऊपर है, एवं यह सूर्य्य के चारो ओर परिक्रमा लगाया करता है । तथा महिमामय सौरमण्डल के गर्भ में सचन्द्रा समहिमा पृथिवी प्रतिष्ठित है । यही सूर्य्य रोदसी त्रिलोकी का अधिष्ठाता देवता है।

सूर्य्य साक्षात् क्षत्ररुद्र है । यह एकाकी है । सूर्य्य की अनन्त रश्मिएं विट्रुद्र हैं । यही धुद्रुम के अधस्तल में रहने वाले आगमसिद्ध दक्षिणामूर्त्तिशिव हैं । इस सूर्य्य के ज्योति, गौ, आयु ये तीन मनोता हैं । ज्योति ३३ हैं, इन से ३३ ज्योतिर्म्मय देवताओं का विकास होता है । गौ एक सहस्र हैं, इन से भूतो का विकास हुआ है । आयु ३६००० हैं, इन से शतायुआत्मा का विकास हुआ है । इस प्रकार यह भी परमेष्ठी की तरह स्वयम्भू की प्रतिमा बन रहे हैं । सौर अग्नि ही गायत्रीमात्रिक नाम के पौरुषेयवेद की प्रतिष्ठा है । इसी से संवत्सर-यज्ञ का विकास हुआ है। रोदसी त्रैलोक्य में जो कुछ है, सब की प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है, भूतज्योतिरूप से विश्व में सर्वप्रथम इसी का विकास हुआ है, अतएव इस सौर अग्नि को अग्नि कहा जाता है । इसीं तीसरे अधियज्ञात्मपर्व का दिग्दर्शन कराते हुए निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं।

१.—यस्मादर्वाक् संवत्सरो अहोभिः परिवर्त्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

२—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

३— विश्वरूप हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुद्यत्येष सूर्य्यः ॥

४—चित्रं देवानामुदगाच्चक्षुर्म्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
५—आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥
६—अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान् ।
शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्ट प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तः ॥

१—जिस के अर्वाक् भाग के अहोरात्रों से, किंवा अहर्गणों से संवत्सर घूमता रहता है, उस ज्योतियों की ज्योतिरूप, आयुरूप, एवं अमृतस्वरूपतत्त्व (हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध आदित्य पुरुष) की देवता लोग उपासना किया करते हैं ।

सूर्य्यदेव ब्रह्माण्ड के मध्य में है । अतएव इस में अमृत- मर्त्य दोनों भावों का समावेश हैं । इन में मर्त्यवाग्रूप ही सहस्र गौरूप में परिणत होकर अहर्गण स्वरूप में परिणत होता है । इन ३३ अहर्गणों से ही अहोरात्ररूप संवत्सरयज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है । संवत्सर उस का मर्त्यरूप है, यह अमृतात्मक सूर्य्य के अधोभाग में ही स्थित है ।

सूर्य्य के ज्योति-गौ आयु ये तीन मनोता बतलाए गए हैं । मन्त्रगत संवत्सरशब्द गौ मनोता का, ज्योतिभाग ज्योति का, एवं आयुशब्द आयुनामक तीसरे मनोता का सूचक है । एक ही संवत्सरयज्ञ इन तीन मनोताओं के सम्बन्ध से क्रमशः **ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम** इन तीन स्तोमयज्ञों में परिणत हो जाता है । सूर्य्य-चन्द्र-तारक-विद्युत्-अग्नि इन पांच ज्योतियों में मूलभूत ज्योति स्वज्योतिर्लक्षण सूर्य्य ही है, अतएव इसे **ज्योतिषां ज्योतिः** कहा गया है ।

—१—

२—इस त्रैलोक्य (रोदसी) में सब से पहिले हिरण्यगर्भ ही प्रकट हुए है । यही सम्पूर्ण भूतों का (रोदसी त्रैलोक्य के भूतों का) एकमात्र पति है । इसीनें भूः एवं द्यौ को धारण कर रक्खा है । इसी प्रजापति के लिए हम हविका विधान करते हैं ।

—२—

३—सर्वरूप (रोदसी त्रैलोक्यरूप) रश्मिद्वारा पार्थिव अन्न का हरण करने वाले, सम्पूर्ण प्रजा को ज्ञान देने के कारण जातवेदा नाम से प्रसिद्ध, त्रैलोक्य का परायण, त्रैलोक्य में एक ज्योतिरूप से तपते हुए इसी प्रजापति के आधार पर प्रजा जीवित है। अपनी सहस्ररश्मियों से अनेकधा व्याप्त, प्रजाओं का प्राणरूप सूर्य्य उदित हुआ है।

—३—

४—देवताओं की समष्टिरूप, मित्र–वरुण-अग्नि का चक्षुरूप सूर्य्य प्रकट हुआ है। यह रोदसी त्रैलोक्य के पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ तीनो लोकों में व्याप्त हो रहा है। ऐसा यह सूर्य्य स्थावर-जङ्गम प्रपञ्च का आत्मा है।

—४—

५—अपनी कालीकिरणों से युक्त, अमृत-मर्त्य भावों को यथास्थान व्यवस्थित करता हुआ, अपने सुनहरी (आग्नेय) रथ पर सवार होकर सविता देवता अपनी दृष्टि से त्रैलोक्य का अनुग्रह करता हुआ आरहा है।

—५—

६—अम्भ के पारस्थान में, भुवन के मध्य में, नाक के पृष्ठ पर प्रतिष्ठित महतो महीयान् सूर्य्यदेव शुक्रद्वारा ज्योतियों के गर्भ में प्रविष्ट होता हुआ प्रजापतिरूप से गर्भ में प्रतिष्ठित हो रहा है।

संयती त्रैलोक्य का समुद्र जहा **नभस्वान्** नाम से, क्रन्दसी त्रैलोक्य का समुद्र जहां **सरस्वान्** नाम से प्रसिद्ध है, वहां हमारी इस रोदसी त्रैलोक्य का समुद्र अर्णव नाम से प्रसिद्ध है। यही प्रकृत मन्त्र में "अम्भः" शब्द से अभिप्रेत है। सूर्य्य–पृथिवी दोनों के मध्य का आपोमय ऋत अन्तरिक्ष ही अर्णवसमुद्र है, इसी के आधार पर प्रथम मन्त्रोक्त संवत्सर का स्वरूप निष्पन्न होता है, जैसा कि– 'समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽजायत" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। इस के पारस्थान में (उस छोर में) ही अमृतात्मक सूर्य्यदेवता प्रतिष्ठित हैं।

पञ्चपर्वा भुवनों का मध्य यही सूर्य्यस्थान है, इसी अभिप्राय से "भुवनस्य मध्ये" कहा गया है। सप्तस्वर्गविज्ञान के अनुसार पृथिवी के १८–१९–२०–२१–२२–२३–२४–ये सात अहर्गण सप्तदेवस्वर्ग कहलाते हैं। इन में मध्य का २१वां पार्थिव अहर्गण "नाकस्वर्ग" कहलाता है। "एकविंशो वा इत आदित्यः" के अनुसार इस २१वे नाकपृष्ठ पर ही सूर्य्य प्रतिष्ठित है। मध्यस्थसूर्य्य ऊर्ध्वस्थित अमृतलोकों का (स्वयम्भू एवं परमेष्ठी का) अधोऽवस्थित मर्त्यलोकों का (चन्द्रमा एवं पृथिवी का) अनुग्राहक बनता हुआ सचमुच महतोमहीयान् है। जिस शुक्रात्मा का आगे निरूपण किया जाने वाला है, उस के साथ युक्त होकर यह सूर्य्य अग्नि-विद्युत-इन्द्र इन तीन ज्योतियों में परिणत होताहुआ सर्वभूतान्तरात्मा बन रहा है।

—६—

४—पृथिवी (प्रतिमाप्रजापतिः)।

पृथिवी सूर्य्य का ही उपग्रह है। इस में भी आत्मा–पद–पुनःपद ये तीन संस्थाएं है। हृदयभाव आत्मा है, भूपिण्ड पद है, महिमामण्डल पुनःपद है। इसी में समहिम चन्द्रमा एवं सूर्य्यपिण्ड प्रतिष्ठित हैं। इस के मनोता वाक्-गौ-द्यौ नाम से प्रसिद्ध है। इन तीन मनोताओं के सम्बन्ध से महिमा पृथिवी के भूः–भुवः–स्वः–ये तीन स्वरूप हो जाते हैं। पृथिवी पृथिवी है, सूर्य्य द्यौ है, मध्यस्थान अन्तरिक्ष है। स्वयम्भूसंस्थाओं से समानता रखने वाला यह पर्व भी अवश्य ही प्रतिमाप्रजापति कहा जासकता है। यही पार्थिवप्रजापति रोदसी त्रिलोकी की प्रतिष्ठा है। यही अध्यात्मसंस्था का प्राणात्मा है। अधिदैवतसंस्था में यही अन्नादमूर्त्ति महादेव है। जैसाकि तत् प्रकरण में जाकर स्पष्ट हो जायगा।

—०—

५—चन्द्रमाः (प्रतिमाप्रजापतिः)।

पृथिवी का उपग्रह चन्द्रमा है। इस में भी आत्मा-पद-पुनः-पद तीनों भाव प्रतिष्ठित हैं। इस के मनोता रेतः-श्रद्धा-यश नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं धर्म्मों से यह भी प्रतिमाप्रजापति ही

कहलाया है। यही विश्व का अन्तिमपर्व है। अन्तिम अधियज्ञात्मा है। स्थितिक्रम में यद्यपि चन्द्रमा विश्व का अन्त बनता हुआ निधनमूर्त्ति है, परन्तु पार्थिवप्रजा के उपयोग की दृष्टि से इसे सूर्य्य-पृथिवी के मध्य में मानते हुए सूर्य्य चन्द्रमा-पृथिवी यह क्रम माना गया है।

इस प्रकार पञ्चपञ्चजनाधिष्ठाता वह ब्रह्ममूर्त्ति अधियज्ञात्मा अपने प्राणप्रधान वेद, अप्प्रधान लोक, वाक्प्रधान देव, अन्नादप्रधान भूत, एवं अन्नप्रधान पशु नाम के पुरञ्जनों से क्रमशः स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-पृथिवी-चन्द्रमा इन पांच पर्वों में परिणत होरहा है। अमृत--ब्रह्म शुक्रमूर्त्ति अश्वत्थेश्वर ब्रह्मनाम का यही दूसरा (प्रकृतिलक्षण) आत्मव्यूह है। अधियज्ञात्मा अङ्गी है, स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि पांचों इस अंगी के अङ्ग हैं। इस प्रकार एक ही अधियज्ञात्मा पांच आत्मभावों में परिणत हो रहा है। ब्रह्मात्मा का यही संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है।
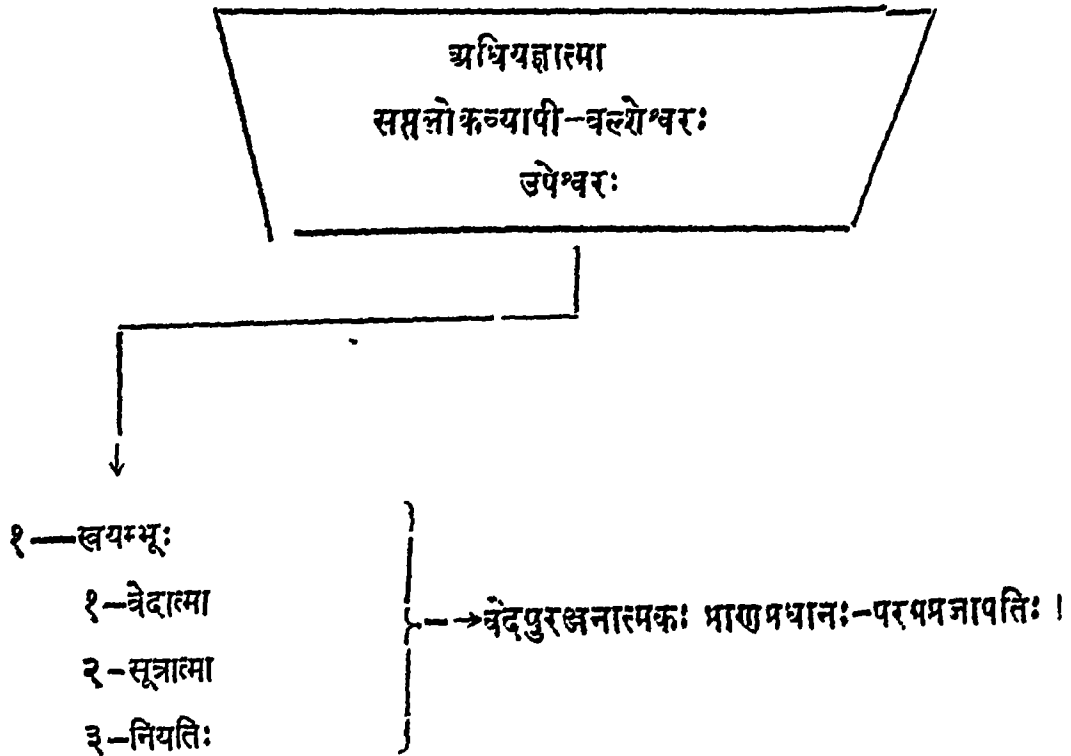
२—परमेष्ठी
- १—आकृत्यात्मा
- २—प्रकृत्यात्मा
- ३—अहंकृतिः

} —→ लोकपुरञ्जनात्मकः-अपप्रधानः-प्रतिमाप्रजापतिः

३—सूर्य्यः
- १—देवात्मा
- २—भूतात्मा
- ३—आत्मा

} —→ देवपुरञ्जनात्मकः-वाक्प्रधानः-प्रतिमाप्रजापतिः

४—पृथिवी } —→ भूतपुरञ्जनात्मकः-अन्नादप्रधानः प्रतिमाप्रजापतिः।

५—चन्द्रमाः } —→ पशुपुरञ्जनात्मकः-अन्नप्रधानः-प्रतिमाप्रजापतिः

स एष पञ्चपर्वा ब्रह्मात्मा द्वितीयो व्याख्यातः

—२—

इति—अधियज्ञात्मानिरुक्तिः

—घ—

ङ—सर्वभूतान्तरात्मनिरुक्तिः

॥ श्रीः ॥

ङ—सर्वभूतान्तरात्मनिरुक्तिः

अश्वत्थपुरुष का तीसरा विवर्त्त शुक्र है। शुक्रतत्व वाक्—आपः—अग्नि भेद से तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों का अन्नादमयी पृथिवी से सम्बन्ध है। अधियज्ञात्मा का पांचवां पर्व "भू" पिण्ड है। यह अन्नादाग्निमय है। इस अग्नि की अमृत—मर्त्य भेद से दो अवस्थाएं हैं। मर्त्याग्नि चित्याग्नि है, अमृताग्नि चितेनिधेयाग्नि है। मर्त्याग्नि से भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, एवं अमृताग्नि से महिमारूपिणी महापृथिवी की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है।

अधियज्ञात्मरूप ब्रह्मसत्यात्मा का सम्बन्ध रोदसी त्रिलोकी के साथ है एवं शुक्रमूर्त्ति, अतएव वैकारिक सर्वभूतान्तरात्मा का सम्बन्ध स्तौम्यत्रिलोकी नाम से प्रसिद्ध महापृथिवी से है। उस ओर चन्द्रमा, इस ओर भूपिण्ड, दोनों के मध्य में महापृथिवीरूप सर्वभूतान्तरात्मा, यही प्राकृतिक स्थिति है। महापृथिवी में क्रमशः वाक् आपः-अग्नि इन तीनों शुक्रों का भोग हो रहा है।

इस स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी के जगती, सागराम्बरा, मही, ये तीन रूप हैं। पृथिवी में ४८ अहर्गण हैं। इन में भूकेन्द्र से आरम्भकर ४८ वे अहर्गणपर्यन्त वाक्-शुक्र सर्वालम्बनरूप से प्रतिष्ठित है, जैसाकि "यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" इत्यादि मन्त्र-वर्णन से स्पष्ट है। इस वाक् का ब्रह्मा से सम्बन्ध है, अतएव वाक्शुक्र को हम ब्रह्मात्मकशुक्र कहेंगे। भूकेन्द्र से आरम्भ कर वाक् की अन्तिम सीमा (४८ वें अहर्गण) पर्य्यन्त पार्थिव-प्रपञ्च "मही" कहलावेगा। यही महतोमहीयान् वाङ्मय महापृथिवी मण्डल है।

भूकेन्द्र से आरम्भ कर ३३ वें अहर्गणपर्य्यन्त वःकूधरातल पर दूसरे आपःशुक्र का स्तर है। तदवच्छिन्ना (त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्ना) वही पृथिवी सागराम्बरा कहलावेगी। इस अप्तत्व का विष्णु से सम्बन्ध है। परमेष्ठी आपोमय है, एवं इस के देवता विष्णु हीं माने गए हैं। यही दूसरा आपोमय पृथिवीमण्डल है।

भूकेन्द्र से आरम्भ कर २१वे अहर्गणपर्य्यन्त आपस्तर पर तीसरे अग्निशुक्र का स्तर है। तदवच्छिन्ना (एकविंशस्तोमावच्छिन्ना) वही पृथिवी जगती कहलावेगी। इस अग्नितत्व का सम्बन्ध महादेव (रुद्र) से है। इस के उदर में ३३ सों देवता हैं, अतएव इन्हे अवश्य ही महादेव कहा जासकता है। "महोदेवो मर्त्यां आविवेश" के अनुसार यही महादेव जीवसंस्था का अध्यक्ष बनता है, जैसाकि आगे के जीवात्मव्यूह प्रकरण से स्पष्ट हो जायगा।

२१वें अहर्गण तक व्याप्त रहने वाले इस अग्नि की अग्नि-वायु-इन्द्र ये तीन अवस्थाएं होजातीं हैं। ९ वे तक अग्नि है, १५ वे तक वायु है, २१ वे तक इन्द्र है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ना जगती पृथिवी त्रिवृदग्नि के सम्बन्ध से पृथिवीलोक है, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्ना जगती पृथिवी पञ्चदश वायु के सम्बन्ध से अन्तरिक्षलोक है, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्ना जगती पृथिवी एकविंश इन्द्र, किंवा आदित्य के सम्बन्ध से द्युलोक है। इस प्रकार केवल अग्निशुक्र से सम्बन्ध रखने वाली २१ स्तोमावच्छिन्ना जगती पृथिवी में ही अग्नि की घन-तरल-विरलावस्थारूप अग्नि वायु-आदित्य के सम्बन्ध से तीन लोक होजाते हैं। यही सौम्यत्रिलोकी है।

अग्नि का पृथिवीलोक से, आपः का अन्तरिक्षलोक से एवं वाक् का द्युलोक से सम्बन्ध माना गया है। यह वैदिकी सामान्य परिभाषा है। आपः की अवस्थाविशेष (तरलावस्था) ही वायु है, अतएव वायु को भी अन्तरिक्षलोक का अध्यक्ष माना गया है। वाक्विकार ही इन्द्र है—"इन्द्रोवाक्"। क्योंकि पञ्चप्रकृतियों में तीसरी वाक्प्रकृति का तीसरे सौरइन्द्र के साथ ही सम्बन्ध बतलाया जाता है।

इस दृष्टि से अग्नि-आपः-वाक् इन तीनो शुक्रों का क्रमशः अग्नि-वायु-इन्द्र इन तीनों सौम्यत्रिलोकी के देवताओं के साथ सम्बन्ध सिद्ध होजाता है। इसी आधार पर त्रिवृदवच्छिन्न अग्निलोक को हम पृथिवीलोक, पञ्चदशावच्छिन्न (आपोमय) वायुलोक को अन्तरिक्षलोक, एवं एकविंशावच्छिन्न [वाङ्मय] इन्द्रलोक को द्युलोक कह सकते हैं। पार्थिवअग्नि के अतिरिक्त चित्य भौमअग्नि और है, जिसेकि हमनें अधियज्ञात्मा का चौथा पर्व बतलाया है। यज्ञपरिभाषानुसार इस पिण्डरूप भौम चित्यअग्नि को पुराणगार्हपत्याग्नि कहा जाता है, एवं त्रिवृद-

वच्छिन्न पार्थिव चितेनिधेय अग्नि को "नूतनगार्हपत्याग्नि" कहा जाता है। पञ्चदशावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य वायु को धिष्ण्याग्नि कहा जाता है, इस के (आठ नाक्षत्रिक नागों के सम्बन्ध से) आठ पर्व होजाते हैं। एवं एकविंशावच्छिन्न दिव्य इन्द्र को आहवनीयाग्नि कहा जाता है। इस प्रकार एक ही अग्नि के ११ भेद होजाते हैं। अग्नि का ही नाम महादेव, किंवा रुद्र है। इस के यही ११ रूप हैं।

पार्थिव अग्नि की अवान्तर आठ अवस्थाएं आठ वसु हैं, आन्तरिक्ष्य वायु की ११ अवान्तर अवस्थाएं (आन्तरिक्ष्य) ११ रुद्र हैं, एवं दिव्य आदित्य की अवान्तर १२ अवस्थाएं १२ आदित्य हैं। २ सान्ध्यदेवता नासत्यदस्र नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार एक ही रुद्राग्नि के आरम्भ में अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन, आगे जाकर ३३ विभाग होजाते हैं। यही ३३ देवता यज्ञसम्बन्ध से यज्ञियदेवता कहलाते हैं, जैसाकि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

"इति स्तुतासो असथा रिषादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च।
मनोर्देवा यज्ञियासः॥

अष्टवसुमूर्त्ति अग्नि अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से छन्दित है, एकादशरुद्रमूर्त्ति वायु एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द से छन्दित है, एवं द्वादशादित्यमूर्त्ति इन्द्र द्वादशाक्षर जगतीछन्द से छन्दित है। जगतीछन्द पर ही अग्निशुक्र की अन्तिम अवस्थारूप आदित्य की समाप्ति है, यहीं पृथिवी का २१ वां अहर्गण समाप्त है, अतएव हमनें एकविंशस्तोमावच्छिन्ना पृथिवी को जगतीपृथिवी कहा है। निष्कर्ष यही हुआ कि केवल एक ही अग्निशुक्र से जगतीसंस्था का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। एवं इस के अध्यक्ष भगवान् रुद्रदेवता हैं। साथ ही में इन में अग्नि वायु-इन्द्ररूप से अग्नि-आपः-वाक् तीनों शुक्रों का भी भोग होरहा है।

सौम्य त्रिलोकी में रहने वाले अग्नि-वायु-आदित्य इन तीनों देवताओं का परस्पर में यजन होता है। अग्नि में वायु-आदित्य की आहुति होती है। इस से वह अग्नि त्रैलोक्यव्यापक (सौम्यत्रैलोक्यव्यापक) बनता हुआ विराट् कहलाने लगता है, यही विराट्विष्णु अर्थशक्ति के अधिष्ठाता हैं, इन्हीं से त्रिलोकी की प्रजा का पोषण होता है। वायु में अग्नि

आदित्य की आहुति होती है। इस से वह वायु त्रैलोक्य व्यापक बनता हुआ हिरण्यगर्भ कह लाने लगता है। यही हिरण्यगर्भब्रह्मा क्रियाशक्ति के अधिष्ठाता हैं, इन्हीं से त्रिलोकी की प्रजा की उत्पत्ति होती है। आदित्य में अग्नि-वायु की आहुति होती है। इस से यह आदित्य त्रैलोक्य व्यापक बनता हुआ सर्वज्ञ कहलाने लगता है। यही सर्वज्ञशिव ज्ञानशक्ति के अधिष्ठाता हैं, इन्हीं से प्रजा का बन्धविमोक (मुक्ति) होता है। इस प्रकार तीनों देवताओं के पारस्परिक (तानूनप्त्र लक्षण) सर्वहुत यज्ञ से अग्निमूर्त्ति विष्णु, वायुमूर्त्ति ब्रह्मा, आदित्यमूर्त्ति शिव का विकास होजाता है। **तलवकारोपनिषत्** ने इसी त्रिमूर्त्ति का वैज्ञानिकस्वरूप हमारे सामने रक्खा है, जोकि **तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्य** में स्पष्ट है।

अग्निशुक्र का पृथिवीलोक से सम्बन्ध बतलाया गया है। इस अग्निशुक्र की व्याप्ति पूर्वकथनानुसार २१वें अहर्गणपर्यन्त है। इस दृष्टि से हम २१ तक व्याप्त रहने वाली सौम्य त्रिलोकीरूपा पृथिवी को पृथिवीलोक कह सकते हैं। इस के अधिष्ठाता भूतपति रुद्र, किंवा महादेव हैं। यही अर्थपति हैं, अन्नादाग्नि का भूतपुरञ्जन से ही सम्बन्ध है, एवं भूत का अर्थ से सम्बन्ध है। अतएव अर्थशक्ति के अधिष्ठाता महादेव को हम **भूतेश** कह सकते हैं। जगती पृथिवी के यही अन्यतम प्रभु हैं।

दूसरा अप्शुक्र है। इस की व्याप्ति ३३ वे अहर्गणपर्य्यन्त हैं। हमने कहा है कि, भूगर्भ से ३३ तक आपःशुक्र व्याप्त है। इस आपःशुक्र की **अग्नि-आपः-सोम** ये तीन अवस्थाएं होजाती हैं। २१ तक अग्निमय (ज्योतिर्म्मय) आपः की प्रधानता है, २७ तक विशुद्ध आपः की प्रधानता है, एव ३३ तक सोम की प्रधानता है। २२ से २७ तक व्याप्त रहने वाला आपः **"दिक्सोम"** कहलाता है, २८ से ३३ तक व्याप्त रहने वाला आपः **"भास्वरसोम"** नाम से प्रसिद्ध है। भास्वरसोम वाङ्मय है, दिक्सोम आपोमय है, ज्योतिर्म्मय आपः अग्निमयहै, इस प्रकार केवल आपः स्तर में हीं अग्नि-आपः-वाक् तीनों शुक्रो का उपभोग सिद्ध होजाता है। अग्निमय आपोयुक्त पार्थिवभाग (जगतीपृथिवी) आपःशुक्र का पृथिवीलोक है, आपोमय आपोयुक्त पार्थिवभाग आपःशुक्र का अन्तरिक्षलोक है, एवं वाङ्मय आपोयुक्त पार्थिवभाग आपःशुक्र का

१—स्तौम्यत्रिलोकी (अग्नित्रिलोकी)–"जगतीपृथिवी"–(महावेदि)

द्युलोक है। पृथिवीलोक के अध्यक्ष महादेव हैं, अन्तरिक्ष के अध्यक्ष विष्णु हैं, एवं द्युलोक के अध्यक्ष ब्रह्मा हैं। तीनों क्रमशः अर्थ-क्रिया-ज्ञानशक्तियों के अधिष्ठाता हैं। तीनों की समष्टि आपोमयी एक सागराम्बरा पृथिवी है। आपःशुक्रमयी केवल इस पृथिवी में भी जगतीपृथिवी की तरंह तीनों लोकों का उपभोग सिद्ध होजाता है। जैस कि आगे के परिलेख से स्पष्ट है—

तीसरा वाक्शुक्र है। इस का "मही" पृथिवी से सम्बन्ध है। इस पृथिवी के स्तोम "छ दोमास्तोम" नाम से प्रसिद्ध है। भूकेन्द्र से आरम्भकर ४८. वें अहर्गणपर्य्यन्त तीन छन्दोमा स्तोमों का भोग होरहा है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर २४ वें अहर्गणतक गायत्री-छन्द का उपभोग है। यही पहिला गायत्र नाम का छन्दोमास्तोम है। भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४४ वें अहर्गणपर्य्यन्त त्रिष्टुपछन्द का उपभोग है। यही दूसरा त्रैष्टुभ नाम का छन्दोमास्तोम है। एवं भूकेन्द्र से आरम्भकर ४८ वें अहर्गणपर्य्यन्त जगतीछन्द का उपभोग है। यही तीसरा जागत नाम का छन्दोमास्तोम है।

गायत्रीछन्द का अग्निशुक्रमय अग्नि से सम्बन्ध है, इस की व्याप्ति २४ पर्य्यन्त है, अग्नि का पृथिवीलोक से सम्बन्ध है, अतः इस प्रदेश को हम पृथिवीलोक कहसकते हैं। त्रिष्टुपछन्द का आपः शुक्रमय वायु से सम्बन्ध है, इस की व्याप्ति ४४ पर्य्यन्त है, वायु का अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है, अतः इस प्रदेश को अन्तरिक्षलोक कहा जासकता है। जगतीछन्द का वाक्शुक्रमय आदित्य से सम्बन्ध है, इस की व्याप्ति ४८ पर्यन्त है। आदित्य का द्युलोक से सम्बन्ध है, अतः इस प्रदेश को द्युलोक माना जासकता है। ४८-४४-२४ के संकलन से ११२ संख्या संपन्न होती है। इस छन्दोमास्तोम यज्ञ से (जोकि छन्दोमास्तोम युग्मस्तोम नाम से प्रसिद्ध है) मनुष्य ११२ वर्ष पर्यन्त अपने आयुसूत्र का वितान कर सकता है-(देखिए तै० ब्रा० ......)। तात्पर्य्य कहने का यह है कि केवल मही पृथिवी में भी त्रैलोक्य का भोग सिद्ध हो जाता है। २४ तक अग्निमयी वाक् है, ४४ तक आपोमयी वाक् है, एवं ४८ तक वाङ्मयी वाक् है। अग्निमयी वाक् अग्निशुक्र से, आपोमयी वाक् आपःशुक्र से एवं वाङ्मयी वाक् वाक्शुक्र से अनुगृहीत है। अग्निमयी वाक् महादेव है, यही अर्थ की विकासभूमि है। आपोमयी वाक्

विष्णु है, यही क्रिया का उद्भवस्थान है। एवं वाङ्मयी वाक् ब्रह्मा है, यही ज्ञान की आवासभूमि है। इस प्रकार केवल वाक्शुक्रमयी मही पृथिवी में भी (शुक्रत्रयी के उपभोग से) तीनों लोकों की सत्ता सिद्ध होजाती है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट है*—

एक ही महापृथिवी (महिमापृथिवी) के ४८ स्तोम हैं। इन में २१-३३-४८ इस क्रम से अग्नि-आपः-वाक् यह तीन शुक्र विभक्त हैं। तीनों क्रमशः भूः-भुवः-स्वः है। यही महास्तौम्य त्रिलोकी है। इस महास्तौम्य त्रिलोकी के तीनों लोक क्रमशः जगती—सागराम्बरा मही नाम से प्रसिद्ध हैं। तीनों के क्रमशः महादेव—विष्णु-ब्रह्मा ये तीन देवता अध्यक्ष हैं। आगे जाकर शुक्रत्रयी के त्रिवृद्भाव के कारण भूः-भुवः-स्वः तीनों में प्रत्येक में भूः-भुवः-स्वः ये तीन तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार महास्तौम्य त्रिलोकी के गर्भ में अवान्तर तीन स्तौम्य त्रिलोकिएं और हो जातीं हैं। इस त्रैलोक्य त्रिलोकीरूपा महास्तौम्य त्रिलोकी का एकमात्र महापृथिवी से सम्बन्ध है। एवं अन्नाद का भूतपुरञ्जन मे सम्बन्ध माना गया है। ऐसी दशा में हम विराट्मूर्त्ति विष्णु, सर्वज्ञमूर्त्ति शिव, एवं हिरण्यगर्भमूर्त्तिब्रह्मा इन तीनों देवताओं की समष्टिरूप इस भौतिक आत्मा को अवश्य ही "सर्वभूतान्तरात्मा" नाम से व्यवहृत करने के लिए तय्यार हैं।

सर्वभूतान्तरात्मा का स्वरूप शुक्रात्मक महादेव, विष्णु, ब्रह्मा से संपन्न हुआ है, दूसरे शब्दों में गायत्र अग्नि, त्रैष्टुभ वायु (आप), जागत आदित्य (वाक्) से संपन्न हुआ है, अतएव इसे हम देवसत्यात्मा कहने के लिए तय्यार हैं। देवसत्य की प्रतिष्ठा वही अश्वत्थवृक्ष की महापृथिवीरूपा शाखा का अग्रभाग है।

पञ्चपुण्डीरात्मिका वल्शा उस अश्वत्थ की एक शाखा है। इस शाखा का अग्रभाग महापृथिवी है। यहीं उक्त सर्वभूतान्तरात्मा प्रतिष्ठित रहता हुआ पार्थिवत्रिलोकी एवं त्रिलोकी में रहने वाली प्रजा का साक्षी बन रहा है। अतएव उपनिषदों में यह साक्षीसुपर्ण नाम से सम्बोधित हुआ

---

* इन सब विषयो का विशद विवेचन तीसरे खण्ड में आने वाले "भक्तियोगपरीक्षा" नामक प्रकरण के "विराट्स्वरूपनिरूपणप्रकरण" में होने वाला है।

२–सौम्यत्रिलोकी (अप्त्रिलोकी)–"सागराम्बरापृथिवी"

३–स्तौम्यात्रिलोकी (वाक्त्रिलोकी)–“मही”

छन्दोमा स्तोमः-जागतः ४८ →वाङ्मयी वाक्-ब्रह्मा-द्यौः

छन्दोमास्तोमः—त्रैष्टुभं—४४ →आपोमयी वाक्-विष्णुः-अन्त०

छन्दोमास्तोमः गायत्रः-२४ →अग्निमयीवाक्-महादेवः-पृथिवी

४८ ४७ ४६ ४५ ४४ ४३ ४२ ४१ ४० ३९ ३८ ३७ ३६ ३५ ३४ ३३ ३२ ३१ ३० २९ २८ २७ २६ २५ २४ २३ २२ २१ २० १९ १८ १७ १६ १५ १४ १३ १२ ११ १० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १

४४ ४३ ४२ ४१ ४० ३९ ३८ ३७ ३६ ३५ ३४ ३३ ३२ ३१ ३० २९ २८ २७ २६ २५ २४ २३ २२ २१ २० १९ १८ १७ १६ १५ १४ १३ १२ ११ १० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १

२४ २३ २२ २१ २० १९ १८ १७ १६ १५ १४ १३ १२ ११ १० ९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १

वाक्-ब्रह्मा-त्रैलोक्याधिष्ठाता [वाक्शुक्रम्]

“मही”-अष्टाचत्वारिंशत्स्तोमावच्छिन्ना।

*→भूः

है। महामायावच्छिन्न अश्वत्थपुरुष जहां महेश्वर नाम से, पञ्चपुण्डीरावलशा पर एकरूप से प्रतिष्ठित अधियज्ञात्मा उपेश्वर नाम से पांच पुण्डीरों में से स्वयम्भू नाम का आभूप्रजापति **परमेश्वर** (परमप्रजापति) नाम से, एवं शेष चारों पुण्डीर **प्रतिमेश्वर** (प्रतिमाप्रजापति) नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ-विराट्मूर्त्ति यह सर्वभूतान्तरात्मा "ईश्वर" नाम से प्रसिद्ध है। यही ईश्वर देवसत्य नाम से प्रसिद्ध हुआ है। देवसत्य की प्रतिष्ठा ब्रह्मसत्य है, ब्रह्म-सत्य की प्रतिष्ठा अमृतसत्य है, सब की प्रतिष्ठा परात्पर है। देवसत्य के ही ईश्वर-जीव भेद से दो विवर्त्त है। दोनों सयुक्सखा (जोड़लेमित्र) कहलाते हैं, जैसाकि आगे जाकर स्पष्ट होगा। आगे के परिलेख से सर्वभूतान्तरात्मा का (समष्ट्यात्मक) स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

त्रिपर्वा उक्त सर्वभूतान्तरात्मा का स्वरूप लक्ष्य में रख कर ही निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

२—अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्चवेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

३—समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

१—दो सुपर्ण (पक्षी) साथ रहने वाले अभिन्न मित्र हैं। एवं दोनों एक ही वृक्ष पर प्रतिष्ठित हैं। दोनों में एक फल का स्वाद ले रहा है, दूसरा विना खाए पीए उस स्वाद लेने वाले की चौकसी कर रहा है।

ईश्वरीय देवसत्य साक्षी है, द्रष्टामात्र है। जीव देवसत्य भोक्ता है। दोनों उस एक ही अश्वत्थ की महापृथिवीरूपा एक ही शाखा पर प्रतिष्ठित हैं। यह भूतात्मा है, वह सर्व-भूतान्तरात्मा है।

—१—

२—अग्नि उस का मस्तक है, चन्द्र-सूर्य्य नेत्र हैं, दिक्सोम श्रोत्रेन्द्रिय है, वाक्स्थानीय वाक् के विवर्त्तरूप वेद हैं, वायु प्राणेन्द्रिय है, प्रतिष्ठा विश्व (सौम्य त्रैलोक्यरूप पार्थिवविश्व) है। पृथिवी (भूपिण्ड) इस के पाद हैं। इन्हीं से प्रतिष्ठित रहता हुआ यह सर्वभूतान्तरात्मा बन रहा है।

पृथिवी से ही इस का स्वरूप संपन्न हुआ है। उधर पृथिवी भूतपुरञ्जन से सम्बन्ध रखती हुई भूतमयी है। इस से सम्बन्ध रखने वाला, इसी के त्रिदेवता से अपना स्वरूप निर्माण करने वाला पार्थिवत्रैलोक्याधिष्ठाता यह त्रिकल, शुक्रावच्छिन्न अतएव वैकारिक देवसत्यात्मा सर्वभूतान्तरात्मा ही कहा जायगा।

—२—

३—एक ही वृक्ष में प्रतिष्ठित यह जीवसुपर्ण अपने अंशीईश के ईशभाव से वञ्चित होता हुआ, अतएव मुग्ध होता हुआ, दुःख पारहा है। जब बुद्धियोग के प्रभाव से यह अपने से नित्ययुक्त उस ईश आत्मा को देखलेता है, तो उस की महिमा (भूमारूप आनन्द) को प्राप्त करता हुआ यह शोक से मुक्त होजाता है।

—३—

इस प्रकार अमृत-ब्रह्म-शुक्र भेद से एक ही मूलात्मा के आरम्भ में अमृतात्मा, ब्रह्मात्मा, शुक्रात्मा ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अमृत के दो भेद हैं, अतः चार विवर्त्त होजाते हैं। पहिला विवर्त्त परात्परात्मा है, दूसरा अमृतविवर्त्त पुरुषात्मा है, तीसरा ब्रह्मविवर्त्त प्राकृतात्मा है, एवं चौथा शुक्रविवर्त्त वैकारिकात्मा है। परात्परात्मा निगूढोत्मा है, पुरुषात्मा परमात्मा है, प्राकृतात्मा अधियज्ञात्मा है, वैकारिकात्मा सर्वभूतान्तरात्मा है। इस प्रकार ईश्वरीय आत्मवर्ग में प्रधान चार आत्मव्यूह हो जाते हैं।

परात्परात्मा नाम के पहिले अमृतात्मव्यूह के भूमात्मा, अणिमात्मा, भूमाणिमात्मा, ये तीन विवर्त्त हैं। परमात्मा नाम के दूसरे अमृतात्मव्यूह के अव्ययात्मा, अक्षरात्मा, क्षरात्मा,

एष—सर्वभूतान्तरात्मा

अग्निः—अग्निः	वायुः—आपः	आदित्यः—वाक्	दिक्सोमः	भास्वरसोमः	अन्तरिक्षम्—त्रिष्टुप् वायुः—आपः	आदित्यः वाक्	द्यौः—जगती
६-पृथिवी-विराट्-अर्थः गायत्री	१५-अन्तरिक्षं हिरण्यगर्भः क्रिया-त्रिष्टुप्	२१ द्यौः- सर्वज्ञः जगती	आपः-आपः	आपः-वाक्			

अग्नि—वायु—आदित्यात्मिका—स्तौम्यत्रिलोकी प्रथमा अग्निमयी—जगती पृथिवी—गायत्री महादेवः—विराट्—पृथिवी—अग्निः	अन्तरिक्षम् त्रिष्टुप् वायुः—आपः	द्यौः जगती आदित्यः—वाक्

अग्नि—वायु आदित्यात्मिका-(अग्नि-अप्-सोममयी-) स्तौम्यत्रिलोकी द्वितीया.
आपोमयी-सागराम्बरा पृथिवी-त्रिष्टुप्-विष्णुः-सर्वज्ञः-अन्तरिक्षम् वायुः

अग्नि—वायु-आदित्यात्मिका-[अग्नि-अप्-वाङ्मयी] स्तौम्यत्रिलोकी तृतीया-वाङ्मयी.
मही पृथिवी-जगती-ब्रह्मा-हिरण्यगर्भः-द्यौः-आदित्यः

एष सर्वभूतान्तरात्मा.

ये तीन विवर्त्त हैं। अधियज्ञात्मा नाम के तीसरे ब्रह्मात्मव्यूह के वेदात्मा (स्वयम्भू), लोकात्मा (परमेष्ठी), दैवात्मा (सूर्य्य), पशव्यात्मा (चन्द्र), भूतात्मा (पृथवी-भूपिण्ड) ये पांच विवर्त्त हैं। एवं सर्वभूतान्तरात्मा नाम के चौथे शुक्रात्मव्यूह के सर्वज्ञात्मा, हिरण्यगर्भात्मा विराडात्मा, यह तीन विवर्त्त हैं। इस प्रकार—३—३—५—३ इस क्रम से ४ आत्मवर्गों के अवान्तर १४ आत्मविवर्त्त हो जाते हैं। यही १४ आत्मलोक, किंवा प्राजापत्यलोक हैं। ईश्वर-प्रजापति अखण्ड परात्पर की दृष्टि से जहां एक आत्मा है, वहां अपने विज्ञानभाव से वह १४ आत्माओं का एक व्यूह है। १४ विवर्त्तों का यथावत् स्वरूप जाने बिना कभी जीवात्मतत्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

१—	अमृतम्	परात्परः	निगूढोत्मा	१—भूमात्मा, २-अणिमात्मा, ३-भू०अ०
२—	अमृतम्	पुरुषः	परमात्मा	१—अव्ययात्मा, २-अक्षरात्मा, ३-क्षरात्मा
३—	ब्रह्म	प्रकृतिः	अधियज्ञात्मा	१—वेदात्मा [स्वयम्भूः], २ लोकात्मा [परमेष्ठी], ३—दैवात्मा [सूर्य्यः], ४-पशव्यात्मा [चन्द्रः], ५—भूतात्मा [भूः]।
४—	शुक्रम्	वैकारिकः	सर्वभूतान्तरात्मा	१—सर्वज्ञः, २-हिरण्यगर्भः, ३-विराट्

इति—सर्वभूतान्तरात्मानिरुक्तिः

—ड—

च—जीवात्मव्यूहानिरुक्तिः

॥ श्रीः ॥

च—जीवात्मव्यूहनिरुक्तिः

"अंशोनानात्वात्" इस शारीरक सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा ईश्वरप्रजापति का अंश है। अंशी में जो धर्म्म होते हैं, अंश में वे ही धर्म्म रहते हैं। फलतः ईश्वरप्रजापति में जो आत्मविभाग हैं, उन सब का जीवप्रजापति में उपभोग सिद्ध होजाता है। इस के अतिरिक्त जीवसंस्था में कुछ धर्म्म ईश्वरप्रजापति की अपेक्षा से भी अधिक होजाते हैं। परिणाम इस आधिक्य का यह होता है कि, ईश्वरात्मव्यूह में जहां १४ आत्मविवर्त्त हैं, वहां जीवात्मव्यूह में १८ आत्मविवर्त्त होजाते हैं, जिन का कि कुछ आभास भूमिका प्रथमखण्ड के गीतानाममीमांसा प्रकरण में कराया जाचुका है।

ईश्वरसंस्था में अमृतवर्गीय आत्मा ६ हैं, ब्रह्मवर्गीय आत्मा ५ हैं, एवं शुक्रवर्गीय आत्मा ३ हैं, सम्भूय १४ आत्मविवर्त्त हैं, इधर जीवसंस्था में अमृतवर्ग, एवं ब्रह्मवर्ग में तो समानता है। अन्तर होता है वैकारिक शुक्रवर्ग में। इस के अवान्तर ९ विभाग होजाते हैं। इस प्रकार २० आत्मविवर्त्त होजाते हैं। यदि परात्परविवर्त्त को एक मान लिया जाता है, तो ईश्वरसंस्था में (४ अमृतवर्गीय, ५ ब्रह्मवर्गीय ३ शुक्रवर्गीय) यह १२ आत्मविवर्त्त रहजाते हैं, एवं इसी दृष्टि की अपेक्षा से जीवसंस्था में (४ अमृतवर्गीय, ५ ब्रह्मवर्गीय, ९ शुक्रवर्गीय) १८ आत्मविवर्त्त रहजाते हैं। इन सब आध्यात्मिक आत्मविवर्त्तों के यथार्थ स्वरूप परिचय के लिए तो ब्रह्मविज्ञानादि स्वतन्त्र ग्रन्थ ही मीमांस्य है। यहां उन आत्मविवर्त्तों के नाम मात्र उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त है।

१—अमृतात्मव्यूहः

जीवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाला षोडशी पुरुष ही अमृतात्मा है। इस के परात्पर-अव्यय अक्षर-क्षर ये ४ विवर्त्त बतलाए गए हैं। यदि विशुद्धरसमूर्त्ति आत्मतत्त्व को भी (जो कि रसात्मा

"निर्विशेष" नाम से प्रसिद्ध है) लक्ष्य बना लिया जाता है, तो अमृतात्मवर्ग के ५ विभाग होजाते हैं। इन में निर्विशेष रसमूर्त्ति है। "रसो ह्येव सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" के अनुसार यह रसमूर्त्ति निर्विशेष अवश्य ही "ऐकान्तिकसुख" (बलरहित विशुद्धरस) नाम से सम्बोधित किया जासकता है।

ऐकान्तिकसुखरूप (रसरूप वही निर्विशेष विशेषभावप्रवर्त्तक बलों से युक्त होता हुआ परात्पर कहलाने लगता है। सर्वबलविशिष्ट रस का ही नाम परात्पर है। यह सीमाभाव सम्पादक मायाबल से अतीत बनता हुआ विश्वातीत है। विश्वधर्म्म नाशवान हैं, परन्तु विश्वातीत परात्पर "शाश्वतधर्म्म" है। परात्पर के अनन्तर अव्ययपुरुष है। जीवात्मसंस्था में यही पर पुरुष है। इसी आध्यात्मिक परपुरुष (अव्यय) के धर्म्मों का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

> उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
> परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।। (गी० १३।२२) ।
> अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
> शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ।। (गी० १३।३१) ।

अव्यय के अनन्तर अक्षरपुरुष है। यह अव्ययपुरुष की अमृताप्रकृति है, अतएव इसे हम "अमृत" शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। अक्षर के अनन्तर आत्मक्षर प्रतिष्ठित है। अनुपसृष्ट ब्रह्मशब्द क्षर का वाचक है, यह पूर्व की दार्शनिक निरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। ऐसी दशा में हम अवश्य ही क्षर को ब्रह्मशब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। इस प्रकार रसरूप निर्विशेष, रसबलरूप परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर इन पांच अमृतवर्गीय आत्मविवर्त्तों को क्रमशः ऐकान्तिकसुख, शाश्वतधर्म्म, अव्यय, अमृत, ब्रह्म इन नामों से सम्बोधित किया जासकता है। इन पांचों आध्यात्मिक अमृतवर्गीय आत्मविवर्त्तों की प्रतिष्ठा वे ही आधिदैविक अमृतवर्गीय पांच विवर्त्त हैं। अंशी ही तो अंश की प्रतिष्ठा है। इसी आध्यात्मिक अमृतवर्गीय आत्मप्रपञ्च का विस्पष्ट शब्दों में निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ (गी० १४।२७।)।

भगवान् पांचो आत्मसंस्थाओं का सर्वथा पार्थक्य करते हुए कहते हैं कि मैं (ईश्वर-प्रजापति–अपने क्षरब्रह्मभाग से आध्यात्मिक) ब्रह्म (क्षरात्मा) की प्रतिष्ठा हूं, (अमृताक्षर भाग से आध्यात्मिक) अमृत (अक्षरात्मा) की प्रतिष्ठा हूं, (अव्ययभाग से आध्यात्मिक) अव्यय की प्रतिष्ठा हूं, (परात्पर भाग से आध्यात्मिक) परात्पर (शाश्वतधर्म्म) की प्रतिष्ठा हूं, एवं (निर्विशेष भाग से आध्यात्मिक) ऐकान्तिकसुख (निर्विशेष) की प्रतिष्ठा हूं।

उधर अद्वैतवादी व्याख्याता विज्ञानदृष्टि के अभाव से चकारद्वय को समुच्चयपरक मानते हुए उक्त आत्मविभाग को उस एक अद्वैतपरक लगारहे हैं। अस्तु व्याख्याताओं की लीला का जितना भी यशोगान किया जाय थोड़ा है। यहां हमें अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से ही विचार करना है। एवं इस दृष्टि से उक्त पांचों विवर्त्तों का पार्थक्य सर्वथा सुव्यवस्थित है। निर्विशेष सर्वथा तटस्थ है। परात्पर अभयात्मा है, अव्यय आलम्बनात्मा है, अक्षर नियन्तात्मा है, क्षर परिणम्यात्मा है। समष्टि अमृतात्मवर्ग है।

१—अमृतसत्यात्मा

१—निर्विशेषः—ॐ ऐकान्तिकः सुखः		
२—परात्परः—ॐ शाश्वतधर्म्मः		
३—अव्ययः—ॐ अव्ययः	→ अमृतवर्गः	
४—अक्षरः—ॐ अमृतम्		
५—आत्मक्षरः—ॐ ब्रह्म		

—(:)—

२—ब्रह्मात्मव्यूहः

ईश्वरीय अधियज्ञात्मा ही "ब्रह्मात्मा", किंवा प्राकृतात्मा है। इस के स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, भूः ये पांच विवर्त्त हैं। इन पांचों आधिदैविक अंशियों से आध्यात्मिक पांच अंशों का स्वरूप संपन्न होता है। स्वयम्भू का अंश अध्यात्म में—"शान्तात्मा" कहलाता है। परमेष्ठी का अंश अध्यात्म में "महानात्मा" नाम से, सूर्य्य का अंश 'विज्ञानात्मा" नाम से, चन्द्रमा का अंश "प्रज्ञानात्मा" नाम से, एवं भूपिण्ड का पाञ्चभौतिक अंश "शरीरात्मा"* नाम से प्रसिद्ध है। इन पांचों की समष्टि ही आध्यात्मिक ब्रह्मात्मा, किंवा अधियज्ञात्मा है। यही आध्यात्मिकी पञ्चपुण्डीरा (जीवप्रजापतिसम्बन्धिनी) प्राजापत्य वल्शा है।

१—शान्तात्मा

आकाशात्मक गुहारूप परोवरीण अव्यक्तात्मा ही शान्तात्मा है। इसी को अव्यक्तात्मा कहा जाता है। मुक्तिदशा में (पुरुषातिरिक्त) सम्पूर्णप्रपञ्च पहिले इसी शान्तात्मा में लीन होता है, जैसाकि निम्नलिखित मनुवचन से स्पष्ट है—

> यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
> यदा स्वपिति "शान्तात्मा" तदा सर्वं निमीलति ॥ मनुः १।५२।)।

* "आत्मा वै तनूः"।

आध्यात्मिक दहराकाश, हृदयाकाश, शरीराकाश तीनों की प्रतिष्ठा आकाशात्मक, सत्य-लोकात्मक यही अव्यक्त शान्तात्मा है। अध्यात्मिक वेदसृष्टि का अधिष्ठाता भी यही शान्तात्मा है। यह अपने वेदात्मा, सूत्रात्मा, नियति इन तीन रूपों से अध्यात्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्मात्मक बनता हुआ ही यह स्थितिरूप है, इस में कम्पन का अभाव है। अतएव इसे शान्तात्मा कहा गया है।

२—महानात्मा

आपोमय परमेष्ठी का गुणत्रयमूर्त्तिरूप महदंश ही महानात्मा है। शरीर की आकृति, इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्ति (प्रकृति), अहंभाव तीनों की प्रतिष्ठा यही महानात्मा है। शुक्र इस की प्रतिष्ठाभूमि है। यही प्रजातन्तुवितान का मूलकारण है। यही महानात्मा ८४ प्रकार के पितरप्राणों से युक्त रहता हुआ, सात पीढी तक समानरूप से वितत होता हुआ सप्तपुरुष पर्य्यन्त सापिण्ड्यभाव का कारण बनता है। इसी महानात्मा के लिए एकोद्दिष्ट, पार्वणादि श्राद्ध किए जाते हैं। सत्व-रज-तम की प्रतिष्ठा भी यही महानात्मा है।

३—विज्ञानात्मा

सूर्य्यांश ही विज्ञानात्मा है। इसी को दर्शनभाषा में बुद्धि कहा जाता है। यही बुद्धि विशेषभाव की प्रवर्त्तिका है। मनुष्यों में परस्पर जो बड़ा-छोटा, उत्तम-मध्यम-अधम भेद उपलब्ध होता है, उस का एकमात्र कारण यही विज्ञानात्मा है। विज्ञानात्मा विषय पर जाया करता है। विना भी विषय के स्वतन्त्र कल्पना किया करता है। इस के धर्म्म-ज्ञानादि आठ विवर्त्त हैं। प्रज्ञानात्मा (मन) के साथ यह नित्य संपरिष्वक्त रहता है। धर्म्म-अधर्म का इसी से सम्बन्ध है। इस के धर्म्माचरण से कर्म्मात्मा पुण्यात्मा बनता है, इस की अधर्म्मभावना से कर्म्मात्मा पापात्मा बनता है। यही यज्ञ की प्रतिष्ठा बनता हुआ सौरस्वर्गप्राप्ति का कारण बनता है।

४—प्रज्ञानात्मा

चान्द्रअंश ही प्रज्ञानात्मा कहलाता है। दर्शनभाषा में यही "मन" नाम से प्रसिद्ध है। सम्पूर्ण इन्द्रियों का अनुग्राहक बनता हुआ यह सर्वेन्द्रिय नाम से भी प्रसिद्ध है। चूंकि यह सब इन्द्रियों का सञ्चालक बनता हुआ स्वयं इन्द्रियमर्य्यादा से वहिर्भूत है, अतएव इसे अनिन्द्रिय मन भी कहा जाता है। बुद्धि की तरह यह विषय पर नहीं जाता, नहीं जासकता, अपितु विषय इस पर (इन्द्रियों के द्वारा) आते हैं। यही मन संकल्प (ग्रहण) विकल्प (परित्याग) का अधिष्ठाता है। यही विषयासक्ति बनता हुआ कर्म्मात्मा के बन्धन का कारण बनता है, एवं अनासक्तभाव से मुक्ति का कारण बनता है।

५—प्राणात्मा

पञ्चदेवतामयी, अन्नादप्रकृतियुक्ता पञ्चीकृता पृथिवी का ही अंश प्राणात्मा है। पार्थिव अन्नादप्राण अग्नि—वायु—आदित्य इन तीन भागों में विभक्त है। इस के गर्भ में दिक्सोम, भास्वरसोम नाम के दो सौम्यप्राण और समाविष्ट हैं। अन्नतत्त्व (सोमतत्त्व) अन्नादतत्त्व (अग्नितत्त्व) के गर्भ में आकर अन्नादरूप में परिणत होता हुआ अन्नाद शब्द का ही अधिकारी बन जाता है, जैसा कि—'**तद्यदा समागच्छतः, अत्तैवाख्यायते, नाद्यम्**" इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इस प्रकार अग्नित्रयी, सोमद्वयी के सम्बन्ध से एक ही पार्थिव अन्नादप्राण की पांच अवस्थाएं होजातीं हैं। पांचों का अव्यक्त एक प्राणात्मा (अन्नादात्मा) है। इन्हीं पांचों के अंश से अध्यात्मसंस्था में क्रमशः वाक् (अग्नि), प्राण (वायु), चक्षु (आदित्य), श्रोत्र (दिक्सोम), मन (भास्वरसोममय इन्द्रियमन) इन पांच इन्द्रिय प्राणों का विकास हुआ है। "**यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश**" के अनुसार यह पांचों इन्द्रियप्राण उस समष्टिरूप, किंवा अवयवीरूप उस अन्नादमय प्राणात्मा में अर्पित हैं। इन्द्रियवर्ग ही उस का मौलिक स्वरूप है। अतः प्राणात्मा को हम इन्द्रियात्मा भी कह सकते है।

इस प्राणात्मा का रोदसी त्रिलोकी से सम्बन्ध है । अन्नाद अग्नि है, अग्नि को ही रुद्र कहा जाता है । रुद्र सम्बन्ध से ही यह त्रिलोकी रोदसी कहलाई है । अतएव पुराणों में रोदसी रुद्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध है । पृथिवीलोक इस त्रिलोकी का भूः है, सूर्य्य लोक इस का स्वः है, पृथिवी एवं सूर्य्य का मध्याकाश इस का भुवः है । सूर्य्य से ऊपर चौथा आपोलोक है "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः" इसी के दिक्सोम-भास्वरसोम ये दो विभाग हैं । पांचों में क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्सोम-भास्वरसोम प्रतिष्ठित हैं । पांचों हीं भूतेशरुद्र के सम्बन्ध से भूताग्नि हैं । इन्हीं से प्राणात्मा का सम्बन्ध है ।

आगे बतलाए जाने वाले कर्म्मात्मा का भी अन्नाद से ही सम्बन्ध है, एवं प्राणात्मा का भी अन्नाद से ही सम्बन्ध है । दोनों का रोदसी-स्तौम्य भेद से सर्वथा पार्थक्य है । प्राणात्मा प्रकृति है, कर्म्मात्मा वैकारिक है । प्राणात्मा का ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध है, कर्म्मात्मा का देवसत्यरूप शुक्र से सम्बन्ध है । प्राणात्मा की स्वरूप निष्पत्ति रोदसी त्रिलोकी नाम की पार्थिवत्रिलोकी के पांच देवताओं से हुई है, एवं कर्म्मात्मा की स्वरूपनिष्पत्ति स्तौम्यत्रिलोकी नाम की पार्थिवत्रिलोकी से हुई है । दोनों भेदों को अवधानपूर्वक लक्ष्य में रखते हुए ही पाठकों को आत्मविवर्त्त पर दृष्टि डालनी चाहिए । केवल नामसाम्य से विरोध नहीं समझना चाहिए ।

निष्कर्ष यही हुआ कि, ईश्वरीयसंस्था के स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पांचों प्रकृतियों के प्रत्यंश से अध्यात्मसंस्था में क्रमशः शान्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानात्मा (बुद्धि), प्रज्ञानात्मा (मन), प्राणात्मा (इन्द्रिय) इन पांच प्राकृतात्माओं का स्वरूप संपन्न होता है । यही आध्यात्मिक आत्मव्यूह का ब्रह्मात्मवर्ग है । इसे ही ब्रह्मसत्यात्मा, किंवा "अधियज्ञात्मा" कहा जायगा।

२—ब्रह्मसत्यात्मा

१—शान्तात्मा—अव्यक्तम् (प्राणः)—ॐ स्वायम्भुवः	→ ब्रह्मात्मवर्गः (ब्रह्मसत्यात्मा)
२—महानात्मा—महान् (आपः)—ॐ पारमेष्ठ्यः	
३—विज्ञानात्मा—बुद्धिः (वाक्)—ॐ सौरः	
४—प्रज्ञानात्मा—मनः (अन्नम्)—ॐ चान्द्रः	
५—प्राणात्मा—इन्द्रियाणि(अन्नादः)—ॐ पार्थिवः	

रोदसी त्रैलोक्यम्

—— २ ——

३–शुक्रात्मा

इस शुक्रात्मा का स्तौम्य त्रिलोकी में प्रतिष्ठित अन्नादाग्नि से सम्बन्ध है। ईश्वरीय सर्वभूतान्तरात्मा का दिग्दर्शन कराते हुए पृथिवी के जगती-सागराम्बरा-मही ये तीन स्वरूप बतलाए थे। उन तीनो स्वरूपों को, एवं तीनो से सम्बन्ध रखनें वाले ईश्वरीय आत्मविवर्तों को सामने रखते हुए ही इस शुक्रात्मा पर दृष्टि डालनी चाहिए। जैसा स्वरूप, जो संस्थाक्रम उस सर्वभूतान्तरात्मा का है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम इस शुक्रमूर्ति भूतात्मा का है। वह साक्षी सुपर्ण था, यह भोक्ता सुपर्ण है। उस का स्वरूप भी अग्नि-वायु-इन्द्र के पारस्परिक वैकारिक यज्ञ से ही संपन्न होता है, एवं इस का स्वरूप भी इसी त्रिदेवमूर्त्ति से संपन्न हुआ है।

अग्नितत्त्व के त्रिवृद्भाव से इस वैकारिक शुक्रात्मा के ९ रूप होजाते हैं। इन सब का विशद वैज्ञानिक विवेचन आत्मनिरूपक ब्रह्मविज्ञानादि स्वतन्त्र ग्रन्थों में देखना चाहिए। यहां केवल इन के नाम उद्धृत कर दिए जाते हैं। वक्-आपः–अग्नि ये तीन शुक्र हैं। वाक्शुक्र का ४८ स्तोमावच्छिन्ना महीपृथिवी से सम्बन्ध है, आपःशुक्र का ३३ स्तोमावच्छिन्ना सागराम्बरा पृथिवी से सम्बन्ध है, एवं अग्निशुक्र का २१ स्तोमावच्छिन्ना जगती पृथिवी से सम्बन्ध है, जैसा कि पूर्व के सर्वभूतान्तरात्म प्रकरण में सपरिलेख बतलाया जाचुका है।

यह तीनों हीं अमृतशुक्र हैं । इन अमृतशुक्रों से ही महापृथिवीरूपा इस स्तौम्य त्रिलोकी का स्वरूप संपन्न हुआ है । इन्हीं की तीन मर्त्यावस्थाएं हैं । इन तीन मर्त्यशुक्रों से मर्त्य भूपिण्ड का स्वरूप संपन्न हुआ है । यज्ञभाषा में मर्त्यशुक्रमूर्त्ति भूपिण्ड को कृष्णाजिन कहा जाता है, एवं अमृतशुक्रमूर्त्ति महापृथिवी को पुष्करपर्ण कहा जाता है । चयनपरिभाषा में भूपिण्ड अषाढा नाम से, एवं महापृथिवी उखा नाम से प्रसिद्ध है । विज्ञानभाषा में भूपिण्ड चित्य नाम से, एवं महापृथिवी चितेनिधेय नाम से प्रसिद्ध है । दोनो में से पहिले चित्य भूपिण्ड का ही विचार कीजिए ।

भूपिण्ड के साथ वाक्-गौ द्यौ इन तीन मनोताओं का सम्बन्ध बतलाया गया है । शुक्र की अमृत-मर्त्य इन दो अवस्थाओं के कारण इन पार्थिव मनोताओं की भी दो अवस्थाएं होजातीं हैं । मर्त्यवाक् मनोता का मर्त्यअग्नि से, मर्त्यगौ मनोता का मर्त्य आपःशुक्र से, एवं मर्त्यद्यौ मनोता का मर्त्य वाक्शुक्र से सम्बन्ध है ।

पाठकों को यह जानकर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि, भूः-भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियों का भूपिण्ड से सम्बन्ध है, एवं पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीन लोकों का महापृथिवी से सम्बन्ध है । दोनों का पर्य्यायसम्बन्ध ऐकान्तिक विज्ञानदृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है । द्यौः—स्वः, अन्तरिक्ष—भुवः, पृथिवी भूः—को पर्य्याय माना नहीं जासकता । "दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इत्यादि मन्त्र में स्व की द्युलोक से पृथक् गणना ही इन के पर्य्याय सम्बन्ध को अशुद्ध बतला रही है । छओं का पार्थिवसंस्था में द्यौ—अन्तरिक्ष-पृथिवी-भूः-भुवः-स्वः यह क्रम समझना चाहिए ।

सब से ऊपर द्यौ का स्तर है । इस के गर्भ में अन्तरिक्ष का स्तर है । इस के गर्भ में पृथिवी का स्तर है । इस के गर्भ में भू का स्तर है । इस के गर्भ में भुवः का स्तर है । इस के गर्भ में स्वः प्रतिष्ठित है । द्यौ के साथ द्यौ नाम के अमृतमनोता, एवं वाक्नाम के अमृत—शुक्र का सम्बन्ध है । अन्तरिक्ष के साथ गौ नाम के अमृतमनोता, एवं आपःनाम के अमृत-

शुक्र का सम्बन्ध है। पृथिवी के साथ वाक् नाम के अमृत मनोता, एवं अग्नि नाम के अमृत शुक्र का सम्बन्ध है। भूः के साथ वाक् नाम के मर्त्य मनोता, एवं अग्नि नाम के मर्त्य शुक्र का सम्बन्ध है। भुवः के साथ गौ नाम के मर्त्य मनोता, एवं आपः नाम के मर्त्य शुक्र का सम्बन्ध है। स्वः के साथ द्यौ नाम के मर्त्य मनोता, एवं वाक् नाम के मर्त्य शुक्र का सम्बन्ध है।

भूपिण्ड का केन्द्र स्वर्लोक है। यहीं वाक्रूप मर्त्यशुक्र, एवं द्यौरूप मर्त्यमनोता प्रतिष्ठित है। यही पहिली ब्रह्मसंस्था है, इसी के लिए "प्रजापतिश्चरति गर्भे" यह कहा जाता है। आगे जाकर आपोमय स्तर है। यही भुवर्लोक है, इसी के लिए "अधोभुवनपातालं बलिसद्म-रसातलम्" कहा जाता है। यहीं आपोरूप मर्त्यशुक्र, एवं गौरूप मर्त्यमनोता प्रतिष्ठित हैं। यही दूसरी विष्णुसंस्था है। सर्वोपरि मृण्मय स्तर है। यही प्रतिष्ठालक्षण भूपिण्ड है, यही भूलोक है। यहीं अग्निरूप मर्त्यशुक्र प्रतिष्ठित है, एवं यहीं वाक्रूप मर्त्यमनोता प्रतिष्ठित है। यही तीसरी रुद्रसंस्था है।

भूपिण्ड को एवं महापृथिवी लक्षण स्तौम्य त्रिलोकी को पृथक् करनेवाला एमूषवराह नाम का वायु है। यह स्थिरवायु आवह-प्रवह-संवह आदि सात स्वरूप धारण कर भूपिण्ड के चारों ओर प्रतिष्ठित है। इस का एकमात्र कार्य है, भूपिण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना। विशकलनधर्म्मा अग्नि भूपिण्ड को विदीर्ण करना चाहता है, परन्तु वराहवायु के दृढतम वेष्टन से अग्नि ऐसा करने में असमर्थ है। अतएव वराह को भूपिण्डोद्धारक कहा जाता है। अतएव पुराणों में पृथिवी वराहपत्नी नाम से प्रसिद्ध है। घनता ही पृथिवी का स्वरूप है। इस घनता के प्रवर्त्तक, एवं रक्षक यही वराहप्रजापति है।

वराहधरातल से आरम्भ कर एकविंशस्तोमपर्य्यन्त पृथिवीलोक है। इस में वाक् नाम का अमृतमनोता, एवं अग्नि नाम का अमृतशुक्र प्रतिष्ठित है। यही पहिली रुद्रसंस्था है। त्रयस्त्रिंशस्तोमपर्य्यन्त अन्तरिक्षलोक है। इस में गौ नाम का अमृतमनोता, एवं आपः नाम का अमृतशुक्र प्रतिष्ठित है। यही दूसरी विष्णुसंस्था है। अष्टाचत्वारिंशस्तोमपर्य्यन्त

द्युलोक है। इस में द्यौ नाम का अमृतमनोता, एवं वाक् नाम का अमृतशुक्र प्रतिष्ठित है। यही तीसरी ब्रह्मसंस्था है। इन तीनों अमृतसंस्थाओं को ही पूर्व में हमनें जगती-सागराम्बरा-मही इन नामों से व्यवहृत किया है। जगती पृथिवी है, सागराम्बरा अन्तरिक्ष है, एवं मही द्यौ है। इन तीनों में भी अवान्तर त्रैलोक्यों का भोग होता है। इस प्रकार तीन त्रैलोक्यत्रिलोकिएं होजातीं हैं, जिन का कि पूर्व के ईश्वरीय प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है।

अमृतभाग दिव्य है, मर्त्यभाग भौतिक है। इस दिव्य-भौतिक भेद से पार्थिव आत्मा भी दो प्रकार का होजाता है। भूतात्मा का मर्त्य भूपिण्ड से सम्बन्ध है, एवं दिव्यात्मा का अमृतापृथिवी से सम्बन्ध है। मर्त्य-भौतिक पिण्ड में हमनें भूपिण्ड-एवं वायुस्तर ये दो विभाग बतलाए हैं। दोनों हीं भौतिक हैं। इन में से भूपिण्ड का प्रत्यंश शरीरात्मा है। एवं वायु का अंश हंसात्मा है। एक सांवत्सरिक परिक्रमा के अनन्तर शरीर में घनता उत्पन्न होती है। इस घनता के सूचक दांत है। उधर वायु का हमनें घनता से सम्बन्ध बतलाया है। यही कारण है कि, वायव्य हंसात्मा दन्तनिर्गमन काल में ही भौतिक शरीर में प्रविष्ट होता है। दांत निकलने से पहिले इस आत्मा का शरीर में आगमन नहीं होता। जब कर्म्मभोक्ता कर्म्मात्मा स्थूल शरीर को छोड़ देता है, तब भी हंसात्मा शरीर को तब तक नहीं छोड़ता, जब तक कि शारीरभूत प्रकृति के महाभूतों में नहीं मिल जाते। हंसात्मा को इसी बन्धन से विमुक्त करने के लिए आर्यसभ्यता ने शरीर का दाहसंस्कार आवश्यक माना है। दांत पैदा होने से पहिले हंसात्मा का आगमन नहीं होता, अतएव धर्म्मशास्त्र नें दन्तोत्पत्ति से पहिले शरीर जलाने का निषेध किया है। वक्तव्य यही है कि वाक्-आपः-अग्निमय, किन्तु वाक्प्रधान भूपिण्ड से शरीरात्मा (बाह्यात्मा) उत्पन्न हुआ है। यही अन्नमय पुरुष है। जब तक अन्नाहुति है, तभी तक इस की सत्ता है। अन्नोत्क्रान्ति में इस की उत्क्रान्ति है। चित्याग्नि ही इस का स्वरूप है। दूसरा आपः शुक्रमय हंसात्मा है। इन दोनों का भूपिण्डांश के साथ ही सम्बन्ध है।

अब दिव्य पृथिवी हमारे सामने आती है। इस के अग्नि-वायु-इन्द्र ये तीन विवर्त्त हैं। तीनो के साथ क्रमशः अग्नि-आपः-वाक् शुक्रों का सम्बन्ध हैं। इस शुक्रभेद से इस एक ही

दिव्यात्मा के अग्निप्रधान वैश्वानर, वायुप्रधान तैजस, एवं इन्द्रप्रधान प्राज्ञ तीन भेद हो जाते हैं। वैश्वानर धातुजीवों का, वैश्वानर-तैजस मूलजीवों का एवं वै. तै. प्राज्ञ जीवजीवों का आत्मा है। इस प्रकार एक ही दिव्यात्मा के अर्थप्रधान वैश्वानरात्मा, क्रियाप्रधान तैजसात्मा ज्ञानप्रधान प्राज्ञात्मा तीन विवर्त्त होजाते हैं।

इन्द्रमय प्राज्ञ आत्मा में ही सोम का सम्बन्ध होता है। चिदात्मा (ईश्वर) का अवतार यहीं होता है। इस प्राज्ञ आत्मा के ईश्वरजन्मा, ईश्वरांश, ईश्वराभिन्न, भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। वासनासंस्कारमय कर्म्ममूर्त्ति ईश्वरजन्मा प्राज्ञ कर्म्मात्मा है। ज्योतिर्लक्षण ज्ञानमय, ईश्वरांशप्राज्ञ चिदाभास है। एवं अर्थमय, ईश्वराभिन्न, सर्वशक्तिलक्षण प्राज्ञ ईश्वर है।

इस आध्यात्मिक ईश्वर के भी मनः-प्राण-वाक् भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। मनोमय ईश्वर विभूतिलक्षण है, प्राणमय ईश्वर ऊर्क् लक्षण है, एवं वाङ्मय ईश्वर श्रीलक्षण है। इन सब आत्मविवर्त्तों का यदि संकलन किया जाता है, तो शुक्रवर्ग में ९ आत्मविवर्त्त होजाते हैं।

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। शरीरात्मा वाग्जन्य है, भूतमय है। हंसात्मा अब्जन्य है, वायुमय है। दिव्यात्मा अग्निजन्य है, प्राणमय है। दिव्यात्मा के कर्म्मात्मा चिदात्मा, ईश्वर तीन विवर्त्त हैं। कर्म्मात्मा वासनामय है, ईश्वरजन्मा है। ईश्वर (सर्वभूतान्तरात्मा) की विराट् हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ ये तीन कलाएं बतलाई गई हैं। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूप कर्म्मात्मा इसी त्रिकल ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। चिदाभास ज्योतिर्मय है, ईश्वरांश है। ईश्वर शक्तिमय है, ईश्वराभिन्न है। यह ईश्वर सत्यात्मा, यज्ञात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, भेद से तीन भागों में विभक्त है।

प्राणाग्निमय, सप्तलोक शरीरमूर्त्ति (सप्तवितस्तिकाय) ब्रह्मा ही सत्यात्मा है। यही पहिली ईश्वरसंस्था है। वागग्निमय, हिरण्यगर्भशरीरमूर्त्ति विष्णु ही यज्ञात्मा है। यही दूसरी ईश्वरसंस्था है। अन्नादाग्निमय, मर्त्यत्रैलोक्य (रोदसी त्रैलोक्य) शरीरमूर्त्ति महादेव ही सर्वभूतान्तरात्मा है। यही तीसरी ईश्वरसंस्था है।

यह त्रिमूर्त्ति ईश्वर जीवशरीरपरिच्छिन्न बनता हुआ जीवात्मा पर अपनी ब्रह्मकला से ऊर्क्-भाव का; विष्णुकला से श्रीभाव का, एवं महादेवकला से विभूतिभाव का अनुग्रह करता है। जिन जीवात्माओं में ऊर्क्-श्री-विभूतिभाव देखे जाते हैं, उन पर ईश्वर का विशेष अनुग्रह समझना चाहिए।

उक्त ६ आत्मविवर्त्तों का वाक्-आपः-अग्नि इन तीन शुक्रों में हीं अन्तर्भाव है। अतएव इस आत्मवर्ग को हम "शुक्रात्मा कहने के लिए तय्यार हैं। यही वैकारिक आत्मवर्ग है। यही उस अश्वत्थवृक्ष का तीसरा वैकारिक "शुक्रपर्व" है। शुक्रात्मा के ६ विवर्त्त, ब्रह्मात्मा के ५ विवर्त्त, एवं अमृतात्मा के ४ विवर्त्त सम्भूय जीवात्मव्यूह में १८ आत्मविवर्त्त होजाते हैं। परमार्थतः—आत्मा एक है, व्यवहारतः आत्मा १८ हैं। जीव आत्मा नहीं है, अपितु आत्मग्राम है। विज्ञानसम्मत इन १८ आत्मविवर्त्तों की सम्यक् परीक्षा ही वैज्ञानिक आत्मपरीक्षा है।

भूपिण्डः——→वाक्
वायुस्तरः ——→आपः } — भूतमयी पृथिवी——→ततः शरीरात्मा, हंसात्मा च ।

महापृथिवी——→अग्निः }—प्राणमयी पृथिवी——→ततः दिव्यात्मा

१—शरीरात्मा—भूतमयः—वाक्शुक्रः (१)
२—हंसात्मा——वायुमयः—अप्शुक्रः (२)
*—दिव्यात्मा—अग्निमयः—अग्निशुक्रः (३)

---

३ —वैश्वानरात्मा—अग्निमयः—अग्निशुक्रः (१)
४— तैजसात्मा——वायुमयः—अप्शुक्रः (२)
*—प्राज्ञात्मा——इन्द्रमयः——वाक्शुक्रः (३)

५—कर्म्मात्मा—ईश्वरजन्मा—वासनालक्षणकर्म्ममयः (अग्निशुक्रः) (१)
६—चिदाभासः—ईश्वरांशः——ज्योतिर्लक्षण ज्ञानमयः (अप्शुक्रः) (२)
*—ईश्वरः——ईश्वराभिन्नः—सर्वशक्तिलक्षणार्थमयः (वाक्शुक्रः) (३)

७—प्राणमूर्त्तिरीश्वरः—ऊर्ग्लक्षणः (१) (अप्शुक्रः)
८—वाङ्मूर्त्तिरीश्वरः——श्रीलक्षणः (२) (अग्निशुक्रः)
९—मनोमूर्त्तिरीश्वरः—विभूतिलक्षणः (३) (वाक्शुक्रः)

प्रकारान्तरेण

३—	१—शरीरात्मा—वाग्जन्यः—भूतमयः			—भूतात्मा
	२—हंसात्मा—अब्जन्यः—वायुमयः			
	३—दिव्यात्मा—अग्निजन्यः—प्राणमयः			
३—	१—कर्म्मात्मा—वासनामयः—ईश्वरः (अग्निः)			—जीवात्मा
	२—चिदाभासः—ज्योतिर्म्मयः—ईश्वरांशः (आपः)			
	३—ईश्वरः—शक्तिमयः—ईश्वराभिन्नः (वाक्)			
३—	१—सत्यात्मा	(ब्रह्मा)—ऊर्जं प्रवर्त्तयति	(वाक्)	-ईश्वरात्मा
	२—यज्ञात्मा	(विष्णुः)—श्रियं प्रवर्त्तयति	(आपः)	
	३—सर्वभूतान्तरात्मा	(महादेवः)—विभूतिं प्रवर्त्तयति	(अग्निः)	

वैज्ञानिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला आत्मपरीक्षा प्रकरण समाप्तप्राय है। अवश्य ही उक्त आत्मव्यूह के परिज्ञान से आत्मसम्बन्धी सारे सन्देह दूर हो जाते हैं। हमारे गीताशास्त्रने इन आत्मविवर्त्तों का संकेतरूप से दिग्दर्शन कराते हुए उस अव्ययतत्व पर विश्राम किया है। सभी उपनिषत् अव्ययप्राप्ति को, (किंवा अव्यय समकक्ष, तदभिन्न परात्पर को) मुख्य लक्ष्य बनाते हैं। इस दृष्टि से सभी आत्मशास्त्र अभिन्नार्थक हैं। परन्तु मार्ग भिन्न भिन्न हैं। किसीनें प्रज्ञान के द्वारा, किसीने विज्ञान के द्वारा, किसीनें महान् के द्वारा लक्ष्य पर पहुंचाया है, जैसाकि उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका में विस्तार से निरूपित हुआ है। उदाहरण के लिए कठोपनिषत् को ही लीजिए। इसने भोक्तात्मा नामक कर्म्मात्मा के द्वारा लक्ष्यप्राप्ति का उपाय बतलाया है। भोक्तात्मा एक यात्री है। शरीर रथ है। इतर खण्डात्मा मार्ग है।

प्राज्ञरूपकर्म्मात्मा का कर्त्तव्य है कि वह पहिले अपनी वाणी और मन का संयम करे। मन का ज्ञानात्मा (विज्ञानात्मा—बुद्धि) में, ज्ञानात्मा का महानात्मा में, महानात्मा का शान्तात्मा

में संयम करे। इस प्रकार वाक् (इन्द्रियरूप प्राणात्मा), मन (प्रज्ञात्मा), विज्ञानात्मा, महानात्मा, शान्तात्मा इन पांचों प्राकृतात्माओं में क्रमशः आरूढ़ होता हुआ शुक्रमूर्त्ति कर्म्मात्मा उस पुरुषात्मा को अपना लक्ष्य बनावे। इन्हीं पांचों प्राकृतात्माओं का विस्पष्ट निरूपण करते हुए ऋषि कहते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्तआत्मनि॥
[कठ० १।३।१३।]।

इसी प्रकार इसी उपनिषत् नें अन्यत्र भी इसी आत्मभेद का स्पष्टीकरण किया है। शरीरात्मा कर्म्मात्मा का आयतन है। शरीर में प्रतिष्ठित कर्म्मात्मा इन्द्रियों के द्वारा अर्थसंचय करता है। सञ्चित अर्थों का प्रज्ञानात्मा (मन) के साथ सम्बन्ध होता है। प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मा में, विज्ञानात्मा महानात्मा में, महानात्मा अव्यक्तात्मा में, अव्यक्तात्मा पुरुषात्मा में अर्पित है। यही जीवात्मा की पराकाष्ठा है। इस प्रकार शरीर में प्रतिष्ठित शुक्रमूर्त्ति कर्म्मात्मा इन्द्रिय लक्षण प्राणात्मा, तद्युक्त अर्थ, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त इन का क्रमशः तरण करता हुआ उस पुरुषात्मा को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इसी क्रमिक आत्मधारा का विस्पष्ट दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः॥
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥१॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः॥२॥
[कठ० १।३।१०-११-]।

विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञात्मा है, यही कारयिता है। प्राज्ञलक्षण कर्म्मात्मा कर्म्मकर्त्ता है, यही भूतात्मा है। वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्ति कर्मात्मा ही जीवात्मा है। परन्तु इस का जीवत्व महानात्मा पर ही अवलम्बित है। महान् ही चिदंश की योनि है। अतः हम इस महानात्मा को ही

जीवात्मव्यूहः

१—अमृतम्	परात्परः	१—अभयात्मा (१)
२—अमृतम् तदेवामृ	पुरुषः तमुच्यते	१—अव्ययः—आलम्बनात्मा (२) २—अक्षरः—नियन्तात्मा (३) ३—क्षरः—परिणामात्मा (४)
३—ब्रह्म तद्	प्रकृतिः ब्रह्म	१—शान्तात्मा (अव्यक्तम्) (५) २—महानात्मा (महान्) (६) ३—विज्ञानात्मा (बुद्धिः) (७) ४—प्रज्ञानात्मा (मनः) (८) ५—प्राणात्मा (इन्द्रियाणि) (९)
४—शुक्रम् तदेव	वैकारिकः शुक्रम्	१—शरीरात्मा (१०) २—हंसात्मा (११) ३—वैश्वानरात्मा (१२) ४—तैजसात्मा (१३) ५—कर्मात्मा (१४) ६—चिदाभासः (१५) ७—सत्यात्मा (१६) ८—यज्ञात्मा (१७) ९—सर्वभूतान्तरात्मा (१८)

जीवात्मा कहेंगे । विज्ञानात्मा [क्षेत्रज्ञात्मा], जीवात्मा [महानात्मा] दोनों [प्रज्ञान मन के द्वारा] भूतभाग से युक्त होकर उस कर्म्मात्मरूप भूतात्मा को कर्म्मभोग के लिए ततद्योनियों में लेजाया करते हैं । महान्-क्षेत्रज्ञ युक्त भूतात्मा ही पाप-पुण्य, अधर्म-धर्म्म संस्कारों का अधिकारी है । इसीलिए धर्मशास्त्रनें इन तीन आत्मविवर्त्तों को ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाना उचित समझा है, जैसा कि निम्न लिखित मनुवचनों से स्पष्ट है—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ॥
यः करोति तु कर्म्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥१॥
जीवसंज्ञोऽन्तरात्मन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ॥
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥२॥
तावुभौ भूतसपृक्तौ महान्–क्षेत्रज्ञ एव च ॥
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥३॥

यह तो हुआ इतर शास्त्रों का विचार । अब स्वयं गीताशास्त्र का अन्वेषण कीजिए । गीता को हमने सर्वशास्त्र कहा है । इस कथन का मुख्य हेतु यही है कि, गीतानें प्रायः सभी आत्मविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराते हुए अव्ययप्राप्ति का उपाय बतलाया है । आत्मसम्बन्ध में जो कुछ विजिज्ञास्य है, वह सब कुछ एकमात्र गीताशास्त्र ही गतार्थ है सब से पहिले अमृतात्मा को ही लीजिए । अमृतात्मा के रसरूप निर्विशेष, रसबलरूप परात्पर, अव्यय अमृताप्रकृति रूप अक्षर, ब्रह्मरूप क्षर यह पांच विवर्त्त बतलाए गए हैं । पांचों का गीता में एक ही स्थान में निरूपण हुआ है । देखिए ?

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्यच ॥

यह तो हुआ समष्टिरूप से अमृतात्मा का दिग्दर्शन । अब व्यष्टिरूप से विचार कीजिए । व्यष्टिभाव में निर्विशेष, एवं परात्पर का निरूपण नहीं किया जा सकता ! कारण व्यष्टि का मायापरिच्छेद से सम्बन्ध है, एवं निर्विशेष परात्पर दोनों हीं मायातीत बनते हुए व्यष्टि

से पृथक् हैं । अतएव गीताशास्त्रनें अमृतात्मा के अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीन विवर्त्तों का ही व्यष्टिरूप से निरूपण किया है, जैसा कि निम्न लिखित कुछ एक वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—अव्ययात्मा (अमृतात्मा)

ईश्वराव्ययः १—ऊर्ध्वमूलमधशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥
२—गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं वीजमव्ययम् ॥
३—तपाम्यहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥

जीवाव्ययः ४—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥
५—अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
६—नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

२—अक्षरात्मा

१—येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलंध्रुवम् ॥
२—अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः ॥

३—यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

४—ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम्॥

५—अव्यक्तोऽक्षर इत्याहुस्तमाहुः परमांगतिम॥

६—अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

३—क्षरात्मा

१—अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

२—अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत!।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

४—षोडशी पुरुषात्मा

१—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरएव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

२—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

—==*×*==—

२—ब्रह्मात्मा

१—मम योनि र्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

२—सर्व योनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

—==❀==—

१—महानात्मा

१—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

—===×=*=×===—
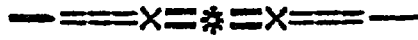
अव्यक्त-महान् दोनों चिदात्म (पुरुष) कोटि में अन्तर्भूत है । महान् अव्यक्त का ही रूपान्तर (व्यक्तीभाव) है । यही अव्ययगर्भित महान् चिदात्म की योनि है । अतएव भगवान् नें बुद्धि से परे उसे ही मान लिया है । साथ ही में भगवान् का मुख्य उद्देश्य बुद्धियोग है । वे बुद्धि द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार मानते हैं । अतएव "यो बुद्धेः परतस्तु सः" इत्यादिरूप से वे बुद्धि से परे रहने वाले महान् एवं अव्यक्त का पर पुरुष में अन्तर्भाव मान रहे हैं, जैसाकि तत्श्लोकभाष्य में स्पष्ट हो जायगा ।

इस प्रकार प्रायः सभी आत्मविवर्त्तों का वैज्ञानिक स्वरूप बतलाता हुआ, अव्ययात्मा को मुख्य लक्ष्य बनाता हुआ, बुद्धियोग द्वारा उस की प्राप्ति का उपाय बतलाता हुआ गीता–शास्त्र अवश्य ही दर्शनशास्त्र की अकृत्स्नता पूरी करने वाला एक स्वतन्त्र कृत्स्नशास्त्र है । सम्यग्दर्शन का काम जहां दर्शनशास्त्र करता है, वहां सम्यग्दर्शन के साथ साथ सम्यक्ज्ञान, एवं सम्यक्चारित्र्य का स्वरूप बतलाता हुआ गीताशास्त्र बन्धनविमोक का अपूर्व प्रतिपादकशास्त्र बन रहा है ।

आत्मा के दार्शनिक, एवं वैज्ञानिक स्वरूप के जाने विना गीतार्थ का समन्वय कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है । इसी विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए पाठकों के